सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध—१०

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा

डाक्टर आफ़ ओरियंटल कलचर (काशी)

साहित्य-वाचस्पति (प्रयाग)

—:०:—

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक और पुस्तकविक्रेता

इलाहाबाद

सन १९५०

द्वितीय संस्करण २०००]

मुद्रक—बटलराम जायसवाल,
राम प्रिंटिंग प्रेस, कीटगंज,
इलाहाबाद ।

उत्तरकाण्ड-उत्तरार्द्ध

की

विषयानुक्रमणिका

इक्यावनवाँ सर्ग ५५७-५६३

श्रीराम जी का, मर्त्यलोक में अवतार ग्रहण करने का दुर्वासा का बतलाया हुआ कारण, जो सुमंत्र ने लक्ष्मण जी को मार्ग में बतलाया था।

बावनवाँ सर्ग ५६३-५६८

लक्ष्मण जी का लौट कर अयोध्या में आगमन और श्रीरामचन्द्र जी को, सीता को वन में छोड़ आने की सूचना देना तथा शोकविह्वल श्रीरामचन्द्र जी को धीरज बँधाना।

त्रेपनवाँ सर्ग ५६८-५७४

राजधर्म के प्रसंग में श्रीरामचन्द्र जी का राजधर्म-पालन में शिथिल राजा नृग का उपाख्यान सुनाना।

चौवनवाँ सर्ग ५७४-५७८

राजा नृग का उपाख्यान।

पचपनवाँ सर्ग ५७८-५८३

महाराज निमि का उपाख्यान।

छप्पनवाँ सर्ग ५८३-५९०

महाराज निमि और वसिष्ठ जी का उपाख्यान।

सत्तावनाँ सर्ग ५९०—५९५

महाराज निमि और वशिष्ठ जी के आख्यान का अवशिष्टांश।

अट्ठावनवाँ सर्ग ५९५—६०१

राजा ययाति का आख्यान।

उनसठवाँ सर्ग ६०१—६०६

राजा ययाति के आख्यान का अवशिष्टांश।

प्रक्षिप्त तीन सर्ग

प्रथम प्रक्षिप्त सर्ग ६०७—६१३

श्रीरामचन्द्र जी की कचहरी में फरियादी कुत्ते के अभियोग का विचार।

द्वितीय प्रक्षिप्त सर्ग ६१३—६२५

कुत्ते को मारने वाले ब्राह्मण का बयान और अभियोग का फैसला।

तृतीय प्रक्षिप्त सर्ग ६२५—६३९

महाराज श्रीरामचन्द्र जी के न्यायालय में एक गीध बनाम उल्लू के अभियोग पर विचार।

साठवाँ सर्ग ६४०—६४४

यमुनातटवासी कतिपय ऋषियों का श्रीअयोध्या में आगमन और महाराज श्रीरामचन्द्र जी से उनकी भेंट।

इकसठवाँ सर्ग ६४४—६५०

महर्षि च्यवन द्वारा मधु का वृत्तान्त और लवणासुर के अत्याचारों का निरूपण और लवणासुर से ऋषियों की रक्षा करने की प्रार्थना।

बासठवाँ सर्ग ६५०—६५४

लवणासुर के वध की प्रतिज्ञा और लवणासुर का वध करने के लिये महाराज श्रीरामचन्द्र जी की ओर से शत्रुघ्न जी की नियुक्ति।

त्रेसठवाँ सर्ग ६५५—६६१

लवणासुर के राज्यासन पर श्रीरामचन्द्र जी द्वारा शत्रुघ्न जी का राज्याभिषेक। शत्रुघ्न को लवणासुरवध के लिये श्रीरामचन्द्र जी से एक बाण विशेष की तथा लवणासुरवध सम्बन्धी आदेशों की उपलब्धि।

चौसठवाँ सर्ग ६६१—६६६

शत्रुघ्न की रणयात्रा।

पैसठवाँ सर्ग ६६६—६७४

शत्रुघ्न का वाल्मीकि जी के आश्रम में निवास और उनसे वार्तालाप। राजा कल्माषपाद का उपाख्यान।

छियासठवाँ सर्ग ६७४—६७८

सीता जी के गर्भ से दो राजकुमारों का जन्म। भगवान् वाल्मीकि द्वारा नवजात राजकुमारों का जातकर्म, नामकरणादि। शत्रुघ्नजी का, वाल्मीकि आश्रम से प्रस्थान।

सरसठवाँ सर्ग ६७८—६८४

मार्ग में शत्रुघ्न और च्यवन ऋषि का वार्तालाप। लवण का एक पुरातन वृत्तान्त।

अड़सठवाँ सर्ग ६८४—६८६

शत्रुघ्न और लवणासुर का आमना सामना और परस्पर वीरोचित कथोपकथन।

उनहत्तरवाँ सर्ग ६८६—६९८

लवणासुर और शत्रुघ्न का युद्ध। लवणासुर का शत्रुघ्न के हाथ से वध।

सत्तरवाँ सर्ग ६९८—७०२

लवणासुर का वध करने के लिए देवताओं का शत्रुघ्न जी की प्रशंसा करना और उनका माँगा हुआ उनको वरप्रदान। वर के अनुसार मथुरापुरी का बसाया जाना।

इकहत्तरवाँ सर्ग ७०२—७०८

मथुरापुरी में बारह वर्ष रह चुकने के उपरान्त शत्रुघ्न की श्रीअयोध्यायात्रा। मार्ग में वाल्मीकि आश्रम में उनका टिकना। महर्षि के साथ शत्रुघ्न का संवाद। लवकुश द्वारा श्रीरामायण का मधुर गान। उसे सुन शत्रुघ्न के अनुचरों का विस्मित होना।

बहत्तरवाँ सर्ग ७०८—७१३

वाल्मीकि आश्रम से शत्रुघ्न जी का प्रस्थान और श्रीअयोध्या में पहुँचना। श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन और उनके साथ शत्रुघ्न जी का वार्तालाप। सात दिवस श्रीअयोध्या में रह, शत्रुघ्न जी का पुनः मथुरापुरीगमन।

तिहत्तरवाँ सर्ग ७१३—७१७

श्रीरामचन्द्र जी के राजभवन के द्वार पर अपने मृतक पुत्र को लेकर एक ब्राह्मण का आगमन और पुत्र

की मृत्यु का कारण राज्य में अधर्म होना बतलाकर, उसका महाराज श्रीरामचन्द्र जी के प्रति अपशब्द कहना।

चौहत्तरवाँ सर्ग ७१७—७२५

इस घटना से दुःखी हो महाराज श्रीरामचन्द्र जी का मंत्रिसभा का अधिवेशन बुलाना और उस अधिवेशन में नारद, वसिष्ठ, वामदेवादि ऋषिगण तथा भरतादि माताओं का भी सम्मिलित हो कर विचार करना। नारद जी का मत और परामर्श।

पचहत्तरवाँ सर्ग ७२५—७२६

श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से मृत ब्राह्मणकुमार के शव का तेल के कड़ाह में रखा जाना। श्रीरामचन्द्र द्वारा स्मरण करते ही पुष्पक का वहाँ उपस्थित होना। पुष्पक में बैठ श्रीरामचन्द्र जी का अपने राज्य का निरीक्षण करते हुए शंबूक शूद्र को उग्र तप करते हुए पाना। शंबूक से श्रीरामचन्द्र जी के प्रश्न।

छिहत्तरवाँ सर्ग ७२६—७४०

शंबूक का उत्तर और श्रीरामचन्द्र जी के हाथ से शूद्र शंबूक का सिर काटा जाना। इस पर देवताओं का प्रसन्न हो श्रीरामचन्द्र जी को वर देने के लिए प्रत्यक्ष होना। देवताओं से श्रीरामचन्द्र जी का वर माँग कर, मृत ब्राह्मण कुमार को पुनर्जीवित करवाना। श्रीराम जी का अगस्त्याश्रम में गमन। महर्षि अगस्त्य और श्रीराम जी से वार्तालाप।

सतत्तरवाँ सर्ग ७४१—७४६

अगस्त्य द्वारा एक आभूषण प्राप्ति की विचित्र कथा

के प्रसङ्ग में, राजा श्वेत सम्बन्धी एक उपाख्यान का कहा जाना।

अठहत्तरवाँ सर्ग ७४६—७५२

राजा श्वेत सम्बन्धी उपाख्यान का शेषांश।

उनासीवाँ सर्ग ७५२—७५७

राजा दण्ड का उपाख्यान।

अस्सीवाँ सर्ग ७५७—७६१

राजा दण्ड का क्रमागत उपाख्यान।

इक्यासीवाँ सर्ग ७६१—७६६

राजा दण्ड के उपाख्यान की पूर्ति। दण्डकवन का वृत्तान्त।

बयासीवाँ सर्ग ७६६—७७१

श्रीरामचन्द्र जी का अगस्त्याश्रम में एक रात निवास और अगले दिन वहाँ से श्रीअयोध्या को प्रस्थान और बिदाई। श्रीअयोध्या में श्रीरामचन्द्र जी का आगमन।

तिरासीवाँ सर्ग ७७१—७७५

महाराज श्रीरामचन्द्र जी का एक राजसूययज्ञ करने का प्रस्ताव और भरत एवं लक्ष्मण से इस कार्य में साहाय्य माँगना। भरत जी का राजसूययज्ञ से होने वाले महाअनर्थ का दिग्दर्शन कराना। महाराज श्रीरामचन्द्र जी का भरत जी के कथन को स्वीकार करते हुए, राजसूययज्ञ करने के विचार को स्थगित कर देना।

चौरासीवाँ सर्ग ७७५—७७९

लक्ष्मण जी का अश्वमेधयज्ञ के लिये प्रस्ताव करना

और अश्वमेधयज्ञ का माहात्म्य कथन। माहात्म्यान्तर्गत इन्द्र की ब्रह्महत्या की निवृत्ति का उपाख्यान।

पचासीवाँ सर्ग ७८०—७८५

वृत्तासुर के वध का उपाख्यान लक्ष्मण जी द्वारा श्रीरामचन्द्र जी को सुनाया जाना।

छियासीवाँ सर्ग ७८५—७८६

वृत्तासुर के वध के उपाख्यान का शेषांश।

सत्तासीवाँ सर्ग ७६०—७६६

श्रीरामचन्द्र जी की कही हुई राजा इल की अद्भुत कथा।

अट्ठासीवाँ सर्ग ७६६—८०१

राजा इल की अद्भुत कथा।

नवासीवाँ सर्ग ८०२—८०७

क्रमागत राजा इल की अद्भुत कथा। राजा पुरूरवा का जन्मवृत्तान्त।

नब्बेवाँ सर्ग ८०७—८१२

राजा इल की अद्भुत कथा की समाप्ति।

एक्यानवेवाँ सर्ग ८१३—८१६

श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण को अश्वमेध करने के विषय में जावल, काश्यपादि ऋषियों को बुलाकर, उनसे परामर्श करने की आज्ञा देना। श्रीरामचन्द्र जी को, ऋषियों का अश्वमेध यज्ञ करने की अनुमति देना। अश्वमेध यज्ञ की तैयारी।

बानबेवाँ सर्ग ८१६—८२३

अश्वमेघ यज्ञ का वर्णन।

तिरानबेवाँ सर्ग ८२३—८२८

श्रीरामचन्द्र जी के अश्वमेध यज्ञ में महर्षि वाल्मीकि जी का लव, कुश एवं सीता सहित आगमन।

चौरानबेवाँ सर्ग ८२८—८३५

लवकुश का महर्षि वाल्मीकि के बतलाए विधान से यज्ञशाला में श्रीरामचरित गाना। उसे सुन, सुननेवालों का विस्मित होना और श्रीरामचन्द्र जी का उस महाकाव्य के विषय में कतिपय प्रश्न करना और उत्तर पाना।

पञ्चानबेवाँ सर्ग ८३५—८३६

महाराज श्रीरामचन्द्र जी का अपने पुत्रों को पहचान कर, महर्षि वाल्मीकि के पास सीता सहित अगले दिन आने के लिए दूत भेजना।

छियानबेवाँ सर्ग ८३६—८४४

वाल्मीकि के साथ यज्ञशाला में जानकी जी का आगमन। वाल्मीकि जी का सीता की निष्कलङ्कता के सम्बन्ध में प्रभावशाली भाषण।

सत्तानबेवाँ सर्ग ८४५—८५१

सीता की निष्कलङ्कता के विषय में श्रीरामचन्द्र जी का स्वयं सफाई देना और अन्त में जानकी जी से सफाई माँगना। सफाई देते देते जानकी जी का पृथिवी में समा जाना।

अट्ठानबेवाँ सर्ग ८५१–८५७

इस घटना से श्रीरामचन्द्र जी का शोकान्वित हो रोष प्रकट करना और ब्रह्मा जी का प्रगट होकर उनको समझाना। श्रीरामचन्द्र जी का उस रात को महर्षि वाल्मीकि की कुटी में बास।

निन्यानबेवाँ सर्ग ८५८–८६२

लव कुश द्वारा रामायण के अन्तर्गत श्रीरामचन्द्र जी सम्बन्धिनी भविष्य कथा का गाया जाना। अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति। समागत जनों की बिदाई। श्रीरामचन्द्र जी का श्रीअयोध्या में पुनः आगमन। श्रीराम-राज्य का संक्षिप्त दिग्दर्शन। माता कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी की स्वर्ग-यात्रा।

सौवाँ सर्ग ८६२–८६८

श्रीरामचन्द्र जी के पास भरत के मामा युधाजित के गुरु का आगमन और युधाजित का गन्धर्व-देश-विजय करने का प्रस्ताव सुनाना। श्रीरामचन्द्र जी का भरत को गन्धर्व देश-विजय करके अपने पुत्र तक्ष और पुष्कल को उस देश का अधीश्वर बना देने की आज्ञा देना। भरत का ससैन्य प्रस्थान।

एकसौ पहला सर्ग ८६८–८७२

भरत जी द्वारा गन्धर्व देश का जीता जाना और उस देश के दो विभाग कर और अपने दोनों राजकुमारों को उन दोनों भागों के अलग अलग अधीश्वर बनाकर अयोध्या लौट आना।

एकसौ दूसरा सर्ग ८७२–८७६

लक्ष्मण के दोनों पुत्र अङ्गद और चित्रकेतु के लिए स्वतन्त्र राज्य स्थापन का प्रबन्ध।

एकसौ तीसरा सर्ग ८७६–८८०

श्रीरामचन्द्र जी के निकट मुनि के वेष में काल का आगमन। लक्ष्मण को पहरे पर खड़ा कर एकान्त में श्रीरामचन्द्र जी का काल के साथ वार्तालाप।

एकसौ चौथा सर्ग ८८०–८८५

श्रीरामचन्द्र जी और काल की बातचीत का शेषांश।

एकसौ पाँचवाँ सर्ग ८८५–८८६

इसी बीच में दुर्वासा मुनि का आगमन और श्रीराम जी से मिलने के लिए लक्ष्मण के प्रति उतावली प्रकट करना। लक्ष्मण के यह कहने पर कि, कुछ देर आप ठहरें, दुर्वासा का शाप देकर रघुकुल को नष्ट कर देने की धमकी देना। इस पर श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा को भंग कर, लक्ष्मण जी का श्रीरामचन्द्र जी के पास जाना। काल का विदा होना। दुर्वासा और श्रीरामचन्द्र जी से वर्तालाप।

एकसौ छठवाँ सर्ग ८६०–८६४

श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञाभंग करने के लिए मुनि-वेषधारी लक्ष्मण जी को प्राणदण्ड के बदले त्याग दण्ड की व्यवस्था। लक्ष्मण जी का सरयू के तट पर बैठ योगाभ्यास करना। अदृश्य रूप से इन्द्र का आगमन और सशरीर लक्ष्मण को स्वर्ग में ले जाना।

एकसौ सातवाँ सर्ग ८९४–८९८

श्रीरामचन्द्र जी का भरत को राजतिलक देकर स्वयं बनवासी होने का विचार। भरत की राज्यग्रहण करने की अनिन्दा। सब लोगों का श्रीरामचन्द्र जी के साथ स्वर्ग लोक जाने की उत्कंठा प्रकट करना। कुश और लव का राज्याभिषेक। शत्रुघ्न का मथुरा से बुलाया जाना।

एकसौ आठवाँ सर्ग ८९९–९०७

श्रीअयोध्या के दूतों का मथुरापुरी में पहुँचना और शत्रुघ्न को श्रीअयोध्या की घटनाओं को सुना कर, शीघ्र श्री अयोध्या में पहुँचने की श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा का सुनाना। शत्रुघ्न का अपने दोनों पुत्रों को मथुरा और वैदिश राज्यों पर राज्याभिषेक कर, श्रीअयोध्या-गमन। किष्किन्धा का राज्य अंगद को सौंप, सुग्रीव के नेतृत्व में वानरों का स्वर्ग जाने के लिए श्रीअयोध्या में आगमन। सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र जी का वार्तालाप। विभीषण और श्रीरामचन्द्र जी का वार्तालाप। श्रीरामचन्द्र जी द्वारा विभीषण को श्री रंगनाथ जी की मूर्ति का दिया जाना। हनुमान जी और श्रीरामचन्द्र जी में वार्तालाप। जाम्बवान्, मैन्द तथा द्विविद से श्रीरामचन्द्र जी का वार्तालाप।

एकसौ नवाँ सर्ग ९०७—९११

महाप्रस्थान।

एकसौ दसवाँ सर्ग ९१२–९१८

महाप्रस्थान के लिए उद्यत लोगों का श्रीरामचन्द्र जी

सहित श्रीअयोध्यानगरी से दो कोस चल कर, सरयू तट पर पहुँचना। ब्रह्मा जी का सौ करोड़ विमानों सहित उस स्थान पर आगमन। सब लोगों का यथा योग्य लोकों में गमन।

एकसौ ग्यारहवाँ सर्ग ९१८-९२०

ग्रन्थ का उपसंहार।

श्रीमद्रामायणपारायणविधि १-४

श्रीमद्रामायणमाहात्म्य १-२६

अन्तिम निवेदन २६-३०

॥ इति ॥

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापनक्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिए गए हैं ।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—:०:—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥१॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥२॥

यः पिबन् सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥३॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥४॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥५॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥६॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिरांजनेयम् ॥७॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूल वासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥८॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकांजलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥९॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥१०॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥११॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥१२॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामंडपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं ।
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:※:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥२॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥३॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥४॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥५॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥६॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥७॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥८॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयंती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ६ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन् सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

—:o:—

उत्तरकाण्डः

(उत्तरार्द्धः)

एकपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

तथा संचोदितः सूतो लक्ष्मणेन महात्मना।
तद्वाक्यमृषिणा प्रोक्तं व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥१॥

जब महात्मा लक्ष्मण जी ने सूत से इस प्रकार आग्रह किया तब वे ऋषिश्रेष्ठ के कहे हुए वचन, इस प्रकार सुनाने लगे ॥१॥

पुरा नाम्ना हि दुर्वासा अत्रेः पुत्रो महामुनिः।
वसिष्ठस्याश्रमे पुण्ये [1]वार्षिक्यं समुवास ह ॥२॥

हे लक्ष्मण! पूर्वकाल में एक बार अत्रि के पुत्र दुर्वासा बरसात ऋतु के चार मास भर वसिष्ठ के पवित्र आश्रम में जाकर रहे ॥२॥

तमाश्रमं महातेजाः पिता ते सुमहायशाः।
पुरोहितं महात्मानं दिदृक्षुरगमत्स्वयम् ॥३॥

उन्हीं दिनों एक बार तुम्हारे तेजस्वी एवं महायशस्वी पिता भी अपने कुलपुरोहित वसिष्ठ जी के दर्शन करने की इच्छा से उस आश्रम में पहुँचे ॥३॥

---

१ वार्षिक्यं—यतीनां वर्षाकालेभ्रमणनिषेधाद्वार्षिकमासचतुष्टयमेकत्रैवस्थितवानित्यर्थः। (रा०)

स दृष्ट्वा सूर्यसङ्काशं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
उपविष्टं वसिष्ठस्य सव्यापार्श्वे महामुनिम् ॥४॥

वहाँ जा कर उन्होंने देखा कि, वसिष्ठ जी की बाईं ओर, तेज से सूर्य की तरह चमचमाते, दुर्वासा मुनि बैठे हुए हैं ॥४॥

तौ मुनी तापसश्रेष्ठौ विनीतावभ्यवादयत् ।
स ताभ्यां पूजितो राजा स्वागतेनासनेन च ॥५॥

महाराज दशरथ ने बड़े विनम्र भाव से तपस्वियों में श्रेष्ठ उन दोनों मुनियों को प्रणाम किआ। उन दोनों महात्माओं ने भी स्वागत कर, महाराज को सम्मानपूर्वक आसन पर बिठाया ॥५॥

पाद्येन फलमूलैश्च उवास मुनिभिः सह ॥६॥

अर्घ्य, फल, मूल, द्वारा सत्कारित हो, महाराज उन मुनियों के साथ बैठे ॥६॥

तेषां तत्रोपविष्टानां तास्ताः सुमधुराः कथाः ।
बभूवुः परमर्षीणां मध्यादित्यगतेऽहनि ॥७॥

सब के बैठ जाने पर और दोपहर हो जाने पर अनेक तरह की मधुर कथाएँ होने लगीं ॥७॥

ततः कथायां कस्यांचित् प्राञ्जलिः [१]प्रग्रहो नृपः ।
उवाच तं महात्मानमत्रेः पुत्रं तपोधनम् ॥८॥

उस समय किसी कथा के प्रसंग में महाराज ने हाथ जोड़ कर, उन अत्रिपुत्र महात्मा तपोधन और महाज्ञानी दुर्वासा से कहा ॥८॥

---

१ प्रग्रहः—सविनयः। (गो०); ऊर्ध्वबाहुः। (रा०); प्रकृष्टंज्ञानं यस्य सः (शि०)

भगवन् किं प्रमाणेन मम वंशो भविष्यति ।
किमायुश्च हि मे रामः पुत्राश्चान्ये किमायुषः ॥६॥

हे भगवन्! मेरा वंश कब तक रहैगा। श्रीरामचन्द्र जी का आयु कितना है? तथा अन्य पुत्रों का आयु कितना है॥६॥

रामस्य च सुता ये स्युस्तेषामायुः कियद्भवेत् ।
काम्यया भगवन् ब्रूहि वंशस्यास्य गतिं मम ॥१०॥

श्रीरामचन्द्र जी के पुत्रों का कितना आयु होगा। हे भगवन्! मेरी बड़ी इच्छा है, आप मेरे वंश का वृत्तांत वर्णन करें ॥१०॥

तच्छ्रुत्वा व्याहृतं वाक्यं राज्ञो दशरथस्य तु ।
दुर्वासाः सुमहातेजा व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥११॥

महाराज दशरथ द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर, महातेजस्वी दुर्वासा कहने लगे ॥११॥

शृणु राजन् पुरावृत्तं तदा दैवासुरे युधि ।
दैत्याःसुरैर्भर्त्स्यमाना भृगुपत्नीं समाश्रिताः ।
तया दत्ताभयास्तत्र न्यवसन्नभयास्तदा ॥१२॥

हे राजन्! सुनिए पूर्वकाल में देवताओं और दैत्यों का बड़ा भारी युद्ध हुआ था। तब दैत्य, देवताओं से मार खा कर, भृगु जी की पत्नी के शरण में गए। उस समय भृगुपत्नी ने उनको अभयदान दिआ और उनको अपने यहाँ रख लिआ ॥१२॥

तया परिगृहीतां स्तान् दृष्ट्वा क्रुद्धः सुरेश्वरः ।
चक्रेण शितधारेण भृगुपत्न्याः शिरोऽहरत् ॥१३॥

जब भगवान् विष्णु ने देखा कि, भृगुपत्नी ने दैत्यों की रक्षा की है, तब उन्होंने पैनी धार वाले सुदर्शनचक्र से भृगुपत्नी का मस्तक काट डाला ।।१३।।

ततस्तां निहतां दृष्ट्वा पत्नीं भृगुकुलोद्वहः ।
शशाप सहसा क्रुद्धो विष्णुं रिपुकुलार्दनम् ।।१४।।

जब भृगु जी ने अपनी पत्नी को मरा हुआ देखा, तब इन कुलउजागर ने शत्रु-कुल-संहार-कारी भगवान् जनार्दन को शाप देते हुए कहा ।।१४।।

यस्मादवध्यां मे पत्नीमवधीः क्रोधमूर्च्छितः ।
तस्मात्त्वं मानुषे लोके जनिष्यसि जनार्दन ।।१५।।

तूने मेरी अवध्या अर्थात् निर्दोषी स्त्री का, क्रोध के वश में हो, वध किआ है; अतः हे जनार्दन ! तुझे मर्त्यलोक में अवतीर्ण होना पड़ेगा ।।१५।।

तत्र पत्नी वियोगं त्वं प्राप्स्यसे बहुवार्षिकम् ।
शापाभिहतचेतास्तु स्वात्मना भावितोऽभवत् ।।१६।।

उस समय तुझको बहुत वर्षों तक स्त्री का वियोग सहना पड़ेगा। इस प्रकार शाप दे चुकने पर, पीछे से (तपक्षीण होने के कारण) भृगु जी मन ही मन बहुत पछताए ।।१६।।

अर्चयामास तं देवं भृगुः शापेन पीडितः ।
तपसाराऽऽधितो देवो ह्यब्रवीद्भक्तवत्सलः ।।१७।।

फिर शापप्रदान के भय से पीड़ित हो, भृगु जी उनका बड़ी भक्ति से पूजन करने लगे। कुछ काल बाद भृगु जी के तप से प्रसन्न हो भक्तवत्सल भगवान् जनार्दन उनसे बोले ।।१७।।

लोकानां *संप्रियार्थं तु तं शापं †गृह्यमुक्तवान् ।
इति शप्तो महातेजा भृगुणा पूर्वजन्मनि ॥१८॥

कि, मैंने लोकहितार्थ उस शाप को ग्रहण कर लिया है। पूर्वजन्म में प्राप्त महातेजस्वी भृगु शाप के कारण ॥१८॥

इहागतो हि पुत्र त्वं तव पार्थिवसत्तम ।
राम इत्यभिविख्यातस्त्रिषु लोकेषु मानद ॥१९॥

हे मानद ! हे नृपश्रेष्ठ ! वे ही जनार्दन भगवान् इस लोक में आ, तुम्हारे पुत्र हुए हैं और उन्हीं का नाम श्रीरामचन्द्र तीनों लोकों में प्रसिद्ध हुआ है ॥१९॥

तत् फलं प्राप्स्यते चापि भृगुशापकृतं महत् ।
अयोध्यायाः पती रामो दीर्घकालं भविष्यति ॥२०॥

वे भृगु के शाप का फल पावेंगे और बहुत समय तक अयोध्या में राज्य करेंगे ॥२०॥

सुखिनश्च समृद्धाश्च भविष्यन्त्यस्य येऽनुगाः ।
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ॥२१॥
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं गमिष्यति ।
समृद्धैश्चाश्वमेधैश्च इष्ट्वा परमदुर्जयः ॥२२॥

उनके अनुगामी जन सुखी और धनधान्य से भरे पूरे होंगे। वे ग्यारह हजार वर्षों तक राज्य कर, ब्रह्मलोक में चले जाँयगे। वे बड़ी बड़ी दक्षिणाओं वाले अश्वमेधादि यज्ञ करेंगे। उनको कोई जीत न सकेगा ॥२१॥२२॥

---

* पाठान्तरे—"सहितार्थं।" † पाठान्तरे—"ग्राह्य।"

राजवंशाश्च बहुशो बहून् संस्थापयिष्यति ।
द्वौ पुत्रौ तु भविष्येते सीतायां राघवस्य तु ॥२३॥

वे कई बार अनेक राजवंशों की स्थापना करेंगे। उनसे सीता के दो पुत्र होंगे ॥२३॥

स सर्वमखिलं राज्ञो वंशस्याह गतागतम् ।
आख्याय सुमहातेजास्तूष्णीमासीन्महामुनिः ॥२४॥

हे लक्ष्मण ! इस प्रकार तुम्हारे वंश का भावी फल कह कर वह महातेजस्वी दुर्वासा मुनि चुप हो गए ॥२४॥

तूष्णीं भूते तदा तस्मिन् राजा दशरथो मुनौ ।
अभिवाद्य महात्मानौ पुनरायात्पुरोत्तमम् ॥२५॥

तब महाराज दशरथ दोनों ऋषियों को प्रणाम कर, अपनी राजधानी में आए ॥२५॥

एतद्वचो मया तत्र मुनिना व्याहृतं पुरा ।
श्रुतं हृदि च निक्षिप्तं नान्यथा तद्भविष्यति ॥२६॥

उस समय मुनिराज के मुख से ये सब बातें मैंने सुनी थीं और तब से इनको अपने हृदय में रखे हुए था। सो उनकी वह भविष्यद्वाणी अन्यथा नहीं हो सकती ॥२६॥

सीतायाश्च ततः पुत्रावभिषेक्ष्यति राघवः ।
अन्यत्र न त्वयोध्यायां मुनेस्तु वचनं यथा ॥२७॥

दुर्वासा जी के कथनानुसार श्रीरामचन्द्र जी सीता के गर्भ से उत्पन्न पुत्रों के अयोध्या ही में राजतिलक करेंगे—अन्यत्र नहीं ॥२७॥

एवं गते न सन्तापं कर्तुमर्हसि राघव ।
सीतार्थे राघवार्थे वा दृढो भव नरोत्तम ॥२८॥

हे नरोत्तम ! अतः तुम श्रीरामचन्द्र अथवा सीता के लिए दुःखी मत हो और अपना मन दृढ़ कर लो । क्योंकि होनहार हुए बिना नहीं रहैगी ॥२८॥

श्रुत्वा तु व्याहृतं वाक्यं सूतस्य परमाद्भुतम् ।
प्रहर्षमतुलं लेभे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥२९॥

इस प्रकार सूत के परमाश्चर्ययुक्त वचनों को सुन, लक्ष्मण जी अत्यंत हर्षित हो, धन्य धन्य कहने लगे ॥२९॥

ततः संवदतोरेवं सूतलक्ष्मणयोः पथि ।
अस्तिमर्के गते वासं केशिन्यां तावथोषतुः ॥३०॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः

लक्ष्मण और सारथि सुमंत्र इस तरह आपस में बात चीत करते करते संध्या समय केशिनी नगर के समीप जा कर टिक गए ॥३०॥

उत्तरकाण्ड का एक्यावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—❀—

द्विपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

तत्र तां रजनीमुष्य केशिन्यां रघुनन्दनः ।
प्रभाते पुनरुत्थाय लक्ष्मणः प्रययौ तदा ॥१॥

लक्ष्मण जी केशिनी नगरी में एक रात्रि वास कर, सबेरा होते ही वहाँ से चल दिए ॥१॥

[टिप्पणी—"केशिनीति केचन नदीं केचन ग्रामं च प्रचक्षते" किसी ने "केशिनी" को नदी और किसी ने नगरी बतलाया है ।]

ततोऽर्धदिवसे प्राप्ते प्रविवेश महारथः ।
अयोध्यां रत्नसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनावृताम् ॥२॥

महारथी लक्ष्मण जी दोपहर होते होते रत्नों अथवा श्रेष्ठ वस्तुओं से भरी पूरी अयोध्या नगरी में पहुँचे ॥२॥

सौमित्रिस्तु परं दैन्यं जगाम सुमहामतिः ।
रामपादौ समासाद्य वक्ष्यामि किमहं गतः ॥३॥

उस समय अत्यंत बुद्धिमान् लक्ष्मण जी बड़े दुःखी हुए क्योंकि वे अपने मन में यही सोचते थे कि, श्रीरामचन्द्र के चरणों में पहुँच मैं क्या कहूँगा ॥३॥

तस्यैवं चिन्तयानस्य भवनं शशिसन्निभम् ।
रामस्य परमोदारं पुरस्तात्समदृश्यत ॥४॥

इस प्रकार सोचते-सोचते लक्ष्मण जी को परमोदार श्रीरामचन्द्र जी का चंद्रमा की तरह सफेद रंग का, भवन देख पड़ा ॥४॥

राज्ञस्तु भवनद्वारि सोऽवतीर्य नरोत्तमात् ।
अवाङ्मुखो दीनमनाः प्रविवेशानिवारितः ॥५॥

लक्ष्मण जी भवन के द्वार पर पहुँच रथ से उतर पड़े और नीचे को मुँह किए और उदास हो बेरोकटोक राजभवन में घुसे चले गए ॥५॥

स दृष्ट्वा राघवं दीनमासीनं परमासने ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां ददर्शाग्रजमग्रतः ॥६॥

वहाँ जा कर उन्होंने देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी दुखी हो नेत्रों में आँसू भरे एक अच्छे आसन पर बैठे हैं ॥६॥

जग्राह चरणौ तस्य लक्ष्मणो दीनचेतनः ।
उवाच दीनया वाचा प्राञ्जलिः सुसमाहितः ॥७॥

लक्ष्मण जी ने दुखी मन से उनके चरण युगल में सिर नवा, उनको प्रणाम किआ और हाथ जोड़ कर बोले ॥७॥

आर्यस्याज्ञां पुरस्कृत्य विसृज्य जनकात्मजाम् ।
गङ्गा तीरे यथोद्दिष्टे वाल्मीकेराश्रमे *शुभे ॥८॥

महाराज ! आपके आज्ञानुसार श्रीगङ्गा के तट पर, वाल्मीकि मुनि के शुभ आश्रम के पास, सीता को छोड़ आया ॥८॥

तत्र तां च शुभाचारामाश्रमान्ते यशस्विनीम् ।
पुनरप्यागतो वीर पादमूलमुपासितुम् ॥९॥

उन शुद्धाचरणवाली यशस्विनी सीता जी को आश्रम के निकट छोड़ कर, हे वीर ! मैं तुम्हारी चरणसेवा के लिए पुनः आ गया हूँ ॥९॥

मा शुचः पुरुषव्याघ्र कालस्य गतिरीदृशी ।
त्वद्विधा न हि शोचन्ति बुद्धिमन्तो मनस्विनः ॥१०॥

हे पुरुषसिंह ! अब तुम शोक मत करो। क्योंकि काल की गति ही कुछ ऐसी है। तुम सदृश बुद्धिमान् एवं मनस्वी पुरुष शोक के वशवर्ती नहीं होते ॥१०॥

---

* पाठान्तरे—"शुचौ ।"

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥११॥

सम्पूर्ण ऐश्वर्य (एवं सुख) नाशवान् है। जो ऊँचे उठते हैं वे ही नीचे भी गिरते हैं। संयोग का अन्त वियोग और जीवन का अन्त मरण ही है अर्थात् जो मिलता है वह बिछुरता है और जो पैदा होता है वह मरता भी है ॥११॥

तस्मात्पुत्रेषु दारेषु मित्रेषु च धनेषु च।
नातिप्रसङ्गः कर्तव्यो विप्रयोगो हि तैर्ध्रुवम् ॥१२॥

अतः एक न एक दिन पुत्रों, कलत्रों और मित्रों एवं धन ऐश्वय से तो अलग होना ही पड़ता है। अतः इनमें अनुरक्त होना ठीक नहीं है ॥१२॥

शक्तस्त्वमात्मनाऽऽत्मानं विनेतुं *मनसा मनः।
लोकान् सर्वांश्च काकुत्स्थ किं पुनः शोकमात्मनः॥१३॥

हे राघव तुम तो स्वयं अपने को समझाने, अपने मन से अपने मन को ढाँढस बँधाने में सर्वथा समर्थ हो। यही नहीं, बल्कि तुम तो समस्त लोकों को समझा बुझा सकते हो, फिर तुम्हारे लिए अपना शोकनिवारण करना कोई बड़ी बात नहीं है ॥१३॥

नेदृशेषु विमुह्यन्ति त्वद्विधाः पुरुषर्षभाः।
अपवादः स किल ते पुनरेष्यति राघव ॥१४॥

हे पुरुषश्रेष्ठ तुम जैसे महानुभाव मोह को प्राप्त नहीं होते। अब यदि तुम इस प्रकार दुखी या उदास होगे, तो फिर लोग तुम्हारी निन्दा करने लगेंगे ॥१४॥

---

* पाठान्तरे—"मनसैव हि।"

यदर्थं मैथिली त्यक्ता अपवादभयान्नृप ।
सोपवादः पुरे राजन् भविष्यति न संशयः ॥१५॥

जिस अपवाद के भय से तुमने जानकी को त्यागा है फिर वही अपवाद सारे नगर में व्याप्त हो जायगा। इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥१५॥

स त्वं पुरुषशार्दूल धैर्येण सुसमाहितः ।
*त्यजेमां दुर्बलां बुद्धिं सन्तापं मा कुरुष्व ह ॥१६॥

अतएव हे पुरुषशार्दूल ! तुम धीरज रखो और इस निकम्मी बुद्धि को त्यागो और तुम सन्तप्त न हो ॥१६॥

एवमुक्तः स काकुत्स्थो लक्ष्मणेन महात्मना ।
उवाच परया प्रीत्या सौमित्रिं मित्रवत्सलः ॥१७॥

जब महात्मा लक्ष्मण जी ने इस प्रकार कहा, तब मित्रवत्सल श्रीरामचन्द्र जी बड़ी प्रीति के साथ लक्ष्मण जी से कहने लगे ॥१७॥

एवमेतन्नरश्रेष्ठ यथा वदसि लक्ष्मण ।
परितोषश्च मे वीर मम कार्यानुशासने[1] ॥१८॥

हे नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! तुम ठीक कहते हो। मैं तुम्हारे इस कार्य से तुम्हारे ऊपर सन्तुष्ट हूँ कि, तुम (मेरे आज्ञानुसार) जानकी को गङ्गातट पर छोड़ आए ॥१८॥

निर्वृत्तिश्चागता सौम्य सन्तापश्च निराकृतः ।
भवद्वाक्यैः सुरुचिरैरनुनीतोस्मि लक्ष्मण ॥१९॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः

---

१ कार्यानुशासने—गंगातीरत्यागरूपंत्वत्कृते । (गो०)
* पाठान्तरे—" त्यजैनाम् । "

हे सौम्य! तुम्हारे कथन को सुन, मेरा दुःख जाता रहा और (मानसिक) सन्ताप भी जाता रहा। हे लक्ष्मण! मैं तुम्हारे इन सुन्दर वाक्यों से तुम्हारा अनुगृहीत हूँ ॥१६॥

उत्तरकाण्ड का बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:❀:—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

लक्ष्मणस्य तु तद्वाक्यं निशम्य परमाद्भुतम्।
सुप्रीतश्चाभवद्रामो वाक्यमेतदुवाच ह ॥१॥

लक्ष्मण जी के इन परमाद्भुत वाक्यों को सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी परम प्रसन्न हुए और यह बोले ॥१॥

दुर्लभस्त्वीदृशो बन्धुरस्मिन् काले विशेषतः।
यादृशस्त्वं *महाबुद्धिर्मम सौम्य मनोनुगः ॥२॥

हे सौम्य! इस समय तुम्हारे जैसे बड़े समझदार और मनोनुसारी भाई का मिलना अत्यंत दुर्लभ है ॥२॥

यश्च मे हृदये किञ्चिद्वर्तते शुभलक्षण।
तान्निशामय च श्रुत्वा कुरुष्व वचनं मम ॥३॥

हे शुभलक्षणों से सम्पन्न! अब तुम मेरे मन की कुछ बात सुनो और उसे सुन तदनुसार कार्य करो ॥३॥

चत्वारो दिवसाः सौम्य कार्यं पौरजनस्य च।
अकुर्वाणस्य सौमित्रे तन्मे मर्माणि कृन्तति ॥४॥

* पाठान्तरे—"महाबुद्धे।"

आज चार दिन हो गए। मैंने पुरवासियों सम्बंधी भी काम नहीं किया। हे लक्ष्मण! इससे मेरे मर्मस्थल विदीर्ण हो रहे हैं ॥४॥

आहूयन्तां प्रकृतयः पुरोधा मन्त्रिणस्तथा।
कार्यार्थिनश्च पुरुषाः स्त्रियो वा पुरुषर्षभ ॥५॥

हे नरश्रेष्ठ! तुम कार्यार्थी लोगों (फरियादिओं) से चाहे वे स्त्री हों, चाहे पुरुष, पुरोहित जी को एवं मंत्रियों को बुला कर, मेरे पास भेज दो ॥५॥

पौरकार्याणि यो राजा न करोति दिने दिने।
संवृते नरके घोरे पतितो नात्र संशयः ॥६॥

क्योंकि जो राजा प्रतिदिन नगरवासियों अर्थात् प्रजाजनों का काम नहीं करता, वह ऐसे भयानक नरक में डाला जाता है, जहाँ हवा भी नहीं पहुँच पाती ॥६॥

श्रूयते हि पुरा राजा नृगो नाम महायशाः।
बभूव पृथिवीपालो ब्रह्मण्यः सत्यवाक् शुचिः ॥७॥

सुना जाता है, प्राचीनकाल में नृग नाम के एक राजा थे। वे बड़े यशस्वी, ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, बड़े पवित्राचरण वाले और प्रजापालक थे ॥७॥

स कदाचिद्गवां कोटीः सवत्साः स्वर्णभूषिताः।
नृदेवो भूमिदेवेभ्यः पुष्करेषु ददौ नृपः ॥८॥

एक बार उन्होंने पुष्करक्षेत्र में बछड़ों सहित, सोने से भूषित एक करोड़ गौएँ, ब्राह्मणों को दान में दीं ॥८॥

ततः सङ्गाद्गता धेनुः सवत्सा स्पर्शिताऽनघ ।
ब्राह्मणस्याहिताग्नेस्तु दरिद्रस्योञ्छवर्तिनः ॥९॥

हे अनघ ! जो गौएँ राजा ने दान करने के लिए मँगवायी थीं, उनमें भूल से एक गौ किसी एक दरिद्र अग्निहोत्री एवं उञ्छवृत्ति से जीवन बिताने वाले ब्राह्मण की, आ कर मिल गई ॥९॥

[टिप्पणी—उञ्छवृत्ति—खेत कट जाने पर खेत में जो अन्न के दाने पड़े रह जाते हैं, उन दानों को बीन बीन कर पेट भरना उञ्छवृत्ति कहलाती है ।]

स नष्टां गां क्षुधार्तो वै अन्विषंस्तत्र तत्र ह ।
नापश्यत्सर्वराष्ट्रेषु संवत्सरगणान् बहून् ॥१०॥

वह ब्राह्मण भूखा प्यासा खोई हुई गौ का इधर उधर ढूढ़ने लगा । वह ब्राह्मण अनेक वर्षों तक, राज्य भर में (गौ की तलाश में) घूमा फिरा किआ; किन्तु उसकी गौ का पता न लगा ॥१०॥

ततः कनखलं गत्वा जीर्णवत्सां निरामयाम् ।
ददर्श तां स्विकां धेनुं ब्राह्मणस्य निवेशने ॥११॥

खोजते खोजते वह हरिद्वार के समीप कनखल में पहुँचा । वहाँ उसने एक ब्राह्मण के घर में अपनी गाय को रोगरहित देखा; किन्तु उसका बछड़ा दुबला हो रहा था ॥११॥

अथ तां नामधेयेन स्वकेनोवाच ब्राह्मणः ।
आगच्छ शबलेत्येव सा तु शुश्राव गौः स्वरम् ॥१२॥

उस ब्राह्मण ने उस गौ का नाम शबला रख छोड़ा था । अतः उसने उसी नाम से "हे शबले ! आओ" कह कर अपनी गौ को पुकारा । गौ ने उस ब्राह्मण का पुकारना सुन लिआ ॥१२॥

तस्य तं स्वरमाज्ञाय क्षुधार्तस्य द्विजस्य वै ।
अन्वगात्पृष्ठतः सा गौर्गच्छन्तं पावकोपमम् ॥१३॥

भूखे प्यासे और अग्नि समान तेजस्वी उस ब्राह्मण का कण्ठ स्वर पहचान कर वह गौ उसके पीछे चल खड़ी हुई ॥ १३ ॥

योऽपि पालयते विप्रः सोऽपि गामन्वगाद्द्रुतम् ।
गत्वा च तमृषिं चष्टे मम गौरिति सत्वरम् ॥१४॥

जिस ब्राह्मण के घर में वह गौ थी जो इतने दिनों से उसे पाले हुए था, वह भी उसके पीछे दौड़ा और शीघ्रता से उसके निकट पहुँच, उस ऋषि से कहने लगा, यह गाय तो मेरी है ॥ १४ ॥

[1]स्पर्शिता राजसिंहेन मम दत्ता नृगेण ह ।
तयोर्ब्राह्मणयोर्वादो महानासीद्विपश्चितोः ॥१५॥

यह तो मुझे महाराज नृग से दान में मिली है। इस प्रकार उन दोनों पण्डित ब्राह्मणों का आपस में झगड़ा होने लगा ॥ १५ ॥

विवदन्तौ ततोऽन्योन्यं दातारमभिजग्मतुः ।
तौ राजभवनद्वारि न प्राप्तौ नृगशासनम् ॥१६॥

वे दोनों आपस में झगड़ते झगड़ते महाराज नृग के पास गए। किन्तु राजा नृग की राजधानी में पहुँच कर भी वे (द्वारपाल की रोक के कारण) राजभवन में न जा पाए ॥ १६ ॥

अहोरात्राण्यनेकानि वसन्तौ क्रोधमीयतुः ।
ऊचतुश्च महात्मानौ तावुभौ द्विजसत्तमौ ।
क्रुद्धौ परमसम्प्राप्तौ वाक्यं घोराभिसंहतम् ॥१७॥

---

१ स्पर्शिता—दत्ता । (गो०)

जब उन दोनों को राजधानी में ठहरे ठहरे कई दिवस और रातें बीत गईं, तब तो वे ब्राह्मण अति कुपित हुए और शापयुक्त यह घोर वचन बोले ॥१७॥

अर्थिनां कार्यसिद्ध्यर्थं यस्मात्त्वं नैषि दर्शनम् ।
अदृश्यः सर्वभूतानां कृकलासो भविष्यसि ॥१८॥

हे राजन् ! तू कार्यार्थियों को दर्शन नहीं देता, अतएव तू गिरगिट हो कर ऐसी जगह रहेगा जहाँ तुझे कोई न देख सके ॥१८॥

बहुवर्ष सहस्राणि बहुवर्षशतानि च ।
श्वभ्रे त्वं कृकलीभूतो दीर्घकालं निवत्स्यसि ॥१९॥

सैकड़ों हजारों वर्षों तक तू एक अंधे कुएँ में गिरगिट हो कर पड़ा रहेगा ॥१९॥

उत्पत्स्यते हि लोकेऽस्मिन् यदूनां कीर्तिवर्धनः ।
वासुदेव इति ख्यातो विष्णुः पुरुषविग्रहः ॥२०॥

स ते मोक्षयिता शापाद्राजंस्तस्माद्भविष्यसि ।
कृता च तेन कालेन निस्कृतिस्ते भविष्यति ॥२१॥

जिस समय इस धराधाम पर भगवान् विष्णु मनुष्य शरीर में, वासुदेव नाम से यदुकुल में अवतीर्ण होंगे ; उस समय उनके द्वारा तू इस शाप से छूटेगा। उसी समय तेरा उद्धार होगा ॥२०॥२१॥

भारावतरणार्थं हि नरनारायणावुभौ ।
उत्पत्स्येते महावीर्यौ कलौ युग उपस्थिते ॥२२॥

कलियुग के आरम्भ में भूमि का भार उतारने के लिए महा-बली नर और नारायण अवतार लेंगे ॥२२॥

[टिप्पणी—जो विद्वान् महाभारत के पीछे श्रीमद्वाल्मीकि रामायण का काल मानते हैं, उनको इस वर्णन पर ध्यान देना चाहिए। पूर्वोक्त श्लोकों में भविष्यकालिक क्रियाओं का प्रयोग देख कर और श्रीरामचन्द्र जी के मुख से ऐसी क्रियाओं का प्रयोग किया जाना देख कर, श्रीकृष्णावतार के पूर्व श्री रामावतार का होना सिद्ध होता है।]

एवं तौ शापमुत्सृज्य ब्राह्मणौ विगतज्वरौ ।
तां गां हि दुर्बलां वृद्धां ददतुर्ब्राह्मणाय वै ॥२३॥

इस प्रकार महाराज नृग को शाप दे कर, वे दोनों शान्त हुए। तदनन्तर उन दोनों ने वह बूढ़ी और दुर्बल गाय किसी अन्य ब्राह्मण को दे डाली।। (इस प्रकार उन दोनों का झगड़ा मिटा।) ॥२३॥

एवं स राजा तं शापमुपभुङ्क्ते सुदारुणम् ।
कार्यार्थिनां विमर्दो हि राज्ञां दोषाय कल्पते ॥२४॥

(श्रीरामचन्द्र जी बोले) राजा नृग इस प्रकार (कार्यार्थी) ब्राह्मणों के शाप से गिरगिट की योनि में पड़े पड़े शाप का फल भोग रहे हैं! हे लक्ष्मण! कार्यार्थियों का झगड़ा न मिटाने से राजा को बड़ा पाप लगता है ॥२४॥

तच्छीघ्रं दर्शनं मह्यमभिवर्तन्तु कार्यिणः ।
सुकृतस्य हि कार्यस्य फलं नावैति पार्थिवः ॥२५॥

अतः कार्यार्थियों को शीघ्र मेरे सामने लाओ। अच्छे कार्य का फल राजा को प्राप्त होता ही है ॥२५॥

तस्माद्गच्छ प्रतीक्षस्व सौमित्रे कार्यवाञ्जनः ॥२६॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

अतः हे लक्ष्मण! तुम द्वार पर जा कर, कार्यार्थियों की प्रतीक्षा करो ॥२६॥

उत्तरकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

रामस्य भाषितं श्रुत्वा लक्ष्मणः परमार्थवित्।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं राघवं दीप्ततेजसम् ॥१॥

परमार्थ के ज्ञाता लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन कर, तेज से देदीप्यमान श्रीरामचन्द्र जी से हाथ जोड़ कर बोले ॥१॥

अल्पापराधे काकुत्स्थ द्विजाभ्यां शाप ईदृशः।
महान्नृगस्य राजर्षेर्यमदण्ड इवापरः ॥२॥

हे महाराज! ऐसे न कुछ अपराध के लिए उन ब्राह्मणों ने राजा नृग को यमदण्ड की तरह ऐसा कठोर शाप दिया! ॥२॥

श्रुत्वा तु पापसंयुक्तमात्मानं पुरुषर्षभ।
किमुवाच नृगो राजा द्विजौ क्रोधसमन्वितौ ॥३॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! कृपा कर यह तो बतलाइए कि, शाप को सुन राजा नृग ने उन दोनों क्रुद्ध ब्राह्मणों से क्या कहा? ॥३॥

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु राघवः पुनरब्रवीत् ।
शृणु सौम्य यथापूर्वं स राजा शापविक्षतः ॥४॥

जब लक्ष्मण जी ने यह पूँछा, तब श्रीरामचन्द्र जी फिर कहने लगे—हे सौम्य ! शाप सुनने के बाद राजा नृग ने जो कुछ किया सो सुनो, मैं कहता हूँ ॥४॥

अथाध्वनि गतौ विप्रौ विज्ञाय स नृपस्तदा ।
आहूय मन्त्रिणः सर्वान्नैगमान् सपुरोधसः ॥५॥

जब वे दोनों ब्राह्मण वहाँ से चले गए, तब महाराज ने उनके शाप का वृत्तान्त सुन, अपने पुरोहित, मंत्रियों और प्रजाजनों के मुखियों अथवा महाजनों को बुलवाया ॥५॥

तानुवाच नृगो राजा सर्वांश्च प्रकृतीस्तथा ।
दुःखेन सुसमाविष्टः श्रूयतां मे समाहिताः ॥६॥

(जब सब आ गए तब) राजा नृग ने अत्यन्त दुःखित हो, उन सब से कहा—हे भाइयो ! सब लोग सावधान हो कर, मेरे बचनों को सुनो ॥६॥

नारदः पर्वतश्चैव मम दत्त्वा महद्भयम् ।
गतौ [१]त्रिभुवनं भद्रौ वायुभूतावनिन्दितौ ॥७॥

ऋषि नारद और पर्वत, ब्राह्मणों के शाप की बड़ी भयानक बात, मुझे सुना कर, वायुरूप हो, अथवा बड़ी फुर्ती से ब्रह्मलोक को चले गए हैं ॥७॥

कुमारोऽयं वसुर्नाम स चेहाद्याभिषिच्यताम् ।
श्वभ्रं च यत्सुखस्पर्शं क्रियतां शिल्पिभिर्मम ॥८॥

---

१ त्रिभुवनं—ब्रह्मलोकमित्यर्थः । (गो०)

अब मैं अपने इस वसु नामक राजकुमार के राजतिलक कर के उस शाप के फल को भोगूँ, तो अच्छा है। शिल्पिगण एक बहुत अच्छा सुखदायक गड्ढा खोदें ॥८॥

यत्राहं संक्षयिष्यामि शापं ब्राह्मणनिःसृतम्।
वर्षघ्नमेकं श्वभ्रं तु हिमघ्नमपरं तथा ॥९॥
ग्रीष्मघ्नं तु सुखस्पर्शमेकं कुर्वन्तु शिल्पिनः।
फलवन्तश्च ये वृक्षाः पुष्पवत्यश्च या लताः ॥१०॥

उसीमें पड़ा पड़ा मैं ब्राह्मणों के दिए हुए शाप को भोगूँगा। मेरे लिए तीन गड्ढे बनाए जांय। एक तो ऐसा जिसमें मैं (सुखपूर्वक) वर्षाकाल बिता सकूँ, दूसरा शीतकालोपयोगी हो और तीसरा ऐसा हो जिसमें गर्मी की ऋतु में मैं (सुखपूर्वक रह सकूँ)। वहाँ पर फल वाले बहुत से वृक्ष और पुष्पित लताएँ ॥९॥१०॥

विरोप्यन्तां बहुविधाश्छायावन्तश्च गुल्मिनः।
क्रियतां रमणीयं च श्वभ्राणां सर्वतोदिशम् ॥११॥

तथा छाया वाले अनेक प्रकार के झाड़ लगाए जाँय। ये गर्त चारों ओर से रमणीय बनाए जाँय ॥११॥

सुखमत्र वसिष्यामि यावत् कालस्य पर्ययः।
पुष्पाणि च सुगन्धीनि क्रियतां तेषु नित्यशः ॥१२॥
परिवार्य यथा मे स्युरध्यर्धं योजनं तथा।
एवं कृत्वा विधानं स सन्निवेश्य वसुं तदा ॥१३॥

जहाँ मैं शाप के अन्त तक सुखपूर्वक रह सकूँ और उस गर्त के चारों ओर दो कोस तक सुगन्धित पुष्प वाले वृक्ष लगा दिए जायँ।

इस प्रकार सब बातें समझा और राजकुमार वसु को राजसिंहासन पर बिठा, उससे राजा नृग ने कहा ॥१२॥१३॥

धर्मनित्यः प्रजाः पुत्र क्षत्रधर्मेण पालय ।
प्रत्यक्षं ते यथा शापो द्विजाभ्यां मयि पातितः ॥१४॥

हे पुत्र ! तुम सदा धर्म में तत्पर रहना और क्षात्रधर्म से प्रजा का पालन करना । क्योंकि देखो तुम्हारे सामने ही ब्राह्मणों ने मुझे यह शाप दे कर, मेरा पतन किया है ॥१४॥

नरश्रेष्ठ सरोषाभ्यामपराधेऽपि तादृशे ।
मा कृथास्त्वनुसन्तापं *मत्कृते हि नरर्षभ ॥१५॥

हे नरश्रेष्ठ ! जैसा मेरा अपराध था, वैसा ही उन ब्राह्मणों ने रोष में भर मुझे शाप भी दिया है । अतः तुम मेरे लिए सन्ताप मत करो ॥१५॥

१कृतान्तः कुशलः पुत्र येनास्मि व्यसनीकृतः ।
प्राप्तव्यान्येव प्राप्नोति गन्तव्यान्येव गच्छति ॥१६॥

हे पुत्र ! ईश्वर सब कुछ करने में निपुण है । उसी ने मुझे इस दुर्दशा को पहुँचाया है । हे पुत्र ! जो होनहार होता है, वही होता है और जहाँ जाना बदा होता है वहाँ अवश्य जाना ही पड़ता है अथवा जो वस्तु मिलने वाली होती है, वह अवश्य मिलती है और जो वस्तु जाने वाली होती है, वह अवश्य ही चली जाती है ॥१६॥

लब्धव्यान्येव लभते दुःखानि च सुखानि च ।
पूर्वे जात्यन्तरे वत्स मा विषादं कुरुष्व ह ॥१७॥

---

१ कृतान्तः—ईश्वरः । (गो०)

* पाठान्तरे—"मत्कृतोऽपि ।"

चाहे सुख हो, चाहे दुःख, जो भोगना है वह बिना भोगे टलता नहीं। सुखों और दुःखों के प्राप्त होने का कारण पूर्वजन्म में किए हुए कर्मों का फल ही है। अतएव हे बेटा! तुम दुखी मत हो ॥१७॥

एवमुक्त्वा नृपस्तत्र सुतं राजा महायशाः।
श्वभ्रं जगाम सुकृतं वासाय पुरुषर्षभ ॥१८॥

हे लक्ष्मण! इस प्रकार यशस्वी राजा नृग अपने पुत्र को समझा बुझा कर, उस अच्छे बनाए हुए गर्त में रहने के लिए चल दिए ॥१८॥

एवं प्रविश्यैव नृपस्तदानीं
श्वभ्रं महद्रत्नविभूषितं तत्।
सम्पादयामास तदा महात्मा
शापं द्विजाभ्यां हि रुषा विमुक्तम् ॥१९॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

और अनेक रत्नों से विभूषित उस महागर्त में राजा नृग ने प्रवेश किया और उसमें वास कर, उन्होंने उन महात्मा कुपित ब्राह्मणों के शाप का फल भोगा ॥१९॥

उत्तरकाण्ड का चौवनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

एष ते नृगशापस्य विस्तरोऽभिहितो मया।
यद्यस्ति श्रवणे श्रद्धा शृणुष्वेहापरां कथाम् ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी कहने लगे, हे लक्ष्मण ! मैंने तुमको राजा नृग के शाप का वृत्तान्त विस्तारपूर्वक सुना दिया। अब यदि और कुछ सुनना चाहते हो तो एक और वृत्तान्त सुनाऊँ ॥१॥

एवमुक्तस्तु रामेण सौमित्रिः पुनरब्रवीत् ।
तृप्तिराश्चर्यभूतानां कथानां नास्ति मे नृप ॥२॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन, लक्ष्मण जी बोले—हे राजन् ! ये वृत्तान्त तो बड़े अद्भुत हैं। इनको सुनते सुनते मेरा जी ही नहीं भरता है ॥२॥

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु राम इक्ष्वाकुनन्दनः ।
कथां परमधर्मिष्ठां व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥३॥

जब लक्ष्मण जी ने इस प्रकार कहा; तब इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने एक और वैसी ही धर्मयुक्त कथा छेड़ दी ॥३॥

आसीद्राजानिमिर्नाम इक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ।
पुत्रो द्वादशमो वीर्ये धर्मे च परिनिष्ठितः ॥४॥

(श्रीरामचन्द्र जी बोले) हे लक्ष्मण ! राजा इक्ष्वाकु के बारहवें पुत्र राजा निमि थे, जो बड़े पराक्रमी थे और उनकी धर्म में पूर्णनिष्ठा थी ॥४॥

स राजा वीर्यसम्पन्नः पुरं देवपुरोपमम् ।
निवेशयामास तदा अभ्याशे गौतमस्य तु ॥५॥

पुरस्य सुकृतं नाम वैजयन्तमिति श्रुतम् ।
निवेशं यत्र राजर्षिर्निमिश्चक्रे महायशाः ॥६॥

महापराक्रमी राजा निमि ने गौतम मुनि के आश्रम के पास देवपुरी के सदृश, वैजयन्त नाम का एक सुन्दर पुर बसाया। उसीमें वे महायशस्वी राजर्षि राजा निमि रहने लगे ॥५॥६॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना निवेश्य सुमहापुरम् ।
यजेयं दीर्घसत्रेण पितुः प्रह्लादयन् मनः ॥७॥

उस पुर में रहते रहते उनकी बुद्धि में यह बात आई कि, मैं अपने पिता को प्रसन्न करने के लिए एक ऐसा बड़ा यज्ञ करूँ, जो बहुत दिनों में पूरा हो ॥७॥

ततः पितरमामंत्र्य इक्ष्वाकुं हि मनोस्सुतम् ।
वसिष्ठं वरयामास पूर्वं ब्रह्मर्षिसत्तमम् ॥८॥

यह मन में ठान, राजा निमि ने अपने पिता और महाराज मनु के पुत्र राजा इक्ष्वाकु से पूँछ और उनकी आज्ञा ले, यज्ञ के लिए सर्वप्रथम ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ वशिष्ठ जी को वरण किआ ॥८॥

अनन्तरं स राजर्षिर्निमिरिक्ष्वाकुनन्दनः ।
अत्रिमङ्गिरसञ्चैव भृगुं चैव *तपोनिधिम् ॥९॥

हे लक्ष्मण! तदनन्तर इक्ष्वाकुपुत्र राजर्षि निमि ने अत्रि, अंगिरस और तपोधन भृगु को वरण किआ ॥९॥

तमुवाच वसिष्ठस्तु निमिं राजर्षिसत्तमम् ।
वृतोहं पूर्वमिन्द्रेण अन्तरं प्रतिपालय ॥१०॥

उस समय वसिष्ठ जी ने राजर्षिश्रेष्ठ निमि से कहा कि, तुम्हारे वरण करने से पहिले ही इन्द्र मुझे वरण कर चुके हैं। अतः उनका यज्ञ करा कर मैं तुम्हारा यज्ञ करवाऊँगा ॥१०॥

---

* पाठान्तरे—"तपोधनम्"।

अनन्तरं महाविप्रो गौतमः प्रत्यपूरयत् ।
वसिष्ठोऽपि महातेजा इन्द्र यज्ञमथाकरोत् ॥११॥

तदनन्तर महातेजस्वी वसिष्ठ जी इन्द्र के यहाँ यज्ञ कराने लगे। इधर गौतम जी वसिष्ठ जी के बदले यज्ञ कराने लगे ॥११॥

निमिस्तु राजा विप्रांस्तान् समानीय नराधिपः ।
अयजद्धिमवत्पार्श्वे स्वपुरस्य समीपतः ॥१२॥

महाराज निमि ने सब ब्राह्मणों को एकत्रकर, हिमालय के पास ही अपने नगर के निकट यज्ञ करना आरम्भ कर दिया ॥१२॥

पञ्च वर्षसहस्राणि राजा *दीक्षामथाकरोत् ।
इन्द्रयज्ञावसाने तु वसिष्ठो भगवानृषिः ॥१३॥

महाराज निमि पाँच हजार वर्षों तक यज्ञ-दीक्षा में रहे। उधर इन्द्र का यज्ञ पूर्ण होने पर, भगवान् वसिष्ठ ऋषि जी ॥१३॥

सकाशमागतो राज्ञो हौत्रं कर्तुमनिन्दितः ।
तदन्तरमथापश्यद्गौतमेनाभिपूरितम् ॥१४॥

जो निन्दा रहित हैं, यज्ञ कराने को राजा, निमि के पास आए और आ कर देखा कि, गौतम जी तो यज्ञ पूरा कर चुके हैं ॥१४॥

कोपेन महताऽऽविष्टो वसिष्ठो ब्रह्मणः सुतः ।
स राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षी मुहूर्तं समुपाविशत् ।
तस्मिन्नहनि राजर्षिर्निद्रयाऽपहृतो भृशम् ॥१५॥

---

* पाठान्तरे—"दीक्षामुपागमत् ।"

यह देख कर ब्रह्मा जी के पुत्र वसिष्ठ जी क्रोध में भर गए और राजा निमि से मिलने के लिए वे वहाँ थोड़ी देर खड़े रहे। दैववश उधर राजा निमि को नींद सता रही थी, सो वे सो गए ॥१५॥

ततो मन्युर्वसिष्ठस्य प्रादुरासीन्महात्मनः ।
अदर्शनेन राजर्षेर्व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥१६॥

यह देख वसिष्ठ जी का क्रोध और भी बढ़ गया। राजा से भेंट न होने के कारण वे क्रोध में भर कर बोले ॥१६॥

यस्मात्त्वमन्यं वृतवान् मामवज्ञाय पार्थिव ।
चेतनेन विनाभूतो देहस्ते *पार्थिवैष्यति ॥१७॥

हे राजन्! तूने मेरे लौटने की प्रतीक्षा न की और यज्ञ में दूसरे को वरण कर मेरा अपमान किया है अतः तेरा शरीर चेतनारहित हो जायगा अर्थात् तुम मर जाओगे ॥१७॥

ततः प्रबुद्धो †राजा तु श्रुत्वा शापमुदाहृतम् ।
ब्रह्मयोनिमथोवाच स ‡राजा क्रोधमूर्च्छितः ॥१८॥

जब राजा ने जाग कर यह शाप की व्यवस्था सुनी, तब वे भी अत्यन्त क्रुद्ध हो, महर्षि वसिष्ठ को शाप देने को उद्यत हुए ॥१८॥

अज्ञानतः शयानस्य क्रोधेन कलुषीकृतः ।
§उक्तवान् मम शापाग्निं यमदण्डमिवापरम् ॥१९॥

वे वसिष्ठ जी से बोले आपने मुझ सोते हुए पर बिना जाने, क्रोधवश दूसरे यमदण्ड की तरह जो शापाग्नि फैंका है ॥१९॥

---

* पाठान्तरे—"देहस्तव भविष्यति ।" † पाठान्तरे—"राजर्षि श्रुत्वा ।" ‡ पाठान्तरे—"संरम्भात्क्रोधमूर्च्छितः ।" § पाठान्तरे—"मुक्तवान्मयि ।"

तस्मात्तवापि ब्रह्मर्षे चेतनेन विना कृतः ।
देहः सरुचिरप्रख्यो भविष्यति न संशयः ॥२०॥

अतः हे महर्षे ! तुम्हारा भी यह सुन्दर शरीर बिना जीव के रहैगा अर्थात् तुम मर जाओगे ॥२०॥

इति रोषवशादुभौ तदानीम्
अन्योन्यं शपितौ नृपद्विजेन्द्रौ ।
सहसैव बभूवतुर्विदेहौ-
तत्तुल्याधिगत प्रभाववन्तौ ॥२१॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

इस प्रकार वे राजेन्द्र और द्विजेन्द्र क्रोध में भर एक दूसरे को शाप दे, समान प्रभाव वाले होने के कारण, तत्काल देहरहित हो गए ॥२१॥

उत्तरकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

--*--

षट्पञ्चाशः सर्गः

—:o:—

रामस्य भाषितं श्रुत्वा लक्ष्मणः परवीरहा ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा राघवं दीप्ततेजसम् ॥१॥

शत्रुघाती श्रीलक्ष्मण जी, श्रीरामचन्द्र जी की कही इस कथा को सुन, हाथ जोड़ कर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥१॥

निक्षिप्य देहौ काकुत्स्थ कथं तौ द्विजपार्थिवौ ।
पुनर्देहेन संयोगं जग्मतुर्देवसम्मतौ ॥२॥

हे रघुनाथ जी ! देवताओं के समस्त (अर्थात् देवताओं के आदरभाजन) वे राजा और वसिष्ठ जी देहहीन हो कर, क्यों कर फिर शरीरधारी हुए ? ॥२॥

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु राम इक्ष्वाकुनन्दनः ।
प्रत्युवाच महातेजा लक्ष्मणं पुरुषर्षभः ॥३॥

लक्ष्मण जी के यह वचन सुन कर, इक्ष्वाकुकुलनन्दन पुरुष-श्रेष्ठ दीप्तिमान् श्रीरामचन्द्र जी कहने लगे ॥३॥

तौ परस्परशापेन *देहमुत्सृज्य धार्मिकौ ।
अभूतां नृपविप्रर्षी वायुभूतौ तपोधनौ ॥४॥

हे लक्ष्मण ! वे दोनों धर्मात्मा आपस के शाप के कारण देहों को त्याग कर, तपस्वी ब्रह्मर्षि वसिष्ठ जी और राजा निमि वायुरूप हो गए (अर्थात् स्थूल शरीर त्याग, सूक्ष्म शरीरधारी हो गए) ॥४॥

अशरीरः शरीरस्य कृतेऽन्यस्य महामुनिः ।
वसिष्ठस्तु महातेजा जगाम पितुरन्तिकम् ॥५॥

महर्षि एवं महातेजस्वी वसिष्ठ जी स्थूलशरीर से रहित हो, स्थूलशरीर प्राप्ति की इच्छा से अपने पिता ब्रह्मा जी के पास गए ॥५॥

सोऽभिवाद्य ततः पादौ देवदेवस्य धर्मवित् ।
पितामहमथोवाच वायुभूत इदं वचः ॥६॥

वहाँ जा, धर्मज्ञ एवं वायुभूत सूक्ष्मशरीरधारी वसिष्ठ जी देव-देव ब्रह्मा जी के चरणों में सीस नवा प्रणाम कर उनसे इस प्रकार बोले ॥६॥

---

* पाठान्तरे—"देहावुत्सृज्य ।"

भगवन्निमिशापेन विदेहत्वमुपागमम् ।
*देवदेव महादेव वायुभूतोऽहमण्डज ॥७॥

हे भगवन् ! मैं निमि के शाप से (स्थूल) शरीर रहित हो रहा हूँ। हे अण्डज ! हे देवदेव ! हे महादेव ! मैं वायुभूत (सूक्ष्मशरीरधारी) हो रहा हूँ ॥७॥

सर्वेषां देहहीनानां महद्दुःखं भविष्यति ।
लुप्यन्ते सर्वकार्याणि हीनदेहस्य वै प्रभो ॥८॥

हे प्रभो ! देह न होने से बड़ा कष्ट है। क्योंकि देह रहने ही से सब काम किए जा सकते हैं। अथवा देहहीन मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता ॥८॥

देहस्यान्यस्य सद्भावे प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
तमुवाच ततो ब्रह्मा स्वयंभूरमितप्रभः ॥९॥

अब आप ऐसी कृपा करें, जिससे मुझे दूसरा शरीर प्राप्त हो जाय। यह वचन सुन बड़े प्रभाववान् स्वयंभू ब्रह्मा जी बोले ॥९॥

मित्रावरुणजं तेज आविश त्वं महायशः ।
अयोनिजस्त्वं भविता तत्रापि द्विजसत्तम ।
धर्मेण महता युक्तः पुनरेष्यसि मे वशम्[१] ॥१०॥

हे महायशस्वी ! तुम मित्रावरुण के वीर्य में प्रवेश करो। हे द्विज-श्रेष्ठ ! वहाँ भी तुम अयोनिज रहोगे (अर्थात् किसी स्त्री की योनि से

---

१ मेवशम् — मदधीनतां। (गो०)

* पाठान्तरे—"लोकनाथ महादेव अण्डजोपि त्वमब्जजः।"

उत्पन्न न होगे) और धर्म से युक्त हो कर, फिर मेरे ही अधीन होगे ॥१०॥

एवमुक्तस्तु देवेन अभिवाद्य प्रदक्षिणम् ।
कृत्वा पितामहं तूर्णं प्रययौ वरुणालयम् ॥११॥

जब लोकपितामह ब्रह्मा जी ने ऐसा कहा, तब उनको प्रणाम कर तथा उनकी परिक्रमा कर, वसिष्ठ जी तुरन्त वरुणलोक में गए ॥११॥

तमेव कालं मित्रोऽपि वरुणत्वमकारयत् ।
१क्षीरोदेन सहोपेतः पूज्यमानः *सुरेश्वरैः ॥१२॥

उस समय मित्र (सूर्य) भी वरुण-सहित समस्त देवताओं से पूज्य हो कर, वरुण के राज्य का शासन कर रहे थे ॥१२॥

एतस्मिन्नेव काले तु उर्वशीपरमाप्सराः ।
यदृच्छया तमुद्देशमागता सखिभिर्वृता ॥१३॥

इतने में अकस्मात् उर्वशी नाम की एक अप्सरा अपनी सखी सहेलियों को साथ लिए हुए वहाँ पहुँची ॥१३॥

तां दृष्ट्वा रूप-सम्पन्नां क्रीडन्तीं वरुणालये ।
तदा विशत्परो हर्षो वरुणं चोर्वशीकृते ॥१४॥

वरुणालय में अर्थात् समुद्र के तट पर उस रूपयौवनसम्पन्न उर्वशी को क्रीड़ा करते देख कर, वरुण ने हर्षित हो कर चाहा कि उसके साथ प्रीति (अर्थात् मैथुन) करें ॥१४॥

---

१ क्षीरोदेन—वरुणेन । (रा०)

* पाठान्तरे—"सुरोत्तमैः ।"

स तां पद्मपलाशाक्षीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
वरुणो वरयामास मैथुनायाप्सरोवराम् ॥१५॥

उस कमलनयनी, पूर्णचन्द्रानन्नी, श्रेष्ठ अप्सरा के साथ वरुण जी ने सम्भोग करना चाहा ॥१५॥

प्रत्युवाच ततः सा तु वरुणं प्राञ्जलिः स्थिता ।
मित्रेणाहं वृता साक्षात् पूर्वमेव सुरेश्वर ॥१६॥

तब वह अप्सरा हाथ जोड़ कर वरुण जी से बोली—हे सुरेश्वर ! मित्र देवता ने पहले ही से मुझसे कह रखा है अथवा मित्र देवता के साथ मैं पहिले ही प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ ॥१६॥

वरुणस्त्वब्रवीद्वाक्यं कन्दर्पशरपीडितः ।
इदं तेजः समुत्स्रक्ष्ये कुम्भेऽस्मिन् देवनिर्मिते ॥१७॥

यह सुन काम से पीड़ित वरुण जी ने कहा—यदि यही बात है तो मैं, तुझे देख कर क्षुब्ध होने के कारण, अपने वीर्य को इस देवनिर्मित घड़े में छोड़े देता हूँ ॥१७॥

एवमुत्सृज्य सुश्रोणि त्वय्यहं वरवर्णिनि ।
कृतकामो भविष्यामि यदि नेच्छसि सङ्गमम् ॥१८॥

हे सुन्दर नितंबोंवाली ! यदि तू मेरे साथ मैथुन करना नहीं चाहती तो मैं इस घट में वीर्य छोड़ अपनी कामभोग की लालसा को पूरी कर लूँगा ॥१८॥

तस्य तल्लोकनाथस्य वरुणस्य सुभाषितम् ।
उर्वशी परमप्रीता श्रुत्वा वाक्यमुवाच ह ॥१९॥

लोकनाथ वरुण के ये सुन्दर वचन सुन, उर्वशी ने अत्यन्त हर्षित हो कर कहा ॥१६॥

कामसेतद्भवत्वेवं हृदयं मे त्वयि स्थितम् ।
भावश्चाप्यधिकं स्तुभ्यं देहो मित्रस्य तु प्रभो ॥२०॥

बहुत अच्छा! आप ऐसा ही करें। यद्यपि मेरा शरीर इस समय मित्र के अधीन है तथापि मेरा मन आप ही में है ॥२०॥

उर्वश्या एवमुक्तस्तु रेतस्तन् महदद्भुतम् ।
ज्वलदग्निसमप्रख्यं तस्मिन् कुम्भे न्यवासृजत् ॥२१॥

जब उर्वशी ने यह कहा, तब वरुण ने अद्भुत और प्रज्वलित अग्नि के समान प्रकाशमान् अपना वीर्य उस घड़े में छोड़ दिआ ॥२१॥

उर्वशी त्वगमत्तत्र मित्रो वै यत्र देवता ।
तां तु मित्रः सुसंक्रुद्ध उर्वशीमिदमब्रवीत् ॥२२॥

उर्वशी वहाँ से मित्र देवता के पास गई। मित्र देवता उसे देखते ही क्रोध में भर कहने लगे ॥२२॥

मया निमन्त्रिता पूर्वं कस्मात्त्वमवसर्जिता ।
पतिमन्यं वृतवती *किमर्थं दुष्टचारिणि ॥२३॥

अरी दुष्टचारिणी! जबकि तुझे मैंने पहिले बुलाया था, तब तू मुझसे मिले बिना कहाँ चली गई थी? तूने दूसरे के साथ सम्भोग क्यों किआ? ॥२३॥

---

* पाठान्तरे—"तस्मात्त्वं।"

अनेन दुष्कृतेन त्वं मत्क्रोधकलुषीकृता ।
मनुष्यलोकमास्थाय कंचित् कालं निवत्स्यसि ॥२४॥

इस अपराध के कारण तू मेरे क्रोध से शापित हो कर, तुझे कुछ दिनों मृत्युलोक में जा कर रहना पड़ेगा ॥२४॥

बुधस्य पुत्रो राजर्षिः काशिराजः पुरूरवाः ।
तमभ्यागच्छ दुर्बुद्धे स ते भर्ता भविष्यति ॥२५॥

अरी कुबुद्धिनी ! बुध के पुत्र काशिराज राजर्षि पुरूरवा के पास तू चली जा । वह तेरा पति होगा ॥२५॥

ततः सा शापदोषेण पुरूरवसमभ्यगात् ।
प्रतिष्ठाने पुरुरवं बुधस्यात्मजमौरसम् ॥२६॥

इस तरह शाप पा कर, उर्वशी प्रतिष्ठानपुर में बुध के पुत्र महाराज पुरूरवा के पास चली गई ॥२६॥

तस्य जज्ञे ततः श्रीमानायुः पुत्रो महाबलः ।
नहुषो यस्य पुत्रस्तु बभूवेन्द्रसमद्युतिः ॥२७॥

पुरूरवा से उर्वशी के गर्भ से बड़े बलवान् राजा आयु उत्पन्न हुए । इन्द्र के समान कान्तिवाले राजा नहुष इन्हीं आयु के पुत्र थे ॥२७॥

वज्रमुत्सृज्य वृत्राय श्रान्तेऽथ *त्रिदिवेश्वरे ।
शतं वर्षसहस्राणि येनेन्द्रत्वं प्रशासितम् ॥२८॥

---

* पाठान्तरे—"त्रिदशेश्वरे ।"

जब इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्रासुर का वध किया और वे ब्रह्म-हत्या ग्रस्त हो गए, तब इन्हीं महाराज नहुष ने इन्द्रासन को एक लाख वर्षों तक सम्हाला और राज्य किया था ॥२८॥

सा तेन शापेन जगाम भूमिं
तदोर्वशी चारुदती सुनेत्रा ।
बहूनि वर्षाण्यवसच्च सुभ्रूः
शापक्षयादिन्द्रसदो ययौ च ॥२९॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ।

सुन्दर दांतों और सुन्दर नेत्रो वाली उर्वशी मित्र के शाप से मर्त्यलोक में आई और बहुत वर्षों तक मर्त्यलोक में रही। तदनन्तर शापक्षय होने पर, वह इन्द्रलोक में गई ॥२९॥

उत्तरकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—❀—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—❀—

तां श्रुत्वा दिव्यसङ्काशां कथामद्भुतदर्शनाम् ।
लक्ष्मणः परमप्रीतो राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

ऐसी अद्भुत और दिव्य कथा को सुन कर, लक्ष्मण जी परम प्रसन्न हो रघुनाथ जी से बोले ॥१॥

निक्षिप्तदेहौ काकुत्स्थ कथं तौ द्विजपार्थिवौ ।
पुनर्देहेन संयोगं जग्मतुर्देवसम्मतौ ॥२॥

हे राम ! जब उन देवसम्मानित ब्रह्मर्षि और राजा निमि ने अपने अपने शरीरों को त्याग दिया, तब फिर किस प्रकार उनको शरीर प्राप्त हुए ? ॥२॥

तस्य तद्भाषितं श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः ।
तां कथां कथयामास वसिष्ठस्य महात्मनः ॥३॥

लक्ष्मण के इस प्रश्न के उत्तर में सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी महात्मा वसिष्ठ जी की कथा इस प्रकार कहने लगे ॥३॥

यः स कुम्भो रघुश्रेष्ठ तेजःपूर्णो महात्मनोः ।
तस्मिंस्तेजोमयौ विप्रौ सम्भूतावृषिसत्तमौ ॥४॥

हे लक्ष्मण ! उस (देवनिर्मित) घड़े से, जो मित्रावरुण के वीर्य से हुआ था, दो तेजस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हुए ॥४॥

पूर्वं समभवत्तत्र अगस्त्यो भगवानृषिः ।
नाहं सुतस्तवेत्युक्त्वा मित्रं तस्मादपाक्रमत् ॥५॥

प्रथम तो उसमें से महर्षि अगस्त्य जी निकले और निकलते ही मित्र से बोले कि "मैं तेरा पुत्र नहीं हूँ ।" यह कह वे वहाँ से चले गए ॥५॥

तद्धि तेजस्तु मित्रस्य उर्वश्या पूर्वमाहितम् ।
तस्मिन् समभवत् कुम्भे तत्तेजो यत्र वारुणम् ॥६॥

हे लक्ष्मण ! यह वीर्य वही था, जो उर्वशी को लक्ष्य कर घड़े में रखा गया था । परन्तु था वरुण जी का ॥६॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य मित्रावरुणसंभवः ।
वसिष्ठस्तेजसा युक्तो जज्ञे इक्ष्वाकुदैवतम् ॥७॥

इसीसे कुछ दिनों बाद अत्यंत तेजस्वी इक्ष्वाकुकुलपूज्य वसिष्ठ जी उत्पन्न हुए ॥७॥

तमिक्ष्वाकुर्महातेजा जातमात्रमनिन्दितम् ।
वव्रे पुरोधसं सौम्य वंशस्यास्य हिताय नः ॥८॥

उन आनन्दित वसिष्ठ जी के उत्पन्न होते ही महाराज इक्ष्वाकु ने उनसे कहा—हे सौम्य ! आप मेरे वंश के कल्याण के लिए, मेरे कुलपुरोहित हूजिए ॥८॥

एवं त्वपूर्वदेहस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ।
कथितो निर्गमः सौम्य निमेः शृणु यथाभवत् ॥९॥

हे लक्ष्मण ! इस प्रकार तो महात्मा वसिष्ठ जी को नवीन शरीर प्राप्त हुआ । हे सौम्य ! अब निमि का वृत्तान्त सुनो ॥९॥

दृष्ट्वा विदेहं राजानमृषयः सर्व एव ते ।
तं च ते योजयामासुर्यज्ञदीक्षां मनीषिणः ॥१०॥

महाराज निमि को शरीररहित देख, बुद्धिमान ऋषिगण उनके उसी शरीर से यज्ञदीक्षा पूरी कराने लगे ॥१०॥

तं च देहं नरेन्द्रस्य रक्षन्ति स्म द्विजोत्तमाः ।
गन्धैर्माल्यैश्च वस्त्रैश्च पौरभृत्यसमन्विताः ॥११॥

उन ऋषियों ने पुरवासियों और राजा के नौकरों चाकरों की सहायता से राजा निमि के प्राणहीन शरीर की गन्ध, फूल और कपड़ों से तथा विविध प्रकार से रक्षा की ॥११॥

ततो यज्ञे समाप्ते तु भृगुस्तत्रेदमब्रवीत् ।
आनयिष्यामि ते चेतस्तुष्टोऽस्मि तव पार्थिव ॥१२॥

जब यज्ञ पूरा हो चुका, तब भृगु जी ने राजा निमि से कहा--हे राजन् ! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ । अतएव मैं तुम्हारे इस शरीर में चेतना डाल दूँगा अर्थात् तुम्हें पुनः जीवित कर दूँगा ॥१२॥

सुप्रीताश्च सुराः सर्वे निमेश्चेतस्तदाऽब्रुवन् ।
वरं वरय राजर्षे क्व ते चेतो निरूप्यताम् ॥१३॥

उधर सब देवता भी वहाँ उपस्थित हो राजा निमि से बोले—हे राजर्षे ! वर माँगिए ! कि, तुम्हारा जीव कहाँ रखा जाय ॥१३॥

एवमुक्तः सुरैःसर्वैर्निमेश्चेतस्तदाब्रवीत् ।
नेत्रेषु सर्वभूतानां वसेयं सुरसत्तमाः ॥१४॥

इस प्रकार समस्त देवताओं का वचन सुन, निमि की आत्मा ने कहा—हे देवताओं ! मैं तो समस्त प्राणियों के नेत्रों पर रहना चाहता हूँ ॥१४॥

बाढमित्येव विबुधा निमेश्चेतस्तदाऽब्रुवन् ।
नेत्रेषु सर्वभूतानां वायुभूतश्चरिष्यसि ॥१५॥

यह प्रार्थना सुन कर, देवताओं ने राजा निमि से कहा—बहुत अच्छा तुम वायुरूप हो कर प्राणियों के नेत्रों में विचरोगे ॥१५॥

त्वत्कृते च निमिष्यन्ति चक्षूंषि पृथिवीपते ।
वायुभूतेन चरता विश्रामार्थं मुहुर्मुहुः ॥१६॥

हे पृथिवीनाथ ! वायु के रूप में प्राणियों के नेत्रों में, तुम्हारे विचरने से, उनके नेत्र, विश्राम करने के लिए, बार बार बंद होंगे ॥१६॥

एवमुक्त्वा तु विबुधाः सर्वे जग्मुर्यथा गतम् ।
ऋषयोऽपि महात्मानो निमेर्देहं समाहरन् ॥१७॥

यह कह कर, समस्त देवता अपने अपने स्थानों को चले गए। तब महात्मा ऋषियों ने हवन के मंत्रों को पढ़ पढ़ कर, निमि के प्राणहीन शरीर को अरणी (मथानी) बना कर मथा ॥१७॥

अरणिं तत्र निक्षिप्य मथनं चक्रुरोजसा ।
मन्त्रहोमैर्महात्मानः पुत्रहेतोर्निमेस्तदा ॥१८॥
अरण्यां मथ्यमानायां प्रादुर्भूतो महातपाः ।
मथनात् मथिरित्याहुर्जननाज्जनको भवत् ॥१९॥

जब अरणि द्वारा शरीर मथा, तब उससे एक महातपस्वी पुरुष उत्पन्न हुआ। मथन करने से उत्पन्न होने के कारण, उनका नाम मिथि और जनने अर्थात् ऋषियों द्वारा प्रकट किए जाने के कारण उसीका नाम जनक भी पड़ा ॥१८॥१९॥

यस्माद्विदेहात्सम्भूतो वैदेहस्तु ततः स्मृतः ।
एवं विदेहराजश्च जनकः पूर्वकोऽभवत् ।
मिथिर्नाम महातेजास्तेनायं मैथिलोऽभवत् ॥२०॥

चेतनाशून्य शरीर से उत्पन्न होने के कारण उस पुरुष का एक नाम विदेह भी हुआ। इस प्रकार विदेहराज जनक की प्रथम उत्पत्ति हुई। उन्हीं महातेजस्वी मिथि के वंश के राजा लोग मैथिल कहलाए ॥२०॥

[इति सर्वमशेषतो मया
कथितं संभवकारणं तु सौम्य ।

नृपपुङ्गवशापजं द्विजस्य
द्विजशापाच्च यदद्भुतं नृपस्य] ॥२१॥

इति सप्तपंचाशः सर्गः

हे लक्ष्मण ! मैंने ऋषि वसिष्ठ के शाप से राजा निमि का और राजा निमि के शाप से ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठ जी का विदेह होना तथा पुनः उन दोनों का अद्भुत शरीर प्राप्त करना विस्तार पूर्वक तुमको सुनाया ॥२१॥

उत्तरकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—:*:—

एवं ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणः परवीरहा ।
प्रत्युवाच महात्मानं ज्वलन्तमिव तेजसा ॥१॥

जब इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने कहा; तब शत्रुहन्ता लक्ष्मण जी तेजस्वी महात्मा श्रीरामचन्द्र जी से पुनः कहने लगे ॥१॥

महदद्भुतमाश्चर्यं विदेहस्य पुरातनम् ।
*निर्वृत्तं राजशार्दूल वसिष्ठस्य मुनेश्च ह ॥२॥

हे राजशार्दूल ! यह विदेहराज की पुरातन कथा जिसमें वसिष्ठ मुनि जी की कथा का भी प्रसङ्ग है, अत्यन्त विस्मयकारिणी है ॥२॥

निमिस्तु क्षत्रियः शूरो विशेषेण च दीक्षितः ।
न क्षमां† कृतवान् राजा वसिष्ठस्य महात्मनः ॥३॥

* पाठान्तरे—"निवृत्तं ।" †पाठान्तरे—"क्षमां ।"

परन्तु मैं पूँछता हूँ कि, राजा निमि तो क्षत्रिय, शूरवीर और विशेष कर, उस समय यज्ञदीक्षा लिए हुए थे। उन्होंने महर्षि वसिष्ठ को क्षमा क्यों नहीं किया ? ॥३॥

[टिप्पणी—धर्मानुष्ठान में दीक्षा लिए हुए को क्रोध करना वर्जित है। क्योंकि क्रोध करने से धर्मानुष्ठान नष्ट हो जाता है।]

एवमुक्तस्तु तेनायं *रामः क्षत्रियपुङ्गवः ।
उवाच लक्ष्मणं वाक्यं सर्वशास्त्रविशारदम् ॥४॥

क्षत्रियों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी इस प्रकार पूँछे जाने पर, सर्वशास्त्रज्ञाता लक्ष्मण जी से बोले ॥४॥

रामो रमयतां श्रेष्ठो भ्रातरं दीप्ततेजसम् ।
न सर्वत्र क्षमा वीर पुरुषेषु प्रदृश्यते ॥५॥

आनन्दप्रदों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने अपने तेजस्वी भाई लक्ष्मण से कहा—हे वीर! सब पुरुषों में क्षमा नहीं हुआ करती अर्थात् सब लोग क्रोध को नहीं जीत सकते ॥५॥

सौमित्रे दुःसहो रोषो यथा क्षान्तो ययातिना ।
सत्त्वानुगं पुरस्कृत्य तं निबोध समाहितः ॥६॥

हे लक्ष्मण! क्रोध बड़ा दुस्सह होता है। देखो सतोगुणी राजा ययाति ने अपने क्रोध को उभरने नहीं दिआ था। उस कथा को मैं कहता हूँ, तुम मन लगा कर सुनो ॥६॥

नहुषस्य सुतो राजा ययातिः पौरवर्धनः ।
तस्य भार्याद्वयं सौम्य रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥७॥

राजा ययाति महाराज नहुष के पुत्र थे। वे प्रजा का पालन करने और प्रजाजनों की सुखसम्पत्ति बढ़ाने में सदा तत्पर रहा

* पाठान्तरे—"श्रीमान् ।"

करते थे। हे लक्ष्मण ! इस भूमण्डल पर सब से अधिक रूपवती उनकी पत्नियाँ थीं ॥७॥

एका तु तस्य राजर्षेर्नाहुषस्य पुरस्कृता।
शर्मिष्ठा नाम दैतेयी[1] दुहिता वृषपर्वणः ॥८॥

एक का नाम तो शर्मिष्ठा था, जो दिति की पौत्री नातिन और वृषपर्वा दैत्य की बेटी थी। वह राजा को बड़ी प्यारी थी॥८॥

अन्या तूशनसः पत्नी ययातेः पुरुषर्षभ।
न तु सा दयिता राज्ञो देवयानी सुमध्यमा ॥९॥

दूसरी शुक्राचार्य की बेटी थी। उसका नाम देवयानी था। यह सुमध्यमा उस राजा को उतनी प्यारी न थी ॥९॥

तयोः पुत्रौ तु सम्भूतौ रूपवन्तौ समाहितौ।
शर्मिष्ठाऽजनयत् पूरुं देवयानी यदुं तदा ॥१०॥

उन दोनों के रूपवान दो पुत्र हुए। शर्मिष्ठा के गर्भ से पूरु और देवयानी के गर्भ से यदु का जन्म हुआ ॥१०॥

पूरुस्तु दयितो राज्ञो गुणैर्मातृकृतेन च।
ततो दुःखसमाविष्टो यदुर्मातरमब्रवीत् ॥११॥

माता के समान गुणवान् होने के कारण राजा का अपने राजकुमार पूरु पर विशेष स्नेह था। यह देख, बहुत दुःखी हो दूसरे राजकुमार यदु ने अपनी माता से कहा ॥११॥

भार्गवस्य कुले जाता देवस्याक्लिष्टकर्मणः।
सहसे हृद्गतं दुःखमवमानं च दुःसहम् ॥१२॥

---

१ दैतेयी—दितेः पौत्री। (गो०)

हे माता ! तू ऐसा सामर्थ्यवान् भार्गवदेव के कुल में उत्पन्न हो कर भी, ऐसा असह्य मानसिक क्लेश और अनादर सहती है ॥१२॥

आवां च सहितौ देवि प्रविशाव हुताशनम् ।
राजा तु रमतां सार्धं दैत्यपुत्र्या बहुक्षपाः ॥१३॥

(इसकी अपेक्षा तो) हे देवि ! आओ तू और मैं दोनों अग्नि में कूद पड़ें। फिर राजा दैत्य की पुत्री के साथ बेखटके विहार किया करें ॥१३॥

यदिवा सहनीयं ते मामनुज्ञातुमर्हसि ।
क्षम त्वं न क्षमिष्येऽहं मरिष्यामि न संशयः ॥१४॥

और यदि तुझको यह क्लेश और अपमान सहना पसन्द हो तो तू सह। किन्तु मुझे आज्ञा दे। क्योंकि मुझसे तो यह नहीं सहा जाता। मैं तो निस्सन्देह अपने प्राण दे दूँगा ॥१४॥

पुत्रस्य भाषितं श्रुत्वा परमार्तस्य रोदतः ।
देवयानी तु संक्रुद्धा सस्मार पितरं तदा ॥१५॥

इस प्रकार परम दुःखी एवं रोते हुए पुत्र के वचन सुन कर, देवयानी क्रुद्ध हो, ध्यान द्वारा अपने पिता को स्मरण करने लगी ॥१५॥

[१]इङ्गितं तदभिज्ञाय दुहितुर्भार्गवस्तदा ।
आगतस्त्वरितं तत्र देवयानी स्म यत्र सा ॥१६॥

अपनी बेटी को दुःखी और कुपित जान, उसके स्मरण करते ही, शुक्र महराज वहाँ पहुँचे, जहाँ उनकी बेटी थी ॥१६॥

---

१ इंगितं—सखेदरोषप्रभावं । (गो०)

दृष्ट्वा चाप्रकृतिस्थां तामप्रहृष्टामचेतनाम् ।
पिता दुहितरं वाक्यं किमेतदिति चाब्रवीत् ॥१७॥

देवयानी को अस्वस्थ, दुःखी और क्षुब्ध देख कर, शुक्र जी अपनी बेटी से बोले—बेटी ! तेरी यह क्या दशा है ? ॥१७॥

पृच्छन्तमसकृत्तं वै भार्गवं दीप्तचेतसम् ।
देवयानी तु संक्रुद्धा पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥१८॥

जब उन महातेजस्वी भार्गव ने कई बार पूँछा, तब देवयानी क्रुद्ध हो कर बोली ॥१८॥

अहमग्निं विषं तीक्ष्णमपो वा मुनिसत्तम ।
भक्षयिष्ये *प्रवेक्ष्ये वा न तु शक्ष्यामि जीवितुम् ॥१९॥

हे मुनिसत्तम ! मैं आग में कूद कर या तीक्ष्ण विषपान कर अथवा जल में डूब कर, मर जाऊँगी । अब मैं किसी प्रकार जी नहीं सकती ॥१९॥

न मां त्वमवजानीषे दुःखितामवमानिताम् ।
वृक्षस्यावज्ञया ब्रह्मंश्छिद्यन्ते वृक्षजीविनः ॥२०॥

तुमको नहीं मालूम कि, मैं कितनी दुःखी हूँ और मेरा यहाँ कैसा अनादर होता है । हे ब्रह्मन् ! वृक्ष के कटने से वृक्षजीवी फूलों फलों की जो दशा होती है, वही दशा मेरे पुत्रों की होगी । अथवा जैसे वृक्ष के कटने पर उसके आश्रित फल फूल भी मुरझा जाते हैं, वैसे ही मेरे अनादर से मेरे सन्तान का भी अनादर है ॥२०॥

---

* पाठान्तरे—"प्रविक्ष्यामि ।"

अवज्ञया च राजर्षिः परिभूय च भार्गव ।
मय्यवज्ञां प्रयुंक्ते हि न च मां बहुमन्यते ॥२१॥

हे भार्गव ! वह अनादर यह है कि राजर्षि ययाति मेरा बड़ा तिरस्कार करता है और मुझे मानता भी नहीं ॥२१॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा *कोपेनाभिपरीवृतः ।
व्याहर्तुमुपचक्राम भार्गवो नहुषात्मजम् ॥२२॥

अपनी बेटी के यह वचन सुन कर और क्रोध में भर, भार्गव ने नहुषपुत्र राजा ययाति के लिए यह (शापयुक्त) वचन कहे ॥२२॥

यस्मान्मामवजानीषे नाहुष त्वं दुरात्मवान् ।
वयसा जरया जीर्णः शैथिल्यमुपयास्यसि ॥२३॥

अरे दुरात्मा नहुषपुत्र तूने मेरा अनादर किया है । अतः तुझे अभी बुढ़ापा आ घेरेगा । तेरे समस्त अङ्ग शिथिल हो जायँगे ॥२३॥

एवमुक्त्वा दुहितरं समाश्वास्य स भार्गवः ।
पुनर्जगाम ब्रह्मर्षिर्भवनं स्वं महायशाः ॥२४॥

इस प्रकार राज को शाप दे कर और देवयानी को समझा बुझा कर, तेजस्वी शुक्र महाराज अपने भवन को सिधारे ॥२४॥

स एवमुक्त्वा द्विजपुङ्गवाग्र्यः
सुतां समाश्वास्य च देवयानीम् ।

---

* पाठान्तरे—"कोपेनाभिपरिप्लुतः ।"

पुनर्ययौ सूर्यसमानतेजा
दत्त्वा च शापं नहुषात्मजाय ॥२५॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

सूर्य के समान तेजस्वी एवं द्विजश्रेष्ठ भार्गव जी इस प्रकार कह और अपनी पुत्री देवयानी को धीरज बँधा और नहुष के पुत्र राजा ययाति को शाप दे, वहाँ से चल दिए ॥२५॥

उत्तरकाण्ड का अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—:o:—

श्रुत्वा तूशनसं क्रुद्धं तदार्तो नहुषात्मजः ।
जरां परमिकां प्राप्य यदुं वचनमब्रवीत् ॥१॥

नहुषपुत्र राजा ययाति शुक्र जी को कुपित सुन कर, बड़े दुःखी हुए और बुढ़ापे से घिर कर अपने पुत्र यदु से कहने लगे ॥ १ ॥

यदो त्वमसि धर्मज्ञ मदर्थं प्रतिगृह्यताम् ।
जरां परमिकां पुत्र भोगै रंस्ये महायशः ॥२॥

हे बेटा यदु ! तू धर्मज्ञ है, अतः तू मेरा यह बुढ़ापा ले ले (और अपनी जवानी मुझे दे दे) जिससे मैं आनन्द से बिहार करूँ। क्योंकि विषय-भोग से अभी तक मेरी तृप्ति नहीं हुई है ॥२॥

न तावत्कृतकृत्योऽस्मि विषयेन नरर्षभ ।
अनुभूय तदा कामं ततः प्राप्स्याम्यहं जराम् ॥३॥

हे नरश्रेष्ठ ! जब तक मैं विषयभोग से तृप्त न हो जाऊँ, तब तक मैं कामक्रीड़ा कर, पीछे तुझसे अपना बुढ़ापा लौटा लूँगा ॥३॥

यदुस्तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच नरर्षभम् ।
पुत्रस्ते दयितः पूरुः प्रतिगृह्णातु वै जराम् ॥४॥

राजा के वचन सुन कर, यदु ने नृपश्रेष्ठ ययाति से कहा—तुम्हारा तो प्यारा पुत्र पूरु है, वही तुम्हारा बुढ़ापा लेगा ॥४॥

वहिष्कृतोहमर्थेषु सन्निकर्षाच्च पार्थिव ।
प्रतिगृह्णातु वै राजन् यैः सहाश्नासि भोजनम् ॥५॥

क्योंकि हे राजन् ! तुमने तो मुझको अपने पास रहने तक से तथा सब पदार्थों से बहिष्कृत कर रखा है, तुम्हार बुढ़ापा तो वह लेगा, जो तुम्हारे साथ खाता पीता है ॥५॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजा पूरुमथाब्रवीत् ।
इयं जरा महाबाहो मदर्थं प्रतिगृह्यताम् ॥६॥

यदु के ऐसे वचन सुन कर राजा ययाति ने (अपने दूसरे पुत्र) पूरु से कहा—हे महाबाहो ! मेरी प्रसन्नता सम्पादन करने के लिए तुम यह मेरा बुढ़ापा ले लो ॥६॥

नाहुषेणैव मुक्तस्तु पूरुः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
धन्योस्म्यनुगृहीतोस्मि शासनेऽस्मि तव स्थितः ॥७॥

राजा का यह वचन सुनते ही पूरु हाथ जोड़ कर बोला—मेरे अहोभाग्य ! मैं आपका अनुगृहीत हुआ । आपकी आज्ञा (सहर्ष) मुझे शिरोधार्य है ॥७॥

पूरोर्वचनमाज्ञाय नाहुषः परया मुदा ।
प्रहर्षमतुलं लेभे जरां संक्रामयच्च ताम् ॥८॥

पूरु के वचन सुन कर, राजा ययाति परम प्रसन्न और सुखी हुए । उन्होंने अपना बुढ़ापा पूरु को दे दिया ॥८॥

ततः स राजा तरुणः प्राप्य यज्ञान् सहस्रशः ।
बहुवर्षसहस्राणि पालयामास मेदिनीम् ॥९॥

और उसका यौवन ले राजा ययाति ने हज़ारों वर्षों तक पृथिवी का शासन करते हुए, सहस्रों यज्ञ किए ॥९॥

अथ दीर्घस्य कालस्य राजा पूरुमथाब्रवीत् ।
आनयस्व जरां पुत्र न्यासं निर्यातयस्व मे ॥१०॥

बहुत दिनों बाद राजा ययाति ने अपने पुत्र पूरु से कहा, मेरा बुढ़ापा अब तुम मुझे दे दो, जिसे मैंने तुम्हारे पास धरोहर की भाँति रख दिया था ॥१०॥

न्यासभूता मया पुत्र त्वयि संक्रामिता जरा ।
तस्मात् प्रतिग्रहीष्यामि तां जरां मा व्यथां कृथाः ॥११॥

हे बेटा ! मैंने तुम्हारे पास धरोहर की तरह बुढ़ापा रख दिया था । सो अब मैं उसे ले लूँगा । अतः इसके लिए तुम दुःखी मत होना ॥११॥

प्रीतश्चास्मि महाबाहो शासनस्य प्रतिग्रहात् ।
त्वां चाहमभिषेक्ष्यामि प्रीतियुक्तो नराधिपम् ॥१२॥

हे महाबाहो! तुमने मेरी आज्ञा मान ली, अतएव मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ और प्रसन्न होकर, मैं अब राजसिंहासन पर तुम्हारा अभिषेक करूँगा ॥१२॥

एवमुक्त्वा सुतं पूरुं ययातिर्नहुषात्मजः ।
देवयानीसुतं क्रुद्धो राजा वाक्यमुवाच ह ॥१३॥

नहुषपुत्र ययाति ने अपने पुत्र पूरु से इस प्रकार कह कर, देवयानी के पुत्र यदु से कुपित हो कहा ॥१३॥

राक्षसस्त्वं मया जातः *क्षत्ररूपो दुरासदः ।
प्रतिहंस ममाज्ञां† त्वं १प्रजार्थे विफलो भव ॥१४॥

अरे नीच! तू मेरे औरस से क्षत्रिय रूप में कोई दुर्धर्ष राक्षस उत्पन्न हुआ है। इसीसे तूने मेरी आज्ञा नहीं मानी। आज्ञा न मानने के कारण तू कभी भी राजा न हो सकेगा ॥१४॥

पितरं गुरुभूतं मां यस्मात्त्वमवमन्यसे ।
राक्षसान् यातुधानांस्त्वं जनयिष्यसि दारुणान् ॥१५॥

मैं तेरा पिता हूँ और तेरा पूज्य हूँ। तिस पर भी तूने मेरी अवज्ञा की है। अतएव तू राक्षसों और दुर्धर्ष पिशाचों को पैदा करेगा ॥१५॥

न तु सोमकुलोत्पन्ने वंशे स्थास्यति दुर्मतेः ।
वंशोपि भवतस्तुल्यो दुर्विनीतो भविष्यति ॥१६॥

हे दुर्मते! तू सोमकुल में उत्पन्न होने पर भी इस वंश में न रह सकेगा। तेरे सन्तान भी तेरे जैसे ही दुष्टचरित्र होंगे अथवा

---

१ प्रजार्थे विफलो भव—राज्याधिपत्यरहितो भवेत्यर्थः। (रा०)
* पाठान्तरे—"पुत्ररूपो।" † पाठान्तरे—"यत्प्रजार्थे।"

तेरे सन्तान जो राक्षसी स्वभाव के होंगे, वे नाम मात्र के क्षत्रिय होंगे, किन्तु वे राज्याभिषिक्त न हो सकेंगे। क्योंकि तेरे सन्तान तेरे ही जैसे दुर्विनीत होंगे ॥१६॥

तमेवमुक्त्वा राजर्षिः पूरुं राज्यविवर्धनम्।
अभिषेकेण सम्पूज्य आश्रमं प्रविवेश ह ॥१७॥

राजर्षि ययाति इस प्रकार यदु को शाप दे और राज बढ़ाने वाले पूरु को राज्याभिषिक्त कर, स्वयं वानप्रस्थ आश्रमी हो गए ॥१७॥

ततः कालेन महता दिष्टान्तमुपजग्मिवान्।
त्रिदिवं स गतो राजा ययातिर्नहुषात्मजः ॥१८॥

इस घटना के बहुत दिनों बाद, समय आ जाने पर, राजा ययाति स्वर्ग सिधारे ॥१८॥

पूरुश्चकार तद्राज्यं धर्मेण महता वृतः।
प्रतिष्ठाने पुरवरे काशिराज्ये महायशाः ॥१९॥

पूरु धर्मपूर्वक राज्य करने लगे। काशीराज्य के निकट प्रतिष्ठानपुर में महायशस्वी राजा पूरु राज्य करने लगे ॥१९॥

[टिप्पणी—प्रयाग के पूर्व गंगा पार जो स्थान झूसी के नाम से आजकल प्रसिद्ध है, उसीका प्राचीन नाम प्रतिष्ठानपुर है।]

यदुस्तु जनयामास यातुधानान् सहस्रशः।
पुरे क्रौञ्चवने दुर्गे राजवंशबहिष्कृते ॥२०॥

(राजा ययाति के शापानुसार) यदु सोमवंश से बहिष्कृत हो गया। वह क्रौंचवन के दुर्गपुर में जा बसा और वहाँ उसके हज़ारों यातुधान (पिशाच) सन्तान पैदा हुए ॥२०॥

एष तूशनसा मुक्तः शापोत्सर्गो ययातिना ।
धारितः क्षत्रधर्मेण यं निमिश्चक्षमे न च ॥२१॥

हे लक्ष्मण ! इस प्रकार शुक्राचार्य के शाप को राजा ययाति ने तो क्षत्रियधर्म के अनुरोध से चुपचाप स्वीकार कर लिया, किन्तु राजा निमि क्षमा न कर सके ॥२१॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं दर्शनं सर्वकारिणाम् ।
अनुवर्तामहे सौम्य दोषो न स्याद्यथा नृगे ॥२२॥

हे सौम्य ! यह पुरानी समस्त कथाएँ मैंने तुमको सुना दीं। अतः हमको इस प्रकार से बर्तना चाहिए, जिससे राजा नृग की तरह हमारे ऊपर कोई (कार्यार्थी) दोषारोपण न कर सके ॥२२॥

इति कथयति रामे चन्द्रतुल्याननेन
प्रविरलतरतारं व्योम जज्ञे तदानीम् ।
अरुणकिरणरक्ता दिग्बभौ चैव पूर्वा
कुसुमरसविमुक्तं वस्त्रमागुण्ठितेव ॥२३॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः ॥

चन्द्रमुख श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार कथाएँ कहते कहते रात हो गई; आकाश में तारागण छिटके से देख पड़ने लगे। (चन्द्रोदय होने से) पूर्वदिशा लाल हो गई, मानों कोई स्त्री कुसुमी रंग की साड़ी पहिने हुए हो ॥२३॥

उत्तरकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।
[इसके आगे पुनः तीन सर्ग प्रक्षिप्त हैं]

—:*:—

प्रक्षिप्तेषु प्रथमः सर्गः

—:०:—

ततः प्रभाते विमले कृत्वा पौर्वाह्निकीं क्रियाम् ।
धर्मासनगतो राजा रामो राजीवलोचनः ॥१॥

सबेरा होते ही और प्रातःकालीन सब कृत्यों से निश्चिन्त हो, राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी न्यायासन पर जा बिराजे ॥१॥

राजधर्मानवेक्षन्वै ब्राह्मणैर्नैगमैः सह ।
पुरोधसा वसिष्ठेन ऋषिणा कश्यपेन च ॥२॥

वेदशास्त्रज्ञाता पुरोहित वसिष्ठ और कश्यप ऋषि जी के साथ साथ (अथवा इन दोनों के परामर्श से अथवा इन दो को जूरी बना) श्रीरामचन्द्र जी अभियोगों को निपटारा करते थे ॥२॥

मन्त्रिभिर्व्यवहारज्ञैस्तथाऽन्यैर्धर्मपाठकैः* ।
नीतिज्ञैरथ सभ्यैश्च राजभिः सा सभा वृता ॥३॥

आईन जानने वाले मंत्री तथा धर्मशास्त्रवेत्ता, नीतिशास्त्रवेत्ता सदस्यों एवं सामन्तों से वह न्यायालय भरा हुआ था ॥३॥

सभा यथा महेन्द्रस्य यमस्य वरुणस्य च ।
शुशुभे राजसिंहस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥४॥

जैसी न्यायसभा (अर्थात् न्यायालय) इन्द्र, यम, वरुण की है, वैसी ही अक्लिष्टकर्मा राजसिंह श्रीरामचन्द्र जी की न्यायसभा सुशोभित थी ॥४॥

---

* पाठान्तरे—"धर्मपारगैः ।"

अथ रामोऽब्रवीत्तत्र लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
निर्गच्छ त्वं महाबाहो सुमित्रानन्दवर्धन ॥५॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मण जी से बोले हे महाबाहो ! हे सुमित्रानन्दवर्द्धन ! तुम बाहिर जाओ ॥५॥

कार्यार्थिनश्च सौमित्रे व्याहर्तुं त्वमुपाक्रम ।
रामस्य भाषितं श्रुत्वा लक्ष्मणः शुभलक्षणः ॥६॥

और हे सौमित्रे ! जो कार्यार्थी बाहिर हों, उन्हें यहाँ लिवा लाओ। शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा पा कर, ॥६॥

द्वारदेशमुपागम्य कार्यिणश्चाह्वयत्स्वयम् ।
न कश्चिदब्रवीत्तत्र मम कार्यमिहाद्य वै ॥७॥

द्वार पर गए और स्वयं कार्यार्थियों को बुलाने लगे; परन्तु वहाँ एक भी कार्यार्थी यह न बोला कि, मेरा अमुक काम है ॥७॥

नाधयो व्याधयश्चैव रामे राज्यं प्रशासति ।
पक्वसस्या वसुमती सर्वौषधिसमन्विता ॥८॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के राज्य में कोई भी आधिव्याधि से पीड़ित न था। सारी पृथिवी पके हुए अन्न और ओषधियों से भरी पूरी थी ॥८॥

न बालो म्रियते तत्र न युवा न च मध्यमः ।
धर्मेण शासितं सर्वं न च बाधा विधीयते ॥९॥

श्रीरामराज्य में बालक, बूढ़ा, युवा—कोई भी मरता न था। सब कोई धर्मद्वारा शासित होते थे। अतः किसी को कुछ कष्ट ही न था ॥९॥

दृश्यते न च कार्यार्थी रामे राज्यं प्रशासति ।
लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा रामायैवं न्यवेदयत् ॥१०॥

इस प्रकार के धर्मराज्य में कार्यार्थी (फरियादी) कहाँ से आते ; अतः लक्ष्मण जी ने हाथ जोड़ कर, यह वृत्तान्त श्रीरामचंद्र जी से निवेदन किया ॥१०॥

अथ रामः प्रसन्नात्मा सौमित्रिमिदमब्रवीत् ।
भूय एव तु गच्छ त्वं कार्यिणः प्रविचारय ॥११॥

इस पर पुनः श्रीरामचन्द्र जी ने प्रसन्न हो कर (लक्ष्मण से) कहा, हे लक्ष्मण ! तुम एक बार फिर जाओ और कार्यार्थियों को ढूँढ़ो ॥११॥

सम्यक्प्रणीतया नीत्या नाधर्मो विद्यते क्वचित् ।
तस्माद्राजभयात्सर्वे रक्षन्तीह परस्परम् ॥१२॥

राजनीति से यथोचित काम लेने पर अन्याय अथवा अधर्म कहीं ठहर नहीं सकता, क्योंकि (नीतिवान) राजा के भय से सब लोग स्वयं ही आपस में एक दूसरे की रक्षा करने लगते हैं ॥१२॥

बाणा इव मया मुक्ता इह रक्षन्ति मे प्रजाः ।
तथापि त्वं महाबाहो प्रजा रक्षस्व तत्परः ॥१३॥

हे लक्ष्मण ! देखो, यद्यपि राजधर्म मेरे हाथ से छूटे हुए बाणों की तरह, प्रजा की रक्षा करता है; तथापि तुम उनकी देखभाल करते रहो ॥१३॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिर्निर्जगाम नृपालयात् ।
अपश्यद्द्वारदेशे वै श्वानं तावदवस्थितम् ॥१४॥

यह सुन कर, लक्ष्मण जी राजमन्दिर के बाहिर आए और वहाँ द्वार पर बैठे हुए एक कुत्ते को देखा ॥१४॥

तमेवं वीक्षमाणो वै विक्रोशन्तं मुहुर्मुहुः ।
दृष्ट्वाऽथ लक्ष्मणस्तं वै पप्रच्छाथ स वीर्यवान् ॥१५॥

वह कुत्ता खड़ा हुआ लक्ष्मण की ओर देखने लगा तथा बारंबार चिल्ला चिल्ला कर रोने लगा। तब महाबली लक्ष्मण जी ने उससे पूँछा ॥१५॥

किं ते कार्यं महाभाग ब्रूहि विस्रब्धमानसः ।
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा सारमेयोऽभ्यभाषत ॥१६॥

हे महाभाग ! तुम्हारा क्या कार्य है ? तुम निडर हो कर, मुझसे कहो। लक्ष्मण जी के यह वचन सुन, वह कुत्ता कहने लगा ॥१६॥

सर्वभूतशरण्याय रामायाक्लिष्टकर्मणे ।
भयेष्वभयदात्रे च तस्मै वक्तुं समुत्सहे ॥१७॥

सब प्राणियों के रक्षक, अक्लिष्टकर्मकारी और भयभीतों को अभय करने वाले श्रीरामचन्द्र जी से मुझे कुछ कहना है ॥१७॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं सारमेयस्य लक्ष्मणः ।
राघवाय तदाख्यातुं प्रविवेशालयं शुभम् ॥१८॥

कुत्ते का यह वचन सुन, लक्ष्मण श्रीरामचन्द्र जी से निवेदन करने के लिए, पुनः राजभवन में गए ॥१८॥

निवेद्य रामस्य पुनर्निर्जगाम नृपालयात् ।
वक्तव्यं यदि ते किञ्चित्तत्वं ब्रूहि नृपाय वै ॥१९॥

श्रीरामचन्द्र जी से निवेदन कर, पुनः राजभवन के बाहिर आ कर, कुत्ते से बोले—तुमको जो कुछ कहना हो चलकर महाराज से ठीक ठीक कहना ॥१६॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा सारमेयोऽभ्यभाषत ।
देवागारे नृपागारे द्विजवेश्मसु वै तथा ॥२०॥

लक्ष्मण जी का यह वचन सुन, कुत्ता कहने लगा—देवता के मन्दिर में, राजा के भवन में और ब्राह्मण के घर में ॥२०॥

वह्निः शतक्रतुश्चैव सूर्यो वायुश्च तिष्ठति ।
नात्र योग्यास्तु सौमित्रे योनीनामधमा वयम् ॥२१॥

अग्नि, इन्द्र, सूर्य और वायु रहते हैं। अतः हे लक्ष्मण! ऐसी जगहों में हम जैसे अधम जीवों का प्रवेश निषिद्ध है ॥२१॥

प्रवेष्टुं नात्र शक्ष्यामि धर्मो विग्रहवान्नृपः ।
सत्यवादी रणपटुः *सर्वसत्वहिते रतः ॥२२॥

अतएव मैं वहाँ नहीं जा सकता। क्योंकि राजा शरीरधारी साक्षात् धर्म है। फिर श्रीरामचन्द्र जी तो सत्यवादी, रण में दक्ष और समस्त प्राणियों के हित में तत्पर रहने वाले हैं ॥२२॥

षाड्गुण्यस्य पदं वेत्ति नीतिकर्ता स राघवः ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च रामो रमयतांवरः ॥२३॥

श्रीरामचन्द्र जी षाड्गुण्यपद के ज्ञाता, नीति को बनाने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और प्रजा का रञ्जन करने वालों में श्रेष्ठ हैं ॥२३॥

[टिप्पणी—षाड्गुण – छः गुण। राजा के लिए राजनीति सम्बन्धी ६ बातें जान लेनी आवश्यक हैं। वे छः बातें ये हैं—१ सन्धि २ विग्रह

* पाठान्तरे—"सर्वभूतहिते।"

(युद्ध) ३ यान (सैन्यपरिचालनं March or Expedition) ४ स्थान या आसन ५ संश्रय (सुरक्षित स्थान में रहना) और ६ द्वैध (Duplicity)]

स सोमः स च मृत्युश्च स यमो धनदस्तथा ।
वह्निः शतक्रतुश्चैव सूर्यो वै वरुणस्तथा ॥२४॥

वे ही चन्द्र, वे ही मृत्यु, वे ही यम, वे ही कुबेर, वे ही अग्नि, वे ही इन्द्र, वे ही सूर्य और वे ही वरुण हैं ॥२४॥

तस्य त्वं ब्रूहि सौमित्रे प्रजापालः स राघवः ।
अनाज्ञप्तस्तु सौमित्रे प्रवेष्टुं नेच्छयाम्यहम् ॥२५॥

हे लक्ष्मण ! तुम जा कर प्रजापालनकर्त्ता श्रीरामचन्द्र जी से यह बात कह दो । मैं उनकी आज्ञा पाए बिना भीतर जाना नहीं चाहता ॥२५॥

आनृशंस्यात् महाभाग प्रविवेश महाद्युतिः ।
नृपालयं प्रविश्याथ लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥२६॥

महातेजवान् लक्ष्मण जी उसकी ऐसी सिधाई देख; राजभवन में गए और वहाँ जा कर बोले ॥२६॥

श्रूयतां मम विज्ञाप्यं कौसल्यानन्दवर्धन ।
यन् मयोक्तं महाबाहो तव शासनजं विभो ॥२७॥

हे कौसल्यानन्दवर्द्धन ! मेरी प्रार्थना सुनिए । हे महाबाहो ! हे विभो ! तुमने जो आज्ञा दी उसका मैंने पालन किया अर्थात् पुनः बाहिर जा कर कार्यार्थी को ढूँढ़ा ॥२७॥

श्वा वै ते तिष्ठते द्वारि कार्यार्थी समुपागतः ।
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा रामो वचनमब्रवीत् ॥२८॥

एक कुत्ता किसी काम के लिए द्वार पर खड़ा है। लक्ष्मण के यह वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने कहा ॥२८॥

संप्रवेशय वै क्षिप्रं कार्यार्थी योऽत्र तिष्ठति ॥२९॥

इति प्रक्षिप्ते प्रथमः सर्गः

कार्यार्थी फरियादी कोई भी (जाति या योनि का) क्यों न हों, उसे शीघ्र यहाँ ले आओ ॥२९॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त पहिला सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

प्रक्षिप्तेषु द्वितीयः सर्गः

—:o:—

श्रुत्वा रामस्य वचनं लक्ष्मणस्त्वरितस्तदा।
श्वानमाहूय मतिमान् राघवाय न्यवेदयत् ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन कर, लक्ष्मण जी ने तुरंत कुत्ते को बुला कर, महाराज के सामने खड़ा कर दिया ॥१॥

दृष्ट्वा समागतं श्वानं रामो वचनमब्रवीत्।
विवक्षितार्थं तु मे ब्रूहि सारमेय न ते भयम् ॥२॥

कुत्ते को अपने सामने देख, श्रीरामचन्द्र जी ने उससे कहा—हे सारमेय ! तुझे जो कुछ कहना हो सो कह, डरे मत ॥२॥

अथापश्यत तत्रस्थं रामं श्वा भिन्नमस्तकः।
ततो दृष्ट्वा स राजानं सारमेयोऽब्रवीद्वचः ॥३॥

उस कुत्ते का सिर फटा हुआ था। वह श्रीरामचन्द्र जी की ओर देख कर बोला ॥३॥

राजैव कर्ता भूतानां राजा चैव विनायकः ।
राजा सुप्तेषु जागर्ति राजा पालयति प्रजाः ॥४॥

महाराज ! राजा ही समस्त प्राणियों का स्वामी और शासनकर्त्ता है । सब लोग जिस समय सोया करते हैं, राजा उस समय जागता रहता है ॥४॥

नीत्या सुनीतया राजा धर्मं रक्षति रक्षिता ।
यदा न पालयेद्राजा क्षिप्रं नश्यन्ति वै प्रजाः ॥५॥

राजा अच्छी नीति के द्वारा धर्म की रक्षा करता है । यदि राजा प्रजा का (यथोचित) पालन न करे, तो प्रजा शीघ्र ही नष्ट हो जाय ॥५॥

राजा कर्ता च गोप्ता च सर्वस्य जगतः पिता ।
राजा कालो युगं चैव राजा सर्वमिदं जगत् ॥६॥

अतएव राजा ही कर्त्ता, राजा ही रक्षक और राजा ही जगत् का पिता है । वही काल, वही युग, और वही यह समस्त जगत्रूप है ॥६॥

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यस्माद्धारयते सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥७॥

धारण करने ही से धर्म रह सकता है और धर्म ही से प्रजाजन (यथावस्थित) रह सकते हैं । अतः धर्म का धारण करने वाला, चराचर सहित तीनों लोकों को धारण कर सकता है ॥७॥

धारणाद्विद्विषां चैव धर्मेणारञ्जयन् प्रजाः ।
तस्माद्धारणमित्युक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥८॥

वही दुष्टों का निग्रह और प्रजाजनों का रञ्जन कर सकता है। इसीसे वह धर्म कहलाता है ॥८॥

एष राजन् परोधर्मः फलवान् प्रेत्य राघव ।
न हि धर्माद्भवेत् किञ्चिद्दुष्प्रापमिति मे मतिः ॥९॥

हे राजन् ! धर्म ही सब से बढ़ कर है और मरने पर परलोक में धर्म ही सहायक होता है। यह मेरा दृढ़ मत है कि, धर्म पर आरूढ़ रहने वाले को कोई भी पदार्थ दुष्प्राप्य नहीं है ॥९॥

दानं दया सतां पूजा व्यवहारेषु चार्जवम् ।
एष राम परो धर्मो रक्षणात् प्रेत्य चेह च ॥१०॥

दान, दया, सज्जनों का सत्कार, व्यवहार में सीधापन (छल कपट शून्यता)—हे राम ! ये ही परमधर्म हैं और इसी परमधर्म की रक्षा करने से यह और पर—दोनों लोक बनते हैं ॥१०॥

त्वं प्रमाणं प्रमाणानामसि राघव सुव्रत ।
विदितश्चैव ते धर्मः सद्भिराचरितस्तु वै ॥११॥

हे सुव्रत ! हे राघव तुम तो प्रमाणों के भी प्रमाण हो। सत्पुरुषों से आचरित तुम्हारा धर्म सब को विदित है ॥११॥

धर्माणां त्वं परं धाम गुणानां सागरोपमः ।
अज्ञानाच्च मया राजन्नुक्तस्त्वं राजसत्तम ॥१२॥

तुम धर्म के परमधाम और सद्गुणों के सागर हो। हे राजश्रेष्ठ ! मैंने यदि कोई बात अज्ञानवश तुमसे कह दी हो ॥१२॥

प्रसादयामि शिरसा न त्वं क्रोद्धुमिहार्हसि ।
शुनकस्य वचः श्रुत्वा राघवो वाक्यमब्रवीत् ॥१३॥

उसके लिए मैं सिर झुका कर क्षमा माँगता हूँ तुम मुझ पर कुपित न हो। श्वान के ये वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥१३॥

किं ते कार्यं करोम्यद्य ब्रूहि विस्रब्ध मा चिरम्।
रामस्य वचनं श्रुत्वा सारमेयोऽब्रवीदिदम् ॥१४॥

हे श्वान! जल्दी निडर हो कर बतलाओ, तुम क्या चाहते हो? मैं अभी उसे पूरा करूंगा। श्रीरामचन्द्र के यह वचन सुन कर कुत्ता कहने लगा ॥१४॥

धर्मेण राष्ट्रं विन्देत धर्मेणैवानुपालयेत्।
धर्माच्छरण्यतां याति राजा सर्वभयापहः ॥१५॥

हे राजन्! धर्म से राज्य की प्राप्ति होती है, धर्म ही से राज्य का (यथेष्ट) पालन हो सकता है; धर्म ही से (राजा) शरणागतवत्सल होता है। राजा सब भयों को दूर करता है ॥१५॥

इदं विज्ञाय यत्कृत्यं श्रूयतां मम राघव।
भिक्षुः सर्वार्थसिद्धश्च ब्राह्मणावसथे वसन् ॥१६॥

यह सब समझ कर, मेरा जो कुछ काम है, उसे सुनिए। सर्वार्थसिद्ध नामक भिक्षुक एक ब्राह्मण है। मैं उसीके घर में रहता था ॥१६॥

तेन दत्तः प्रहारो मे निष्कारणमनागसः।
एतच्छ्रुत्वा तु रामेण द्वास्थः सम्प्रेषितस्तदा ॥१७॥

उसने अकारण, निरपराध मेरा सिर फोड़ डाला है। यह सुनते ही, श्रीरामचन्द्र जी ने उस भिक्षुक ब्राह्मण को बुलाने के लिये अपना द्वारपाल भेजा ॥१७॥

आनीतश्च द्विजस्तेन सर्वसिद्धार्थकोविदः।
अथ द्विजवरस्तत्र रामं दृष्ट्वा महाद्युतिः ॥१८॥

द्वारपाल जा कर सर्वार्थसिद्ध नामक ब्राह्मण को बुला लाया। जब उस भिक्षुक ब्राह्मण ने महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र को देखा, तब वह कहने लगा ॥१८॥

किं ते कार्यं मया राम तद्ब्रूहि त्वं ममानघ
एवमुक्तस्तु विप्रेण रामो वचनमब्रवीत् ॥१९॥

हे अनघ! हे राम! बतलाओ मुझे किस लिए तुमने बुलवाया है? जब उस ब्राह्मण ने इस प्रकार पूँछा; तब श्रीरामचन्द्र जी ने उसे उत्तर देते हुए कहा ॥१९॥

त्वया दत्तः प्रहारोऽयं सारमेयस्य वै द्विज।
किं तवापकृतं विप्र दण्डेनाभिहतो यतः ॥२०॥

हे ब्राह्मण! तुमने इस कुत्ते को मारा है, सो इसने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था जो तुमने इसके सिर में लाठी मारी है ॥२०॥

क्रोधः प्राणहरः शत्रुः क्रोधो मित्रमुखो रिपुः
क्रोधो ह्यासिर्महातीक्ष्णः सर्वं क्रोधोऽपकर्षति ॥२१॥

हे द्विज! सुनो क्रोध ही प्राणसंहारी शत्रु है। क्रोध ही मित्र के समान (बनावटी भेष में) मधुरभाषी शत्रु है। क्रोध ही बड़ी

पैनी तलवार है और क्रोध ही सब सद्गुणों का सार खींच लेने वाला है ॥२१॥

तपते यजते चैव यच्च दानं प्रयच्छति ।
क्रोधेन *सर्वं हरति तस्मात्क्रोधं विसर्जयेत् ॥२२॥

तप, यज्ञ, दानादि जो (पुण्यप्रद) कर्म किए जाते हैं, इन सब को क्रोध नष्ट कर डालता है। अतएव क्रोध को (सदैव और सर्वथा) त्यागना चाहिए ॥२२॥

इन्द्रियाणां प्रदुष्टानां हयानामिव धावताम् ।
कुर्वीत धृत्या सारथ्यं संहृत्येन्द्रियगोचरम् ॥२३॥

इन्द्रियाँ दुष्ट घोड़ों की तरह विषयों की ओर दौड़ा करतीं हैं, अतः उन इन्द्रियरूपी घोड़ों के सारथी रूपी बुद्धि से अपने अधीन कर, उनको सन्मार्ग पर चलाना चाहिए ॥२३॥

मनसा कर्मणा वाचा चक्षुषा च समाचरेत् ।
श्रेयो लोकस्य चरतो न द्वेष्टि न च लिप्यते ॥२४॥

मन, कर्म, वाणी और नेत्रों से लोगों की भलाई करता रहै। द्वेष बुद्धि को त्याग दे अथवा किसी की बुराई न करे। ऐसा करने से वह कर्मबन्धन में नहीं फँसता ॥२४॥

न तत्कुर्यादसिस्तीक्ष्णः सर्पो वा व्याहतः पदा ।
अरिर्वा नित्यसंक्रुद्धो यथाऽऽत्मा दुरनुष्ठितः ॥२५॥

दुराचार से बिगड़ा हुआ आत्मा जैसा अनिष्ट किया करता है, वैसा अनिष्ट तेज धार वाली तलवार, पैर से कुचला हुआ साँप अथवा अत्यन्त क्रोधी शत्रु भी नहीं कर सकता ॥२५॥

---

* पाठान्तरे—"वै संहरति ।"

विनीतविनयस्यापि प्रकृतिर्न विधीयते ।
प्रकृतिं गूहमानस्य *निश्चयेन कृतिर्ध्रुवा ॥२६॥

शास्त्रों को पढ़ कर जिसने नम्रता और सौशील्य की शिक्षा पाई हो, यदि वह इनके बल से अपनी प्रकृति को छिपाना चाहे तो उसकी (वास्तविक) प्रकृति छिपाने पर भी छिप नहीं सकती। क्योंकि शास्त्र के पढ़ने से प्रकृति नहीं बदल सकती। वह समय पर अवश्य ही अपने आप प्रकट हो जाती है ॥२६॥

एवमुक्तः स विप्रो वै रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
द्विजः सर्वार्थसिद्धस्तु अब्रवीद्रामसन्निधौ ॥२७॥

जब अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी ने उस ब्राह्मण से इस प्रकार कहा—तब सर्वार्थसिद्ध ब्राह्मण श्रीरामचन्द्र जी से बोला ॥२७॥

मया दत्तप्रहारोऽयं क्रोधेनाविष्टचेतसा ।
भिक्षार्थमटमानेन काले विगतभैक्षके ॥२८॥

हे महाराज ! मैंने क्रोध में भर इस कुत्ते को अवश्य मारा है। मैं भिक्षा के लिए घूम रहा था और भिक्षा का समय निकल गया था ॥२८॥

रथ्यास्थितस्त्वयं श्वा वै गच्छ गच्छेति भाषितः ।
अथ स्वैरेण गच्छंस्तु रथ्यान्ते †विषमः स्थितः ॥२६॥

यह बीचों बीच गली में बैठा था। मैंने इससे कई बार कहा कि हट जा। तब यह वहाँ से उठ कर गली के छोर पर अपनी इच्छानुसार, जाकर एक बेढंगी जगह खड़ा हो गया ॥२६॥

---

*पाठान्तरे—"निश्चये प्रकृतिर्ध्रुवम्।" † पाठान्तरे—"विषमं।"

क्रोधेन क्षुधयाऽऽविष्टस्ततो दत्तोऽस्य राघव ।

प्रहारो राजराजेन्द्र शाधि मामपराधिनम् ॥३०॥

मैं भूखा तो था ही। सो क्रोध के वश में हो इसे मार बैठा। हे महाराज! अब आप मुझ अपराधी को जो दण्ड उचित समझें दें ॥३०॥

त्वया शस्तस्य राजेन्द्र नास्ति मे नरकाद्भयम् ।

अथ रामेण सपृष्टाः सर्वं एव सभासदः ॥३१॥

हे राजेन्द्र! क्योंकि तुम्हारे हाथ से दण्ड पाने पर मुझे नरक का भय नहीं रहेगा। यह सुन कर श्रीरामचन्द्र जी ने समस्त सभासदों से पूछा ॥३१॥

किं कार्यमस्य वै ब्रूत दण्डो वै *कोऽस्य पात्यताम् ।

सम्यक्प्रणिहिते दण्डे प्रजा भवति रक्षिता ॥३२॥

कहिए इसे क्या दण्ड दिया जाय? क्योंकि अपराधी को शास्त्रानुसार दण्ड देने से प्रजा की रक्षा होती है ॥३२॥

भृग्वाङ्गिरसकुत्साद्या वसिष्ठश्च सकाश्यपः ।

धर्मपाठकमुख्याश्च सचिवा नैगमास्तथा ॥३३॥

उस समय, भृगु, आंगिरस, कुत्स, वसिष्ठ और काश्यपादि बड़े बड़े धर्मशास्त्रवेत्ता ऋषि मंत्रि और बड़े बड़े महाजन भी वहाँ उपस्थित थे ॥३३॥

एते चान्ये च बहवः पण्डितास्तत्र सङ्गताः ।

अवध्यो ब्राह्मणो दण्डैरिति शास्त्रविदो विदुः ॥३४॥

इनके अतिरिक्त वहाँ अन्य और भी विद्वज्जन थे। उन सब शास्त्रज्ञों ने (एक स्वर से) कहा कि, दण्ड द्वारा ब्राह्मण अवध्य है ॥३४॥

---

* पाठान्तरे—"कोनु।"

ब्रुवते राघवं सर्वे राजधर्मेषु निष्ठिताः ।
अथ ते मुनयः सर्वे राममेवाब्रुवंस्तदा ॥३५॥

उन राजधर्मवेत्ताओं ने तो यह राजधर्म कहा । तदनन्तर समस्त मुनि श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥३५॥

राजा शास्ता हि सर्वस्य त्वं विशेषेण राघव ।
त्रैलोक्यस्य भवान् शास्ता देवो विष्णुः सनातनः ॥३६॥

राजा सब को शिक्षा देने वाला होता है। विशेष कर आप तो सब से अधिक हैं। क्योंकि, आप तो सनातन भगवान् विष्णु हैं और त्रिलोकी का शासन करने वाले हैं ॥३६॥

एवमुक्ते तु तैः सर्वैः श्वा वै वचनमब्रवीत् ।
यदि तुष्टोसि मे राम यदि देयो वरो मम ॥३७॥

न्यायसभा के लोग जब इस प्रकार कह रहे थे, तब (बीच में) वह कुत्ता बोल उठा। उसने कहा—हे राजन्! यदि आप प्रसन्न हैं और मुझे वर देना चाहते हैं, तो मेरा मनोरथ सिद्ध कीजिए ॥३७॥

प्रतिज्ञातं त्वया वीर किं करोमीति विश्रुतम् ।
प्रयच्छ ब्राह्मणस्यास्य कौलपत्यं *नराधिप ॥३८॥

†कालञ्जरे महाराज कौलपत्यं प्रदीयताम् ।
एतच्छ्रुत्वा तु रामेण कौलपत्येऽभिषेचितः ॥३९॥

क्योंकि आपने तो पहिले ही यह प्रतिज्ञात्मक वचन कहा था कि, मैं तेरे लिये क्या करूँ। सो अब मेरा यही मनोरथ है कि,

* पाठान्तरे—"धराधर।" † पाठान्तरे—"कौलंचरे।"

आप इस भिक्षुक ब्राह्मण को कालञ्जर देश का मठाधिपति (महन्त) बना दीजिए। महाराज ने यह सुनते ही उसको कालंजर की महन्ती पर अभिषिक्त कर दिआ ॥३८॥ ॥३६॥

प्रययौ ब्राह्मणो हृष्टो गजस्कन्धेन सोऽर्चितः ।
अथ ते रामसचिवाः स्मयमाना वचोऽब्रुवन् ॥४०॥

वह ब्राह्मण बड़ा प्रसन्न हुआ। हाथी पर सवार करा कर राज्य की ओर से उसका बहुमान किआ गया। यह आश्चर्यदायिनी घटना देख कर, श्रीरामचन्द्र जी के मंत्रीगण मुसक्या कर बोले ॥४०॥

वरोऽयं दत्त एतस्य नायं शापो महाद्युते ।
एवमुक्तस्तु सचिवै रामो वचनमब्रवीत् ॥४१॥

हे महाराज! इस ब्राह्मण को तो दण्ड के बदले यह पुरस्कार दिआ गया! जब मंत्रियों ने यह कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥४१॥

न यूयं *गतितत्त्वज्ञाः श्वा वै जानाति कारणम् ।
अथ पृष्टस्तु रामेण सारमेयोऽब्रवीदिदम् ॥४२॥

तुम लोग इस बात के भेद को नहीं जान सकते। इसका भेद कुत्ते ही को मालूम है। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी के पूछने पर उस कुत्ते ने इस प्रकार कहना आरम्भ किआ ॥४२॥

अहं कुलपतिस्तत्र आस शिष्टान्नभोजनः ।
देवद्विजातिपूजायां दासीदासेषु राघव ॥४३॥

हे राम! सुनिए, मैं पूर्वजन्म में उसी (कालंजर का) स्थान का कुलपति था। मैं बढ़िया पदार्थ खाता था, और

* पाठान्तरे—"नीतितत्त्वज्ञाः।"

देवताओं तथा ब्राह्मणों का पूजन किया करता था तथा नौकरों चाकरों को ॥४३॥

संविभागी शुभरतिर्देवद्रव्यस्य रक्षिता ।
विनीतः शीलसम्पन्नः सर्वसत्त्वहिते रतः ॥४४॥

उनके कार्यानुसार वेतन देता था। मैं देवधन की रक्षा करता था। मैं नीतिमान्, सतोगुणी और समस्त प्राणियों के हित में तत्पर रहता था ॥४४॥

सोऽहं प्राप्त इमां घोरामवस्थामधमां गतिम् ।
एवं क्रोधान्वितो विप्रस्त्यक्तधर्माऽहिते रतः ॥४५॥
क्रुद्धो नृशंसः परुष अविद्वांश्चाप्यधार्मिकः ।
कुलानि पातयत्येव सप्त सप्त च राघव ॥४६॥

तिस पर भी मैं इस घोर अधम गति को प्राप्त हुआ हूँ। फिर यह ब्राह्मण तो क्रोधी, धर्मशून्य, अहितकर हिंसक, रूखा बोलने वाला, निष्ठुर, मूर्ख और अधर्मरत है। हे राघव ! यह मातृकुल की सात और पितृकुल की सात पीढ़ियों को नरक में डालेगा ॥४५॥४६॥

तस्मात्सर्वास्ववस्थासु कौलपत्यं न कारयेत् ।
यमिच्छेन्नरकं नेतुं सपुत्रपशुबान्धवम् ॥४७॥

देवेष्वधिष्ठितं कुर्याद्गोषु च ब्राह्मणेषु च ।
ब्रह्मस्वं देवताद्रव्यं स्त्रीणां बालधनं च यत् ॥४८॥

हे प्रभो ! कैसी ही विपत्ति क्यों न आ पड़े, किन्तु कुलपति—महन्ती का काम कभी न करे। हे पृथिवीनाथ ! जिसको पुत्र, पशु,

और बन्धु बान्धव सहित नरक में भेजना हो उसको देवताओं, गौओं और ब्राह्मणों का अधिष्ठाता बना दे। हे सर्वज्ञ! ब्राह्मण, देवता, स्त्री और बच्चे को जो धन दे दिआ गया है ॥४७॥४८॥

दत्तं हरति यो भूय इष्टैः सह विनश्यति ।
ब्राह्मणद्रव्यमादत्ते देवानां चैव राघव ॥४६॥
सद्यः पतति घोरे वै नरके *वीचिसंज्ञके ।
मनसाऽपि हि देवस्वं ब्रह्मस्वं च हरेत्तु यः ॥५०॥

उसे जो छीन लेता है, वह अपने प्यारे पदार्थों सहित नष्ट हो जाता है। हे राघव! जो ब्राह्मणों के और देवताओं के द्रव्य को हाथ लगाता है, वह शीघ्र ही अवीचि नामक नरक में गिरता है। अथवा जो देवद्रव्य और ब्राह्मण धन को लेने के लिए मन चलाता है ॥४६॥ ॥५०॥

निरयान्निरयं चैव पतत्येव नराधमः ।
तच्छ्रुत्वा वचनं रामो विस्मयोत्फुल्ललोचनः ॥५१॥
श्वाऽप्यगच्छत् महातेजा यत एवागतस्ततः ।
मनस्वी पूर्वजात्या स जातिमात्रोपदूषितः ॥५२॥

वह नराधम उत्तरोत्तर एक नरक से निकाल कर दूसरे नरक में डाला जाता है। यह सुन कर श्रीरघुनाथ जी के नेत्र विस्मय के मारे प्रफुल्लित हो गए। कुत्ता जहाँ से आया था वहाँ चला गया। पूर्वजन्म में वह श्वान उत्तम जाति का था। परन्तु इस जन्म में वह निकृष्ट जाति में उत्पन्न होने के कारण दूषित था ॥५१॥ ॥५२॥

---

*पाठान्तरे—"वीचिसंज्ञिते।"

वाराणस्यां महाभागः प्रायं चोपविवेश ह ॥५३॥

इति प्रक्षिप्तेषु द्वितीयः सर्गः ॥

वह महाभाग कुत्ता वहाँ से काशी गया और वहाँ शरीर त्यागने की कामना से अन्नजल छोड़. निराहार व्रत करने लगा ॥५३॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

प्रक्षिप्तेषु तृतीयः सर्गः

—:०:—

अथ तस्मिन् वनोद्देशे रम्ये पादपशोभिते।
नदीकीर्णे गिरिवरे कोकिलानेककूजिते ॥१॥
सिंहव्याघ्रसमाकीर्णे नानाद्विजगणावृते।
गृध्रोलूकौ प्रवसतो बहुवर्षगणानपि ॥२॥

किसी एक बड़े रमणीक और वृक्षों से सुशोभित वन में. जहाँ नदी के तट पर कोयलें कूकती थीं, जिसमें सिंह व्याघ्रादि रहा करते थे और जिसमें विविध प्रकार के पक्षी भरे पड़े थे; उस वन में सैकड़ों वर्षों से एक गीध और उल्लू दो पक्षी भी रहा करते थे ॥१॥२॥

अथोलूकस्य भवनं गृध्रः पापविनिश्चयः।
ममेदमिति कृत्वाऽसौ कलहं तेन चाकरोत् ॥३॥

एक दिन गीध के मन में पाप समाया और वह उल्लू के घर जा कर बोला—यह घर तो मेरा है। यह कह कर वह गीध उस उल्लू के साथ झगड़ा करने लगा ॥३॥

राजा सर्वस्य लोकस्य रामो राजीवलोचनः।
तं प्रपद्यावहे शीघ्रं यस्यैतद्भवनं भवेत् ॥४॥

और बोला—कमलनयन श्रीरामचन्द्र जी (आजकल) सब के ऊपर राज्य करते हैं। चलो हम तुम उनके पास चलें। वे इस मकान के बारे में जिसके पक्षमें निर्णय कर देंगे, यह घर उसीका हो जायगा ॥४॥

इति कृत्वा मतिं* तौ तु निश्चयार्थं सुनिश्चिताम्।
गृध्रोलूकौ प्रपद्येतां कोपाविष्टौ ह्यमर्षितौ ॥५॥

इस प्रकार वे दोनों, आपस में तै कर और क्रोध में भरे, श्रीरामचन्द्र जी के पास आए ॥५॥

रामं प्रपद्य तौ शीघ्रं कलिव्याकुलचेतसौ।
तौ परं परविद्वेषात्स्पृशतश्चरणौ तदा ॥६॥

वे परस्पर झगड़ा करने के कारण विकल हो रहे थे। दोनों ने आ कर, श्रीरामचन्द्र जी के चरण छुए ॥६॥

अथ दृष्ट्वा नरेन्द्रं तं गृध्रो वचनमब्रवीत्।
सुराणामसुराणां च प्रधानस्त्वं मतो मम ॥७॥

तदनन्तर गीध ने श्रीरामचन्द्र की ओर देख कर यह कहा—हे राजन्! मेरी जान में तो आप देवता और असुरों में प्रधान हैं ॥७॥

---

* पाठान्तरे—"तां तु।"

बृहस्पतेश्च शुक्राच्च विशिष्टोसि महाद्युते ।
परावरज्ञो भूतानां कान्त्या चन्द्र इवापरः ॥८॥
दुर्निरीक्ष्यो यथा सूर्यो हिमवांश्चैव गौरवे ।
सागरश्चैव* गाम्भीर्ये लोकपालो यमो ह्यसि ॥९॥

हे महाद्युतिमान ! तुम बुद्धि में बृहस्पति और शुक्र से भी बढ़ कर हो । तुम प्राणिमात्र के पूर्वापर को जानने वाले हो और कान्ति में तुम चन्द्र के समान एवं सूर्य की तरह दुर्निरीक्ष्य हो गौरव में हिमालय की तरह और गम्भीरता में तुम समुद्र की तरह हो । तुम गौरव में और प्रभाव में लोकपालयम के तुल्य हो ॥८॥९॥

क्षान्त्या धरण्या तुल्योसि शीघ्रत्वे ह्यनिलोपमः ।
गुरुस्त्वं सर्वसम्पन्नः कीर्तियुक्तश्च राघव ॥१०॥

तुम क्षमा में पृथिवी के समान और शीघ्रता में वायु के समान हो तुम सब के गुरु, (अर्थात् पूज्य) सर्वगुणसम्पन्न और कीर्तिमान हो ॥१०॥

अमर्षी दुर्जयो जेता सर्वास्त्रविधिपारगः ।
शृणुष्व मम वै राम विज्ञाप्यं नरपुङ्गव ॥११॥

तुम क्रोध रहित, दुर्जेय, सब के जीतने वाले और सब शास्त्रों के पारगामी हो । हे नरश्रेष्ठ ! हे श्रीरामचन्द्र ! तुम मेरी प्रार्थना सुनो ॥११॥

ममालयं पूर्वकृतं बाहुवीर्येण राघव ।
उलूको हरते राजंस्तत्र त्वं त्रातुमर्हसि ॥१२॥

---

* पाठान्तरे—"सागरश्चासि ।"

हे राघव ! पहले मैंने अपने बाहुबल से जिस घर को बनाया था, उसे अब यह उलूक लेना चाहता है। हे राजन् ! इस विपत्ति से आप मुझे बचावें ॥१२॥

एवमुक्ते तु गृध्रेण उलूको वाक्यमब्रवीत् ।
सोमाच्छतक्रतोः सूर्याद्धनदाद्वा यमात्तथा ॥१३॥

जब गीध कह चुका; तब उल्लू कहने लगा। हे राजन्! चन्द्रमा, इन्द्र, सूर्य, कुबेर और यम; इन देवताओं से राजा का शरीर ॥१३॥

जायते वै नृपो राम किञ्चिद्भवति मानुषः ।
त्वं तु सर्वमयो देवो नारायण इवापरः ॥१४॥

कल्पित होता है परन्तु उसमें थोड़ा सा मनुष्यत्व भी रहता है। आप तो सर्वमय साक्षात् नारायण रूप ही हैं ॥१४॥

याचते सौम्यता राजन्सम्यक्प्रणिहिता विभो ।
समं चरसि चान्विष्य तेन सोमांशको भवान् ॥१५॥

हे प्रभो ! आपके प्रति सब जीवधारी सौम्यता प्रदर्शित कर, भली भाँति आपसे याचना करते हैं। आपमें सौम्यभाव दिखलाई पड़ता है अतः आप सोमांश हैं। आपका व्यवहार सब में समान है ॥१५॥

क्रोधे दण्डे प्रजानाथ दाने पापभयापहः ।
दाता हर्तासि गोप्तासि तेनेन्द्र इव नो भवान् ॥१६॥

हे प्रजानाथ ! क्रोध करने में, दण्ड देने में, पाप और भय के दूर करने में तथा दाता, हर्त्ता और रक्षक होने के कारण, आप इन्द्र के समान हैं ॥१६॥

अधृष्यः सर्वभूतेषु तेजसा चानलोपमः ।
अभीक्ष्णं तपसे लोकांस्तेन भास्करसन्निभः ॥१७॥

सब प्राणियों से अधृष्य (अजेय) होने के कारण, तुम तेज में अग्नि के समान हो और सूर्य की तरह सब लोकों को तपाया करते हो। अतः तुम सूर्य के समान हो ॥१७॥

साक्षाद्वित्तेशतुल्योसि अथवा धनदाधिकः ।
वित्तेशस्येव पद्मा श्रीर्नित्यं ते राजसत्तम ॥१८॥

तुम साक्षात् कुबेर के तुल्य हो, अथवा उनसे भी अधिक हो। क्योंकि लक्ष्मी सदा कुबेर के तुल्य तुम्हारे आश्रित रहती है ॥१८॥

धनदस्य तु *कार्येण धनदस्तेन नो भवान् ।
समः सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ॥१९॥

धनद का कार्य करने से तुम हमारे लिए धनद हो। तुम सब प्राणियों में—चाहे वे स्थावर हों, चाहे जङ्गम—समान दृष्टि रखते हो ॥१९॥

शत्रौ मित्रे च ते दृष्टिः समतां याति राघव ।
धर्मेण शासनं नित्यं व्यवहारे विधिक्रमात् ॥२०॥

हे राघव! तुम शत्रु मित्र में समान दृष्टि रखने वाले हो। तुम सदैव धर्मानुसार शासन करते हो और यथाक्रम व्यवहार करते हो ॥२०॥

यस्य †रुष्यसि वै राम तस्य मृत्युर्विधावति ।
गीयसे तेन वै राम यम ‡इत्यभिविक्रमः ॥२१॥

---

* पाठान्तरे—"कोपेन।" † पाठान्तरे—"क्रुध्यसि।" ‡ पाठान्तरे—इत्यतिविक्रमः।"

हे राम ! तुम जिस पर क्रुद्ध होते हो, उसके मरने में कुछ भी सन्देह नहीं रहता। इसीसे तुम महापराक्रमी यमराज के समान कहे जाते हो ॥२१॥

यश्चैष मानुषो भावो भवतो नृपसत्तम।
आनृशंस्यपरो राजा सत्वेषु क्षमयाऽन्वितः ॥२२॥

हे नृपश्रेष्ठ ! तुम्हारा मनुष्यभाव दयालुता से पूर्ण है। प्राणियों पर तुम्हारी बड़ी दयामया रहती है, अतएव तुम एक दयालु राजा हो ॥२२॥

दुर्बलस्य त्वनाथस्य राजा भवति वै बलम्।
अचक्षुषोत्तमं चक्षुरगतेः स गतिर्भवान् ॥२३॥

हे भगवन् ! दुर्बल और अनाथ के लिए राजा ही बलरूप है; विना आँख वाले के लिए राजा ही आँखरूप है और जिसकी कोई गति नहीं, उसके लिए राजा ही गति रूप है ॥२३॥

अस्माकमपि नाथस्त्वं श्रूयतां मम धार्मिक।
ममालयं प्रविष्टस्तु गृध्रो मां बाधते नृप ॥२४॥

हे धार्मिक ! सुनो, मेरे भी तुम ही नाथ हो। हे राजन् ! यह गीध मेरे घर में घुस कर, मुझे सताता है ॥२४॥

त्वं हि देव मनुष्येषु शास्ता वै नरपुङ्गव।
एतच्छ्रुत्वा तु वै रामः सचिवानाह्वयत्स्वयम् ॥२५॥

हे नरश्रेष्ठ ! देवताओं और मनुष्यों के तुम शासन करने वाले हो। यह सुनते ही, श्रीरामचन्द्र जी ने अपने मंत्रियों को स्वयं बुलाया (बुलाने को द्वारपाल को नहीं भेजा।) ॥२५॥

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सिद्धार्थो राष्ट्रवर्धनः ।
अशोको धर्मपालश्च *सुमन्त्रश्च महाबलः ॥२६॥

धृष्टि, जयन्त, विजय, सिद्धार्थ, राष्ट्रवर्धन, अशोक, धर्मपाल और महाबली सुमंत्र ॥२६॥

एते रामस्य सचिवा राज्ञो दशरथस्य च ।
नीतियुक्ता महात्मानः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥२७॥
†ह्रीमन्तश्च कुलीनाश्च नये मंत्रे च कोविदाः ।
तानाहूय ‡च धर्मात्मा पुष्पकादवतीर्य च ॥२८॥
गृध्रोलूकविवादं त पृच्छति स्म रघूत्तमः ।
कति वर्षाणि वै गृध्रं तवेदं निलयं कृतम् ॥२९॥

ये महाराज दशरथ के समय के मंत्री ही श्रीरामचन्द्र जी के शासनकाल में भी मंत्रिपद पर थे। ये सभी नीतिमान्, सच्चरित्र, सब शास्त्रों के ज्ञाता, बुद्धिमान, कुलीन और नीति में तथा न्याय करने में बड़े निपुण थे। इन सब को बुला कर आप पुष्पक नामक राज्यासन से उतर कर, उन दोनों के झगड़े के बारे में उन दोनों से पूँछने लगे। (प्रथम गीध से पूँछा) हे गीध ! बतलाओ, तुम्हारा इस स्थान पर कितने दिनों से अधिकार (कब्जा) है ? ॥२७॥२८॥२९॥

एतन् मे कारणं ब्रूहि यदि जानासि तत्त्वतः ।
एतच्छ्रुत्वा तु वै गृध्रो भाषते राघवं स तम् ॥३०॥

---

* पाठान्तरे—"सचिवः सुमहाबलः ।" † पाठान्तरे—"प्रीतिमन्तः ।" ‡ पाठान्तरे—"सः ।"

इस प्रश्न का उत्तर जो तुम जानते हो मुझे ठीक ठीक दो। गीध ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥३०॥

इयं वसुमती राम मनुष्यैः परितो यदा ।
उत्थितैराष्टता सर्वा तदाप्रभृति मे गृहम् ॥३१॥

हे राम! सृष्टि के आदि में जिस समय यह पृथिवी मनुष्य से युक्त हुई, जब सब लोग इस पर बस गए, तब ही से इस घर पर मेरा (आधिपत्य कब्जा) चला आता है ॥३१॥

उलूकश्चाब्रवीद्रामं पादपैरुपशोभिता ।
यदेयं पृथिवी राजंस्तदाप्रभृति मे गृहम् ।
एतच्छ्रुत्वा तु वै रामः सभासदमुवाच ह ॥३२॥

इस पर उलूक ने कहा—हे राजन्! जब से यह पृथिवी वृक्षों से शोभित हुई है, तब से इस स्थान पर मेरा घर है या मैं रहता हूँ। यह सुन श्रीरामचन्द्र जी सभासदों से बोले ॥३२॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥३३॥

वह सभा, सभा ही नहीं, जिसमें बड़े बूढ़े लोग न हों, वे वृद्ध लोग, वृद्ध लोग ही नहीं, जो धर्मानुसार बात न कहें। वह धर्म भी धम नहीं, जिसमें सत्य न हो और वह सत्य भी, सत्य नहीं जिसमें छल कपट का पुट लगा हो ॥३३॥

ये तु सभ्याः सदा ज्ञात्वा तूष्णीं ध्यायन्त आसते ।
यथाप्राप्तं न ब्रुवते ते सर्वेऽनृतवादिनः ॥३४॥

जो सभासद् जानबूझ कर, चुपचाप ध्यान लगाए बैठे रहते हैं और यथार्थ बात नहीं कहते, वे असत्यवादी समझे जाते हैं ॥३४॥

जानन्न वाऽब्रवीत् प्रश्नान् कामात् क्रोधाद्भयात्तथा ।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥३५॥

जो काम से या क्रोध से अथवा भय से जानते हुए भी प्रश्नों का उत्तर नहीं देते; वे हजार वर्षों तक वरुणपाश का दण्ड पाने के अधिकारी होते हैं ॥३५॥

तेषां संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते ।
तस्मात्सत्येन वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ॥३६॥

एक वर्ष पूरा होने पर उनका एक पाश टूटता है। अतः जो बात ठीक ठीक जान पड़े, उसे ठीक ठीक ही कहना चाहिए ॥३६॥

एतच्छ्रुत्वा तु सचिवा राममेवाब्रुवंस्तदा ।
उलूकः शोभते राजन्न तु गृध्रो महामते ॥३७॥

यह वचन सुन कर, मंत्री श्रीरामचन्द्र जी से बोले—महाराज! उल्लू का कथन ठीक है और गीध झूठ बोलता है ॥३७॥

त्वं प्रमाणं महाराज राजा हि परमा गतिः ।
राजमूलाः प्रजाः सर्वा राजा धर्मः सनातनः ॥३८॥

हे महाराज! इसमें तुम ही प्रमाण हो। क्योंकि राजा ही सब की परमगति है। सब प्रजाओं का राजा ही मूल है और राजा ही सनातनधमरूपी है ॥३८॥

शास्ता नृणां नृपो येषां ते न गच्छन्ति दुर्गतिम् ।
वैवस्वतेन मुक्तास्तु भवन्ति पुरुषोत्तमाः ॥३९॥

जिन मनुष्यों का शासन राजा द्वारा हो जाता है, उनकी दुर्गति नहीं होती, वे नरश्रेष्ठ यमराज के फंदे से छूट जाते हैं ॥३९॥

सचिवानां वचः श्रुत्वा रामो वचनमब्रवीत् ।
श्रूयतामभिधास्यामि पुराणे यदुदाहृतम् ॥४०॥

मंत्रियों के वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी बोले—सुनो, मैं अब तुम्हें पुराणों का कथन सुनाता हूँ ॥४०॥

द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा सपर्वतमहावना ।
सलिलार्णवसम्पूर्णं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥४१॥
एक एव तदा ह्यासीद्युक्तो मेरुरिवापरः ।
पुरा भूः सह लक्ष्म्या च विष्णोर्जठरमाविशत् ॥४२॥

देखो, आरम्भकाल में, चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रों सहित आकाश, पर्वत और महावनों सहित यह सारी पृथिवी तथा चर अचर सहित तीनों लोक, महासागर के जल में डूबे हुए, मेरु के समान एक ढेर की तरह थे। लक्ष्मी तथा यह सारा (प्रपञ्च) जगत्, भगवान् विष्णु के उदर में था ॥४१॥४२॥

तां निगृह्य महातेजाः प्रविश्य सलिलार्णवम् ।
सुष्वाप देवो भूतात्मा बहून् वर्षगणानपि ॥४३॥

इन सब को अपने पेट में रखे हुए, भगवान् विष्णु समुद्र में वर्षों तक सोया किए ॥४३॥

विष्णौ सुप्ते तदा ब्रह्मा विवेश जठरं ततः ।
रुद्धस्रोतं तु तं ज्ञात्वा महायोगी समाविशत् ॥४४॥

विष्णु भगवान् के सोने पर ब्रह्मा जी उनके उदर में प्रवेश कर गए। क्योंकि उन महायोगी ने अन्य मार्ग बन्द जान कर, (अर्थात् अन्यत्र जाने का कोई रास्ता न देख) उनमें प्रवेश किआ ॥४४॥

नाभ्यां विष्णोः समुत्पन्ने पद्मे हेमविभूषिते ।
स तु निर्गम्य वै ब्रह्मा योगी भूत्वा महाप्रभुः ॥४५॥

फिर विष्णु भगवान् की नाभि से सुवर्णभूषित एक कमल उत्पन्न हुआ। उसमें से योगबल से महाप्रभु ब्रह्मा जी निकले ॥४५॥

सिसृक्षुः पृथिवीं वायुं पर्वतान् समहीरुहान् ।
तदन्तरे प्रजाः सर्वाः समनुष्यसरीसृपाः ॥४६॥

जरायुजाण्डजाः सर्वाः स ससर्ज महातपाः ।
*तत्र श्रोत्रमलोत्पन्नः कैटभो मधुना सह ॥४७॥

उन्होंने पृथिवी, वायु, पर्वत, वृक्ष एवं मनुष्य सर्प, जरायुज और अण्डज जीवधारियों को तपःप्रभाव से रचा। वहीं उनके कान की मैल से मधु और कैटभ नामक दो दैत्य उत्पन्न हुए ॥४६॥४७॥

दानवौ तौ महावीर्यौ घोररूपौ दुरासदौ ।
दृष्ट्वा प्रजापतिं तत्र क्रोधाविष्टौ बभूवतुः ॥४८॥

ये दोनों दानव बड़े बलवान्, पराक्रमी और दुर्धर्ष थे। वे ब्रह्मा जी को बैठा देख, बड़े कुपित हुए ॥४८॥

वेगेन महता तत्र स्वयंभुवमधावताम् ।
दृष्ट्वा स्वयंभुवा मुक्तो रावो वै विकृतस्तदा ॥४९॥

---

* पाठान्तरे—"ततः ।"

और वे ब्रह्मा जी (को खाने के लिए) उनकी ओर दौड़े। यह देख, ब्रह्मा जी बड़े ज़ोर से चिल्लाए और चिल्लाते समय उनका चेहरा भी टेढ़ामेढ़ा हो गया ॥४६॥

तेन शब्देन सम्प्राप्तौ दानवौ हरिणा सह ।
अथ चक्रप्रहारेण सूदितौ मधुकैटभौ ॥५०॥

ब्रह्मा जी का चिल्लाना सुन, भगवान विष्णु वहाँ तुरन्त पहुँच गए। भगवान् विष्णु के साथ उनकी लड़ाइ हुई। अन्त में भगवान् ने अपने सुदर्शनचक्र से उन दोनों को मार डाला ॥५०॥

मेदसा प्लाविता सर्वा पृथिवी च समन्ततः ।
भूया विशोधिता तेन हरिणा लोकधारिणा ॥५१॥

उनके शरीर से निकली हुई चर्बी से सारी पृथिवी तर हो गई। तब लोकधारी भगवान् विष्णु ने पृथिवी को शोधा (साफ किआ) ॥५१॥

शुद्धां वै मेदिनीं तां तु वृक्षैः सर्वामपूरयत् ।
ओषध्यः सर्वसस्यानि निष्पद्यन्त पृथग्विधाः ॥५२॥

और जब पृथिवी शुद्ध हो गई; तब उसे सर्वत्र वृक्षों से पूर्ण कर दिआ। पृथिवी से सब प्रकार के अन्न और ओषधियाँ उत्पन्न होने लगीं ॥५२॥

मेदोगन्धात्तु धरणी मेदिनीत्यभिसंज्ञिता ।
तस्मान्न गृध्रस्य गृहमुलूकस्येति मे मतिः ॥५३॥

इस पृथिवी में चर्बी की दुर्गन्धि आने लगी थी, इसीसे इसका नाम मेदिनी पड़ा। अतएव मेरी समझ में (भी) वह घर गीध का नहीं हो सकता। घर उलूक ही का है ॥५३॥

तस्माद्गृध्रस्तु दण्ड्यो वै पापो हर्ता परालयम् ।
पीडां करोति पापात्मा दुर्विनीतो महानयम् ॥५४॥

गीध दूसरे का घर छीनना चाहता है। अतः यह अपराधी है और दण्ड देने योग्य है। यह दुर्विनीत, उलूक को बहुत सताता है ॥५४॥

अथाशरीरिणी वाणी अन्तरिक्षात् प्रबोधिनी ।
मा वधी राम गृध्रं *त्वं पूर्वदग्धं तपोबलात् ॥५५॥

(श्रीरामचन्द्र जी यह फैसला सुना ही रहे थे कि, इतने में) आकाश से (किसी अदृश्य व्यक्ति की) यह वाणी सुन पड़ी— हे श्रीरामचन्द्र! इस गीध को तुम मत मारो; क्योंकि यह तो तपोबल से पहले ही भस्म हो चुका है ॥५५॥

कालगौतमदग्धोऽयं प्रजानाथो †नरेश्वर ।
ब्रह्मदत्तेति नाम्नैष शूरः सत्यव्रतः शुचिः ॥५६॥

हे प्रजानाथ नरेश्वर! पहले यह गीध ब्रह्मदत्त नामक शूर, सत्यव्रत और पवित्राचरणसम्पन्न एक राजा था। इसे कालगौतम नामक ऋषि ने शापद्वारा दग्ध कर दिआ था ॥५६॥

गृहं त्वस्यागतो विप्रो भोजनं प्रत्यमार्गतः ।
साग्रं वर्षशतं चैव भोक्तव्यं नृपसत्तम ॥५७॥

हे नृपश्रेष्ठ! (इसका कारण यह था कि,) एक दिन एक ब्राह्मण भोजन की खोज में घूमता फिरता इस राजा के घर पहुँचा और बोला कि, मैं कुछ अधिक सौ वर्ष तक आपके यहाँ भोजन करूँगा ॥५७॥

---

* पाठान्तरे—"तं।" † पाठान्तरे—"धनेश्वरः।"

ब्रह्मदत्तः स वै तस्य पाद्यमर्घ्यं स्वयं नृपः ।
हा चैवा करोत्तस्य भोजनार्थं महाद्युतेः ॥५८॥

राजा ने उसे अर्घ्य पाद्य प्रदान किया और उस महातेजस्वी ब्राह्मण के लिए उसका अभिप्रेत भोजन तैयार करवाया ॥५८॥

मांसमस्याभवत्तत्र आहारे तु महात्मनः ।
अथ क्रुद्धेन मुनिना शापो दत्तोस्य दारुणः ॥५६॥

उस भोजन में माँस था। माँस को देख कर, मुनि ने क्रोध में भर इसे दारुण शाप दिया ॥५६॥

गृध्रस्त्वं भव वै राजन् मामैनं ह्यथ सोब्रवीत् ।
प्रसाद कुरु धर्मज्ञ अज्ञानान्मे महाव्रत ॥६०॥

(शाप देते हुए कहा) हे राजन् ! तुम गीध हो जाओ। राजा ने कहा—हे महाव्रतधारी ! हे धर्मज्ञ ! मुझसे अनजाने यह भूल हुई है। अतः आप मेरे ऊपर कृपा कीजिए और प्रसन्न हूजिए ॥६०

शापस्यान्तं महाभाग क्रियतां वै ममानघ ।
तदज्ञानकृतं मत्वा राजानं मुनिरब्रवीत् ॥६१॥

हे महाभाग ! इस पापरहित शाप का अन्त भी तो कीजिए। तब मुनि ने यह जान कर कि, सचमुच राजा से यह भूल अनजाने हुई है, राजा से कहा ॥६१॥

उत्पत्स्यति कुले राज्ञां रामो नाम महायशाः ।
इक्ष्वाकूणां महाभागो राजा राजीवलोचनः ॥६२॥

इक्ष्वाकुवंश में महायशस्वी, महाभाग और कमललोचन श्रीरामचन्द्र जी उत्पन्न होंगे ॥६२॥

---

१ हार्दं—अभिप्रेतं। (रा०)

तेन स्पृष्टो विपापस्त्वं भविता नरपुङ्गव ।
स्पृष्टो रामेण तच्छ्रुत्वा नरेन्द्रः पृथिवीपतिः ॥६३॥

हे नरश्रेष्ठ ! उनके स्पर्श करने से तुम पापरहित हो जाओगे । यह वचन सुन कर श्रीरामचन्द्र जी ने उस नरेन्द्र पृथिवीपाल को छुआ ॥६३॥

गृध्रत्वं त्यक्तवान् राजा दिव्यगन्धानुलेपनः ।
पुरुषो दिव्यरूपोऽभूदुवाचेदं च राघवम् ॥६४॥

छूते ही वह गीध का चोला त्याग कर, दिव्यगन्ध लगाए हुए दिव्य रूपधारी राजा हो गया । फिर वह श्रीरामचन्द्र जी से बोला ॥६४॥

साधु राघव धर्मज्ञ त्वत्प्रसादादहं विभो ।
विमुक्तो नरकाद्घोराच्छापस्यान्तः कृतस्त्वया ॥६५॥

इति प्रक्षिप्तेषु तृतीयः सर्गः ॥

हे धर्मज्ञ ! हे राघव ! तुम धन्य हो तुम्हारी कृपा से आज घोर शाप रूपी नरक से मेरा उद्धार हो गया । तुमने मेरे शाप का अन्त कर दिया ॥६५॥

उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्त तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

षष्टितमः सर्गः

—❀—

तयोः संवदतोरेवं रामलक्ष्मणयोस्तदा ।
वासन्तिकी निशा प्राप्ता न शीता न च घर्मदा ॥१॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण इस प्रकार प्रजापालन करने लगे। क्रमशः वसन्त की रात आ पहुँची जो न तो बहुत ठंडी ही थी और न बहुत गर्म ॥१॥

ततः प्रभाते विमले कृतपूर्वाह्णिकक्रियः ।
अभिचक्राम काकुत्स्थो दर्शनं पौरकार्यवित् ॥२॥

एक दिन प्रातःकाल महाराज श्रीरामचन्द्र जी स्नान और सन्ध्योपासनादि प्रातःकालीन आह्निककर्म कर, पुरवासियों के काय, देखने भालने के लिए दरबार में जा विराजे ॥२॥

ततः सुमन्त्रस्त्वागम्य राघवं वाक्यमब्रवीत् ।
एते [१]प्रतिहता राजन् द्वारि तिष्ठन्ति तापसाः ॥३॥

उस समय सुमंत्र ने आ कर श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे भगवन्। कुछ तपस्वी लोग द्वार पर (आपकी अनुमति के लिए) रुके हुए हैं ॥३॥

[२]भार्गवं च्यवनं चैव पुरस्कृत्य महर्षयः ।
दर्शनं ते महाराज चोदयन्ति कृतत्वराः ॥४॥

---

१ प्रतिहता—निरुद्धा । (गो०) २ भार्गवं—भृगुगोत्रापत्यं च्यवनं । (रा०)

भृगुवंशी च्यवन उनके अगुआ हैं। वे तुमसे मिलने के लिए शीघ्रता कर रहे हैं और हमें तुम्हारे पास अपने आगमन की सूचना देने को भेजा है ॥४॥

प्रीयमाणा नरव्याघ्र यमुनातीरवासिनः।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रामः प्रोवाच धर्मवित् ॥५॥

हे नरव्याघ्र! वे सब ऋषि यमुनातट के रहने वाले हैं और तुम्हारी कृपा चाहते हैं। सुमंत्र के यह वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥५॥

प्रवेश्यन्तां महाभाग भार्गवप्रमुखा द्विजाः।
राज्ञस्त्वाज्ञां पुरस्कृत्य द्वाःस्थो *मूर्ध्ना कृताञ्जलिः ॥६॥

हे महाभाग! अच्छा उन भृगुवंशी च्यवनादि समस्त तपस्वियों को यहाँ लिवा लाओ। महाराज की आज्ञा पा, सुमंत्र ने सिर झुका और हाथ जोड़, ॥६॥

प्रवेशयामास तदा तापसान् सुदुरासदान्।
शतं समधिकं तत्र दीप्यमानं स्वतेजसा ॥७॥

उन तेजस्वी तपस्वियों को महाराज के सामने पहुँचा दिआ। अपने तेज से प्रकाशमान सौ से अधिक ब्राह्मणों ने राजसभा में प्रवेश किआ ॥७॥

प्रविष्टं राजभवनं तापसानां महात्मनाम्।
ते द्विजाः पूर्णकलशैः सर्वतीर्थाम्बुसत्कृतैः ॥८॥

जब वे सब राजसभा में गए, तब वे सब महात्मा तपस्वी, तीर्थों के जलों से भरे हुए कलश हाथों में लिए हुए थे ॥८॥

---

* पाठान्तरे—"मूर्ध्नि।"

गृहीत्वा फलमूलं च रामस्याभ्याहरन् बहु ।
प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं रामः प्रीतिपुरस्कृतः ॥९॥

तथा वे बहुत से फल मूल भी श्रीरघुनाथ जी की भेंट के लिए लाए थे । श्रीरामचन्द्र जी ने प्रसन्न हो, उनकी भेंट स्वीकार की ॥९॥

तीर्थोदकानि सर्वाणि फलानि विविधानि च ।
उवाच च महाबाहुः सर्वानेव महामुनीन् ॥१०॥

समस्त तीर्थों का जल और विविध प्रकार के कंदमूल फल ले कर, महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी सब मुनियों से बोले ॥१०॥

इमान्यासनमुख्यानि यथार्हमुपविश्यताम् ।
रामस्य भाषितं श्रुत्वा सर्व एव महर्षयः ॥११॥

यह विशेष आसन बिछे हैं आप लोग इन पर यथायोग्य बैठ जाँय । श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन कर, सब महर्षि ॥११॥

बृसीषु रुचिराख्यासु निषेदुः काञ्चनीषु ते ।
उपविष्टानृषींस्तत्र दृष्ट्वा परपुरञ्जयः ।
प्रयतः प्राञ्जलिर्भूत्वा राघवो वाक्यमब्रवीत् ॥१२॥

सुन्दर भूषित सोने की चौकियों के ऊपर बैठ गये । शत्रुहन्ता श्रीरामचन्द्र जी ने उन सब ऋषियों के बैठ जाने पर, सिर झुका उनको प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर ये विनीतियुक्त वचन कहे ॥१२॥

किमागमनकार्यं वः किं करोमि समाहितः ।
आज्ञाप्योऽहं महर्षीणां सर्वकामकरः सुखम् ॥१३॥

आप लोगों के पधारने का क्या कारण है? बतलाइए मैं आपका क्या हितकर काम करूँ? आज्ञा दीजिए आपके सब मनोरथ पूरे होंगे ॥१३॥

इदं राज्यं च सकलं जीवितं च हृदि स्थितम्।
सर्वमेतद्द्विजार्थं मे सत्यमेतद्ब्रवीमि वः ॥१४॥

मैं सत्य सत्य कहता हूँ कि, यह सारा राज्य और हृदयस्थित मेरे प्राण तक—ब्राह्मणों ही के लिए हैं ॥१४॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा साधुकारो महानभूत्।
ऋषीणामुग्रतपसां यमुनातीरवासिनाम् ॥१५॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन वे ऋषि लोग "धन्य धन्य" कहने लगे। वे यमुनातटवासी बड़े बड़े तपस्वी लोग ॥१५॥

ऊचुश्च ते महात्मानो हर्षेण महताऽऽवृताः।
उपपन्नं नरश्रेष्ठ तवैव भुवि नान्यतः ॥१६॥

जो बड़े महात्मा थे; बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—हे नरश्रेष्ठ! इस भूमण्डल पर मुझे तुमको छोड़ ऐसे वचन अन्य कोई नहीं कह सकता और यह वचन तुम्हारे कहने योग्य भी है ॥१६॥

बहवः पार्थिवा राजन्नतिक्रान्ता महाबलाः।
कार्यस्य गौरवं मत्वा प्रतिज्ञां नाभ्यरोचयन् ॥१७॥

हे राजन्! हमने बड़े बड़े बली राजाओं के निकट जा, अपना प्रयोजन उनके सामने प्रकट किया, परन्तु हमारे कार्य का गौरव जान कर भी, किसी ने हमारा काम करने की प्रतिज्ञा न की ॥१७॥

त्वया पुनर्ब्राह्मणगौरवादियं
कृता प्रतिज्ञा ह्यनवेक्ष्य कारणम् ।
ततश्च कर्मा ह्यसि नात्र संशयो
महाभयात्त्रातुमृषींस्त्वमर्हसि ॥१८॥

इति षष्टितमः सर्गः ॥

किन्तु आपने ब्राह्मणों के गौरव से; हम लोगों के आगमन का कारण—(उद्देश्य) सुने बिना ही प्रतिज्ञा कर दी। इससे हम लोगों को भरोसा है कि, तुम हम लोगों का काम करोगे—इसमें सन्देह नहीं। तुम ऋषियों को बड़े भारी भय से अवश्य छुड़ा-दोगे ॥१८॥

उत्तरकाण्ड का साठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:❀:—

एकषष्टितमः सर्गः

—:०:—

ब्रुवद्भिरेवमृषिभिः काकुत्स्थो वाक्यमब्रवीत् ।
किं कार्यं ब्रूत मुनयो भयं तावदपैतु वः ॥१॥

उन ऋषियों के इस प्रकार कहने पर श्रीरामचन्द्र जी बोले—हे ऋषियो! बतलाइए, आपका क्या कार्य है। जिससे आपका भय दूर किया जाय ॥१॥

तथा ब्रुवति काकुत्स्थे भार्गवो वाक्यमब्रवीत् ।
भयानां शृणु यन्मूलं देशस्य च नरेश्वर ॥२॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसा कहने पर, भृगुवंशी च्यवन जी बोले—हे नरनाथ ! देश का तथा हम लोगों के भय का जो मुख्य कारण है, उसे हम बतलाते हैं, आप सुनें ॥२॥

पूर्वं कृतयुगे राजन् दैतेयः सुमहामतिः ।
लोलापुत्रोऽभवज्ज्येष्ठो मधुर्नाम महासुरः ॥३॥

सतयुग में मधु नाम का एक बड़ा बुद्धिमान दैत्य था । वह लोला का ज्येष्ठ पुत्र था ॥३॥

ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च बुद्ध्या च पारनिष्ठितः ।
सुरैश्च परमोदारैः प्रीतिस्तस्यातुलाऽभवत् ॥४॥

वह ब्राह्मणभक्त, शरणागतवत्सल और बड़ा बुद्धिमान था और परम उदार देवताओं के साथ उसकी अतुलित प्रीति थी ॥४॥

स मधुर्वीर्यसम्पन्नो धर्मे च सुसमाहितः ।
*बहुमानाच्च रुद्रेण दत्तस्तस्याद्भुतो वरः ॥५॥

वह बड़ा शूरवीर और धर्मनिष्ठ था । अतः भगवान् शिव जी ने, बड़े आदर सम्मान के साथ उसे एक अद्भुत वर दिआ था ॥५॥

शूलं शूलाद्विनिष्कृष्य महावीर्यं महाप्रभम् ।
ददौ महात्मा सुप्रीतो वाक्यं चैतदुवाच ह ॥६॥

भगवान् शिव ने, अपने त्रिशूल से एक बड़ा दृढ़ और आग की तरह चमचमाता त्रिशूल निकाल और बड़े हर्ष के साथ वह त्रिशूल मधु को दिआ और उससे यह कहा— ॥६॥

---

* एक संस्करण में यहाँ पर यह एक श्लोक और है :—

"बहुवर्षसहस्राणि रुद्र प्रीत्याऽकरोत्तपः ।
रुद्रः प्रीतोऽभवत्तस्मै वरं दातुं ययौ च सः ॥"

त्वयाऽयमतुलो धर्मो मत्प्रसादकरः शुभः ।
प्रीत्या परमया युक्तो ददाम्यायुधमुत्तमम् ॥७॥

हे मधो ! तुमने अतुलित धर्मानुष्ठान किया है । अतएव मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूँ । इसीसे मैं तुम्हें बड़ी प्रीति के साथ यह शस्त्र देता हूँ ॥७॥

यावत्सुरैश्च विप्रैश्च न विरुध्येर्महासुर ।
तावच्छूलं तवेदं स्यादन्यथा नाशमेष्यति ॥८॥

हे महासुर ! जब तक तुम देवताओं और ब्राह्मणों से बैर न करोगे, तब तक तो यह शस्त्र तुम्हारे पास रहैगा और जब तुम उनसे बैर करोगे, तब यह शस्त्र तुम्हारे पास न रहैगा ॥८॥

यश्च त्वामभियुञ्जीत युद्धाय विगतज्वरः ।
तं शूलो भस्मसात्कृत्वा पुनरेष्यति ते करम् ॥९॥

जो तुमसे लड़ने आवे, उसके ऊपर निर्भय हो, इस शूल का प्रहार करना । यह शूल उस शत्रु को भस्म कर, फिर तुम्हारे हाथ में चला आवेगा ॥९॥

एवं रुद्राद्वरं लब्ध्वा भूय एव महासुरः ।
प्रणिपत्य महादेवं वाक्यमेतदुवाच ह ॥१०॥

इस प्रकार शिव जी से वर पा, वह महादैत्य पुनः श्रीशिव जी को प्रणाम कर, बोला ॥१०॥

भगवन् मम वंशस्य शूलमेतदनुत्तमम् ।
भवेत्तु सततं देव सुराणामीश्वरो ह्यसि ॥११॥

हे भगवन्! मैं चाहता हूँ कि, यह अनुपम शूल मेरे वंश में सदैव बना रहे। आप देवों के देव हैं। अतः यह वर आप मुझे और दें ॥११॥

तं ब्रुवाणं मधु देवः सर्वभूतपतिः शिवः ।
प्रत्युवाच महातेजा नैतदेवं भविष्यति ॥१२॥

मधु के ऐसा कहने पर सब प्राणियों के अधिपति एवं महातेजस्वी शिव जी कहने लगे, ऐसा तो न होगा ॥१२॥

मा भूत्ते विफला वाणी मत्प्रसादकृता शुभा ।
भवतः पुत्रमेकं तु शूलमेतद्भविष्यति ॥१३॥

किन्तु मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ, अतएव तेरी बात मैं टालना भी नहीं चाहता। अतः तेरे एक पुत्र के पास भी यह शूल बना रहेगा ॥१३॥

यावत्करस्थः शूलोऽयं भविष्यति सुतस्य ते ।
अवध्यः सर्वभूतानां शूलहस्तो भविष्यति ॥१४॥

जब तक यह शूल तेरे पुत्र के हाथ में रहेगा; तब तक उसे कोई भी न मार सकेगा ॥१४॥

एवं मधुर्वरं लब्ध्वा देवात्सुमहदद्भुतम् ।
भवनं सोऽसुरश्रेष्ठः कारयामास सुप्रभम् ॥१५॥

इस प्रकार असुरश्रेष्ठ मधु ने महादेव जी से यह अद्भुत वर पा कर, एक बड़ा उत्तम और भड़कीला भवन बनवाया ॥१५॥

तस्य पत्नी महाभागा प्रिया कुम्भीनसीति या ।
विश्वावसोरपत्यं साप्यनलायां महाप्रभा ॥१६॥

उसकी पत्नी का नाम कुम्भीनसी था। वह बड़ी भाग्यवती थी और महाकान्तिमयी अनला के गर्भ से विश्वावसु द्वारा उत्पन्न हुई थी ॥१६॥

तस्याः पुत्रो महावीर्यो लवणो नाम दारुणः ।
बाल्यात्प्रभृति दुष्टात्मा पापान्येव समाचरत् ॥१७॥

उसीका पुत्र महापराक्रमी एवं नृशंस लवणासुर है, जो बालकपन ही से बड़ा दुष्टस्वभाव होने के कारण पाप में उसकी बुद्धि रहती है और वह पापकर्म ही किया करता है ॥१७॥

तं पुत्रं दुर्विनीतं तु दृष्ट्वा क्रोधसमन्वितः ।
मधुः स शोकमापेदे न चैनं किञ्चिदब्रवीत् ॥१८॥

अपने पुत्र को ऐसा दुर्विनीत देख कर, मधु क्रुद्ध और दुःखी हुआ; किन्तु लवण से उसने कहा कुछ भी नहीं ॥१८॥

स विहाय इमं लोकं प्रविष्टो वरुणालयम् ।
शूलं निवेश्य लवणे वरं तस्मै न्यवेदयत् ॥१९॥

कुछ दिनों बाद मधु इस लोक को छोड़ समुद्र में घुस गया; परन्तु जाने के पूर्व मधु ने लवण को वह शूल दिया और वरदान का वृत्तान्त भी उससे कह दिया ॥१९॥

स प्रभावेन शूलस्य दौरात्म्येनात्मनस्तथा ।
सन्तापयति लोकांस्त्रीन् विशेषेण च तापसान् ॥२०॥

अब वही लवण शूल के भरोसे अपने दुराचारी स्वभाव से तीनों लोकों को और तपस्वियों को तो विशेष रूप से सताया करता है ॥२०॥

एवंप्रभावो लवणः शूलं चैव तथाविधम् ।
श्रुत्वा प्रमाणं काकुत्स्थ त्वं हि नः परमा गतिः ॥२१॥

हे काकुत्स्थ ! लवणासुर इस प्रकार का है और उसके त्रिशूल का ऐसा माहात्म्य है । यह समस्त वृत्तान्त सुन अब आप जो उचित समझें सो करें । क्योंकि आप ही तक हमारी दौड़ है । अथवा आप ही हमारी परम गति हैं ॥२१॥

बहवः पार्थिवा राम भयार्तैर्ऋषिभिः पुरा ।
अभयं याचिता वीर त्रातारं न च विद्महे ॥२२॥

हे राजन् ! (आपके पास आने के पूर्व) हममें से अनेक ऋषियों ने, भय से व्याकुल हो, बहुत से राजाओं से लवण से अभय कर देने के लिए प्रार्थना भी की ; परन्तु किसी ने रक्षा न की ॥२२॥

ते वयं रावणं श्रुत्वा हतं सबलवाहनम् ।
त्रातारं विद्महे तात नान्यं भुवि नराधिपम् ।
तत्परित्रातुमिच्छामो लवणाद्भयपीडितान् ॥२३॥

हे तात ! जब हम लोगों ने सुना कि, आपने सकुटुम्ब रावण का संहार किया है, तब हमने समझा कि, आप हमारी रक्षा कर सकेंगे । क्योंकि पृथिवीमण्डल पर अन्य कोई ऐसा राजा नहीं, जो हमारी लवण से रक्षा कर सके । अतः लवण के भय से पीड़ित हम लोग आपसे अपनी रक्षा करवाना चाहते हैं ॥२३॥

इति राम निवेदितं तु ते भयजं कारणमुत्थितं च यत् ।
विनिवारयितुं भवानक्षमःकुरु तं काममहीनविक्रमः ॥२४॥

इति एकषष्टितमः सर्गः ॥

इस प्रकार उन तपस्वियों ने अपने भय का समस्त वृत्तान्त

कह, श्रीरामचन्द्र जी से निवेदन कर कहा—हे भगवन्! आप बड़े बलवान हैं, अतः हमारे इस भय को दूर करने में आप ही सर्वथा समर्थ हैं। सो हे महापराक्रमी! आप इस काम को कीजिए ॥२४॥

[टिप्पणी—इस प्रसंग को पढ़, कहा जा सकता है कि रामायण काल में प्रजाजन का शिष्ट प्रतिनिधि मण्डल (Deputation) राजा के पास जा अपने या अभियोगों को निवेदन करते थे।]

उत्तरकाण्ड का एकसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

द्विषष्टितमः सर्गः

—:०:—

तथोक्ते तानृषीन् रामः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ।
किमाहारः किमाचारो लवणः क्व च वर्तते ॥१॥

उन ऋषियों के ऐसा कहने पर श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़कर बोले—आप लोग यह बतलावें कि, लवणासुर क्या खाता है, उसका क्या आचरण है? और वह कहाँ रहता है? ॥१॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा ऋषयः सर्व एव ते ।
ततो निवेदयामासुर्लवणो ववृधे यथा ॥२॥

श्रीरामचन्द्र के ये वचन सुन कर, उन सब ऋषियों ने लवणासुर की वृद्धि का समस्त वृत्तान्त कहा ॥२॥

आहारः सर्वसत्त्वानि विशेषेण च तापसाः ।
आचारो रौद्रता नित्यं वासो मधुवने तथा ॥३॥

(वे कहने लगे) हे महाराज ! वैसे तो वह सभी जीवों को खाया करता है, परन्तु तपस्वियों को विशेष करके खाता है। उसका आचरण बड़ा भयङ्कर है और वह मधुवन में रहता है ॥३॥

हत्वा बहुसहस्राणि *सिंहव्याघ्रमृगाण्डजान् ।
मानुषांश्चैव कुरुते नित्यमाहारमाह्निकम् ॥४॥

वह नित्य कितने ही सहस्र सिंह, व्याघ्र, मृग, पक्षी और मनुष्यों को मार कर खा जाया करता है ॥४॥

ततोन्तराणि सत्वानि खादते स महाबलः ।
संहारे समनुप्राप्ते व्यादितास्य इवान्तकः ॥५॥

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से जीवों को बीच बीच में मार कर खा डालता है। जैसे प्रलयकाल में मृत्युदेव मुँह फाड़ कर जीवों को खा जाते हैं, वैसा ही लवणासुर का हाल है ॥५॥

तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यमुवाच स महामुनीन् ।
घातयिष्यामि तद्रक्षो व्यपगच्छतु वो भयम् ॥६॥

लवण का यह वृत्तान्त सुन, श्रीरामचन्द्र जी उन तपस्वियों से कहने लगे, मैं उस राक्षस को मरवा डालूँगा। अब आप लोग डरें नहीं ॥६॥

प्रतिज्ञाय तदा तेषां मुनीनामुग्रतेजसाम् ।
स भ्रातॄन् सहितान् सर्वानुवाच रघुनन्दनः ॥७॥

इस प्रकार उन महातेजस्वी ऋषियों से लवणासुर के बध की प्रतिज्ञा कर, श्रीरामचन्द्र जी अपने भाइयों को सम्बोधन कर बोले ॥७॥

---

* पाठान्तरे—"सिंहव्याघ्रमृगद्विपान् ।"

को हन्ता लवणं वीरः कस्यांशः स विधीयताम् ।
भरतस्य महाबाहोः शत्रुघ्नस्य च धीमतः ॥८॥

भाई तुम लोगों में से लवणासुर को कौन मारेगा ? यह काम किसके बाँट में डाला जाय ? भरत के या शत्रुघ्न के ? ॥८॥

राघवेणैव मुक्तस्तु भरतो वाक्यमब्रवीत् ।
अहमेनं वधिष्यामि ममांशः स विधीयताम् ॥९॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार पूँछा, तब भरत जी बोले—मैं उसे मारूँगा । यह काम मेरे हिस्से में डाला जाय ॥९॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा धैर्यशौर्यसमन्वितम् ।
लक्ष्मणावरजस्तस्थौ हित्वा सौवर्णमासनम् ॥१०॥

इस प्रकार धैर्य और शौर्य युक्त भरत जी के वचन सुन, लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न सोने का सिंहासन छोड़ कर उठ खड़े हुए ॥१०॥

शत्रुघ्नस्त्वब्रवीद्वाक्यं प्रणिपत्य नराधिपम् ।
कृतकर्मा महाबाहुर्मध्यमो रघुनन्दनः ॥११॥

और श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम कर बोले—हे प्रभो ! भरत जी तो अपना काम पूरा कर चुके हैं ॥११॥

आर्येण हि पुरा शून्या त्वयोध्या परिपालिता ।
सन्तापं हृदये कृत्वा आर्यस्यागमनं प्रति ॥१२॥

क्योंकि जिस समय आप अयोध्या से वन को चले गए, उस समय इन्होंने अयोध्या की रक्षा की थी और आपके लौट आने तक सन्तप्त हो, अनेक क्लेश सहे थे ॥१२॥

दुःखानि च बहूनीह अनुभूतानि पार्थिव ।
शयानो दुःखशय्यासु नन्दिग्रामे *महायशाः ॥१३॥

हे राजन् ! इन्होंने बड़े बड़े कष्ट सहे हैं। यह महायशस्वी कष्ट सहते हुए नन्दिग्राम में रहे और कुशासन पर सोए ॥१३॥

फलमूलाशनो भूत्वा जटी चीरधरस्तथा ।
अनुभूयेदृशं दुःखमेष राघवनन्दनः ॥१४॥

हे रघुनन्दन ! इन्होंने फल मूल खा कर, जटा धारण कर और चीर वस्त्र पहिन कर, अनेक दुःख सहे हैं ॥१४॥

प्रेष्ये मयि स्थिते राजन न भूयः क्लेशमाप्नुयात् ।
[तथा ब्रुवति शत्रुघ्ने राघवः पुनरब्रवीत्] ॥१५॥

मेरे जाने से यदि यह यहाँ रहेंगे, तो फिर इनको क्लेश न होगा। जब शत्रुघ्न ने ऐसा कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी पुनः बोले ॥१५॥

एवं भवतु काकुत्स्थ क्रियतां मम शासनम् ।
राज्ये त्वामभिषेक्ष्यामि मधोस्तु नगरे शुभे ॥१६॥

हे शत्रुघ्न ! अच्छी बात है, यों ही सही। अब मैं जो कहता हूँ सो करो, मैं तुमको शुभ मधुनगर का राज्य देता हूँ अथवा मधु राज्य पर अभिषिक्त करता हूँ ॥१६॥

निवेशय महाबाहो भरतं यद्यवेक्षसे ।
शूरस्त्वं कृतविद्यश्च समर्थश्च निवेशने ॥१७॥

हे महाबाहो ! यदि तुम्हारी इच्छा है कि, भरत यहीं रहें; तो उन्हें यहीं रहने दो। देखो, तुम शूरवीर हो, कृतविद्य (अनुभवी विद्वान्) हो और नगर बसा सकते हो ॥१७॥

---

* पाठान्तरे—"अवसत्पुरा ।"

[नगरं यमुनाजुष्टं तथा जनपदान् शुभान्] ।
यो हि वंशं समुत्पाद्य पार्थिवस्य निवेशने ॥१८॥
न विधत्ते नृपं तत्र नरकं स हि गच्छति ।
स त्वं हत्वा मधुसुतं लवणं पापनिश्चयम् ॥१९॥

अतएव तुम यमुना के तट पर एक नगर और सुन्दर देश बसाओ। क्योंकि जो कोई किसी राजवंश को उन्मूलन कर, उसके प्रदेश में किसी राजा को स्थापित नहीं करता, वह नरक में जाता है। सो तुम उस मधु के पुत्र दुरात्मा पापी लवणासुर को मार कर, ॥१८॥१९॥

राज्यं प्रशाधि धर्मेण वाक्यं मे यद्यवेक्षसे ।
उत्तरं च न वक्तव्यं शूर वाक्यान्तरे मम ॥२०॥

उस राज्य को धर्मपूर्वक पालन करना। यदि मेरा कहना मानते हो तो हे शूर ! मेरा कथन सुन कर, फिर कुछ कहना मत ॥२०॥

बालेन पूर्वजस्याज्ञा कर्तव्या नात्र संशयः ।
अभिषेकं च काकुत्स्थ प्रतीच्छस्व ममोद्यतम् ॥२१॥
वसिष्ठप्रमुखैर्विप्रैर्विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ॥२२॥

इति द्विषष्टितमः सर्गः ॥

क्योंकि छोटों को बड़ों की आज्ञा अवश्य माननी चाहिए। अतः मेरे दिए हुए राज्य को ग्रहण करो और वसिष्ठादि ब्राह्मणों के हाथ से विधिपूर्वक मंत्रों से अभिषेकक्रिया करवाओ ॥२१॥२२॥

उत्तरकाण्ड का बासठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—:o:—

एवमुक्तस्तु रामेण परां व्रीडामुपागमत् ।
शत्रुघ्नो वीर्यसम्पन्नो मन्दं मन्दमुवाच ह ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसा कहने पर, शत्रुघ्न जी बहुत लज्जित हुए (शर्माने) और मन्द स्वर से (धीरे धीरे) पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥१॥

अधर्मं विद्म काकुत्स्थ अस्मिन्नर्थे नरेश्वर ।
कथं तिष्ठत्सु ज्येष्ठेषु कनीयानभिषिच्यते ॥२॥

हे काकुत्स्थ ! मेरी समझ में तो यह अधर्म है। भला ज्येष्ठ भ्राता के रहते छोटे भाई का अभिषेक कैसे हो सकता है ? ॥२॥

अवश्यं करणीयं च शासनं पुरुषर्षभ ।
तव चैव महाभाग शासनं दुरतिक्रमम् ॥३॥

परन्तु हे पुरुषश्रेष्ठ ! आपकी आज्ञा का पालन भी तो अवश्य होना चाहिए। क्योंकि आपकी आज्ञा टाली नहीं जा सकती ॥३॥

त्वत्तो मया श्रुतं वीर श्रुतिभ्यश्च मया श्रुतम् ।
नोत्तरं हि मया वाच्यं मध्यमे प्रतिजानति ॥४॥
व्याहृतं दुर्वचो घोरं हन्तास्मि लवणं मृधे ।
तस्यैवं मे दुरुक्तस्य दुर्गतिः पुरुषर्षभ ॥५॥

हे वीर ! आप से मैंने यह सीखा है और वेदों में भी यही पाया गया है। अतः मैं आपकी बात पर कुछ भी आपत्ति न करूँगा।

देखिए, भरत जी प्रतिज्ञा कर चुके थे। किन्तु मैं जो बीच में बोल उठा कि, मैं लवण को मारूँगा, सो उस अनुचित कथन के फल स्वरूप, हे पुरुषश्रेष्ठ ! मुझे यह दुर्गति प्राप्त हुई है ॥४॥५॥

उत्तरं न हि वक्तव्यं ज्येष्ठेनाभिहिते पुनः ।
अधर्मसहितं चैव परलोकविवर्जितम् ॥६॥

बड़े भाई के कथन का उत्तर न देना चाहिए। क्योंकि उत्तर देने से अधर्म होता है और परलोक बिगड़ता है ॥६॥

सोऽहं द्वितीयं काकुत्स्थ न वक्ष्यामीति चोत्तरम् ।
मा द्वितीयेन दण्डो वै निपतेन् मयि मानद ॥७॥

एक तो मैं भरत जी की बात में बोल उठा, दूसरे अब आपकी बात में बोल रहा हूँ। सो हे मानद ! इन दोनों अधर्मों का फल यह राज्यरूपी दण्ड मुझे न दीजिए ॥७॥

कामकारो ह्ययं राजंस्तवास्य पुरुषर्षभ ।
अधर्मं जहि काकुत्स्थ मत्कृते रघुनन्दन ॥८॥

हे पुरुषश्रेष्ठ हे राजन् ! मैं तो आपके इच्छानुसार ही कार्य करने वाला हूँ। किन्तु अपना राज्याभिषेक कराने में (ज्येष्ठभ्राता के सामने) मुझे जो पाप लगेगा, उससे आप मेरी रक्षा कीजिए ॥८॥

एवमुक्ते तु शूरेण शत्रुघ्नेन महात्मना ।
उवाच रामः संहृष्टो भरतं लक्ष्मणं तथा ॥९॥

जब महात्मा एवं शूरवीर शत्रुघ्न जी ने ऐसा कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी ने प्रसन्न हो कर, भरत और लक्ष्मण से कहा ॥९॥

संभारानभिषेकस्य आनयध्वं समाहिताः ।
अद्यैव पुरुषव्याघ्रमभिषेक्ष्यामि राघवम् ॥१०॥

अभी तुरन्त अभिषेक का सामान ले आओ, मैं इसी समय शत्रुघ्न का अभिषेक करूँगा ॥१०॥

पुरोधसं च काकुत्स्थ नैगमानृत्विजस्तथा ।
मन्त्रिणश्चैव तान् सर्वानानयध्वं ममाज्ञया ॥११॥

हे लक्ष्मण ! मेरी ओर से पुरोहित जी को, बड़े बड़े आदमियों (अमीरों को) ऋत्विजों को और सब मंत्रियों को बुला लाओ ॥११॥

राज्ञः शासनमाज्ञाय तथाऽकुर्वन् महारथाः ।
अभिषेकसमारम्भं पुरस्कृत्य पुरोधसम् ॥१२॥
प्रविष्टा राजभवनं राजानो ब्राह्मणास्तथा ।
ततोऽभिषेको ववृधे शत्रुघ्नस्य महात्मनः ॥१३॥

उन महारथियों ने महाराज की आज्ञा पा, तदनुसार ही कार्य किया और पुरोहित को आगे कर, अभिषेक की सारी सामग्री ले आए। इस प्रकार सब राजा और ब्राह्मण राजभवन में इकट्ठे हुए। तदनन्तर शत्रुघ्न का राज्याभिषेक होने लगा ॥१२॥१३॥

संप्रहर्षकरः श्रीमान् राघवस्य पुरस्य च ।
अभिषिक्तस्तु काकुत्स्थो बभौ चादित्यसन्निभः ॥१४॥

इस प्रकार अभिषेक हो जाने पर शत्रुघ्न जी सूर्य की तरह शोभायमान हुए तथा श्रीरामचन्द्र जी तथा पुरवासियों का हर्ष बढ़ाने लगे। अथवा इससे श्रीरामचन्द्र जी और पुरवासी अत्यन्त हर्षित हुए। अभिषेक हो जाने पर शत्रुघ्न जी सूर्य की तरह शोभायमान हुए ॥१४॥

अभिषिक्तः पुरा स्कन्दः सेन्द्रैरिव दिवौकसैः ।
अभिषिक्ते तु शत्रुघ्ने रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥१५॥

जैसे इन्द्रादि देवताओं के अभिषेक करने पर स्वामिकार्तिक की शोभा हुई थी, वैसी शोभा अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी द्वारा अभिषिक्त होने पर शत्रुघ्न जी की हुई ॥१५॥

पौराः प्रमुदिताश्चासन् ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः ।
कौसल्या च सुमित्रा च मङ्गलं केकयी तथा ॥१६॥
चक्रुस्ता राजभवने याश्चान्या राजयोषितः ।
ऋषयश्च महात्मानो यमुनातीरवासिनः ॥१७॥
हतं लवणमाशंसुः शत्रुघ्नस्याभिषेचनात् ।
ततोऽभिषिक्तं शत्रुघ्नमङ्कमारोप्य राघवः ।
उवाच मधुरां वाणीं तेजस्तस्याभिपूरयन् ॥१८॥

पुरवासी और वेदपाठी ब्राह्मण बहुत सन्तुष्ट हुए तथा कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी तथा अन्य समस्त राजस्त्रियाँ मङ्गलाचार करने लगीं। शत्रुघ्न का अभिषेक होने से यमुनातीरवासी महात्मा ऋषियों को लवणासुर के मारे जाने का निश्चय हो गया। तदनन्तर अभिषिक्त शत्रुघ्न को श्रीरामचन्द्रजी ने अपनी गोद में बैठाकर और उनका तेज बढ़ाते हुए उनसे मधुर वाणी से कहा ॥१६॥१७॥१८॥

अयं शरस्त्वमोघस्ते दिव्यः परपुरञ्जयः ।
अनेन लवणं सौम्य हन्तासि रघुनन्दन ॥१९॥

हे सौम्य ! हे रघुनन्दन ! मैं तुम्हें यह दिव्य एवं अमोघ बाण देता हूँ। यह शत्रु के नगर को सर करने वाला है। इससे तुम लवणासुर का वध करना ॥१९॥

सृष्टः शरोऽयं काकुत्स्थ यदा शेते महार्णवे ।
स्वयंभूरजितो दिव्यो यं नापश्यन् सुरासुराः ॥२०॥
अदृश्यः सर्वभूतानां तेनायं हि शरोत्तमः ।
सृष्टः क्रोधाभिभूतेन विनाशार्थं दुरात्मनोः ॥२१॥
मधुकैटभयोर्वीर विघाते *सर्वरक्षसाम् ।
स्रष्टु कामेन लोकांस्त्रींस्तौ चानेन हतौ युधि ॥२२॥
तौ हत्वा जनभोगार्थे कैटभं तु मधुं तथा ।
अनेन शरमुख्येन ततो लोकांश्चकार सः ॥२३॥

यह बाण भगवान् विष्णु ने तब बनाया था, जब वे प्रलय के समय समुद्र में पड़े थे और उनको देवता तथा अन्य कोई प्राणी नहीं देख सकता था। उस समय उन देवादिदेव ने मधु तथा कैटभ तथा अन्य समस्त राक्षसों के वध के लिए क्रोध में भर यह बाण बनाया था। इसी बाण से उन दोनों दुष्टात्माओं को मार कर, तीनों लोक बसाये थे ॥२०॥२१॥२२॥२३॥

नायं मया शरः पूर्वं रावणस्य वधार्थिना ।
मुक्तः शत्रुघ्न भूतानां महान् †ह्रासो भवेदिति ॥२४॥

हे शत्रुघ्न! रावण को मारने के लिए भी मैंने इस बाण से काम नहीं लिआ। क्योंकि इसके चलाने से बहुत प्राणियों का नाश होता है ॥२४॥

[टिप्पणी—यह बाण आधुनिक कालीन एटम बम से कम संहार-कारक न था। ऐसे अनेक संहारकारी अस्त्र प्राचीन कालीन भारत में विद्यमान थे।]

* पाठान्तरे—"वर्तमानयोः।" † पाठान्तरे—"स्त्रासो।"

यच्च तस्य महच्छूलं त्र्यम्बकेण महात्मना ।
दत्तं शत्रुविनाशाय मधोरायुधमुत्तमम् ॥२५॥

तत् सन्निक्षिप्य भवने पूज्यमान पुनः पुनः ।
दिशः सर्वाः समासाद्यप्राप्नोत्याहारमुत्तमम् ॥२६॥

शिव जी ने मधु को जो शत्रुनाशक उत्तम त्रिशूल दिआ था, उसे लवण घर में छोड़ कर आहार लाने को इधर उधर जाता है। उस त्रिशूल का वह नित्य पूजन किआ करता है ॥२५॥२६॥

यदा तु युद्धमाकाङ्क्षन् यदि कश्चित् समाह्वयेत् ।
तदा शूलं गृहीत्वा तु भस्म रक्षः करोति हि ॥२७॥

जब कोई लड़ने के लिए लवणासुर को ललकारता है, तब वह दैत्य घर से शूल ला कर, उससे उसे भस्म कर डालता है ॥२७॥

स त्वं पुरुषशार्दूल तमायुधविनाकृतम् ।
अप्रविष्टं पुरं पूर्वं द्वारि तिष्ठ धृतायुधः ॥२८॥

अतएव हे पुरुषसिंह ! जब वह नगर के बाहिर गया हो; तब तुम अस्त्र से सुसज्जित हो, नगरद्वार को रोक लेना ॥२८॥

अप्रविष्टं च भवनं युद्धाय पुरुषर्षभ ।
आह्वयेथा महाबाहो ततो हन्तासि राक्षसम् ॥२९॥

उसे घर में मत जाने देना और उसी समय उसे तुम युद्ध के लिए ललकारना। हे महाबाहो ? ऐसा करने से तुम अवश्य उसे मार सकोगे ॥२९॥

अन्यथा क्रियमाणे तु अवध्यः स भविष्यति ।
यदि त्वेवं कृतं वीर विनाशमुपयास्यति ॥३०॥

इसके विपरीत करने से वह किसी प्रकार न मारा जायगा। जैसा मैंने बतलाया है, वैसा करोगे तो उसका विनाश अवश्य होगा ॥३०॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं शूलस्य च विपर्ययः ।
श्रीमतः शितिकण्ठस्य कृत्यं हि दुरतिक्रमम् ॥३१॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

यह सारा हाल मैंने तुमको सुना दिया और शूल का परिहार (रोक) भी तुमको बतला दिया। अन्यथा श्रीशिव जी का वह त्रिशूल किसी के मान का नहीं है ॥३१॥

उत्तरकाण्ड का तिरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

चतुःषष्टितमः सर्गः

—:o:—

एवमुक्त्वा च काकुत्स्थं प्रशस्य च पुनः पुनः ।
पुनरेवापरं वाक्यमुवाच रघुनन्दनः ॥१॥

इस प्रकार शत्रुघ्न जी से कह और बारंबार उनकी प्रशंसा कर, श्रीरामचन्द्र जी पुनः उनसे बोले ॥१॥

इमान्य अश्वसहस्राणि चत्वारि पुरुषर्षभ ।
रथानां द्वे सहस्रे च गजानां शतमुत्तमम् ॥२॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! ये चार हज़ार घोड़े, दो हज़ार रथ और सौ बढ़िया हाथी है ॥२॥

अन्तरा पण्वीथ्यश्च नानापण्योपशोभिताः ।
अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं तथैव नटनर्तकाः ॥३॥

नगर की बीच की दूकानें, जिनमें (ख़रीदफ़रोख़्त) मोल लेने और बेचने का सामान भरा है; नट, नर्तक—ये सब काकुत्स्थ के (अर्थात् तुम्हारे) साथ जाँयगे ॥३॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य नियुतं पुरुषर्षभ ।
आदाय गच्छ शत्रुघ्न पर्याप्तधनवाहनः ॥४॥

हे पुरुषसिंह शत्रुघ्न! सैनकादि के व्यय के लिए एक लाख सोने की मोहरें भी तुम लेते जाओ। पर्याप्त धन तथा वाहनों से पूर्ण हो कर, तुम यात्रा करो ॥४॥

बलं च सुभृतं वीर हृष्टस्तुष्टमनुद्धतम् ।
सम्भाषासम्प्रदानेन रञ्जयस्व नरोत्तम ॥५॥

हे वीर! हे नरोत्तम! हृष्टपुष्ट बहुत से सैनिकों को साथ ले कर जाओ। उनको सन्तुष्ट रखने के लिए उनसे अच्छे वचन बोलो और उनको समय पर उनको मासिक वेतन देकर उनको सन्तुष्ट रखना। ॥५॥

न ह्यर्थास्तत्र तिष्ठन्ति न दारा न च बान्धवाः ।
सुप्रीतो भृत्यवर्गस्तु यत्र तिष्ठति राघव ॥६॥

हे राघव! जहाँ धन, कुलबधू और भाई बन्धु कोई भी नहीं ठहर सकते। वहाँ सन्तुष्ट भृत्य वर्ग ही ठहर सकता है ॥६॥

अतो हृष्टजनाकीर्णां प्रस्थाप्य महतीं चमूम् ।
एक एव धनुष्पाणिर्गच्छ त्वं मधुनो वनम् ॥७॥

यथा त्वां न प्रजानाति गच्छन्तं युद्धकाङ्क्षिणम् ।
लवणस्तु मधोः पुत्रस्तथा गच्छेरशङ्कितम् ।८॥

अतएव तुम सन्तुष्ट सैनिक वीरों की विशाल सेना को साथ ले कर जाओ और उस सेना को कहीं ठहरा कर, तुम अकेले ही धनुष बाण ले कर, मधुवन में चले जाना, जिससे मधुपुत्र लवण को यह पता ही न चले कि तुम उससे लड़ने के लिए आए हो। अब तुम निःशङ्क हो कर जाओ ॥७॥८॥

न तस्य मृत्युरन्योस्ति कश्चिद्धि पुरुषर्षभ ।
दर्शनं योऽभिगच्छेत स वध्यो लवणेन हि ॥९॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! उसके मारने का और कोई उपाय नहीं है। जिसे वह पहले से जान लेता है कि यह मुझसे लड़ने आता है, उसे तो वह देखते ही शूल से मार डालता है ॥९॥

स ग्रीष्म अपयाते तु वर्षारात्र उपागते ।
हन्यास्त्वं लवणं सौम्य स हि कालोऽस्य दुर्मतेः ॥१०॥

हे सौम्य ! तुम गर्मी की ऋतु के अन्त में और वर्षा ऋतु के आरम्भ में उसको मारना। यही उस दुष्ट के मारने का (उपयुक्त) समय है ॥१०॥

महर्षींस्तु पुरस्कृत्य प्रयान्तु तव सैनिकाः ।
यथा ग्रीष्मावशेषेण तरेयुर्जाह्नवीजलम् ॥११॥

महर्षियों को आगे कर तुम्हारी सेना रवाना हो, जिससे गर्मी की ऋतु रहते ही तुम्हारी सेना श्रीगङ्गा के पार हो जाय ॥११॥

[टिप्पणी — यह इसलिए कि वर्षाऋतु में गंगा जब चढ़ आवेंगी, तब उन्हें पार होने में कठिनाई होगी ।]

तत्र स्थाप्य बलं सर्वं नदीतीरे समाहितः ।
अग्रतो धनुषा सार्धं गच्छ त्वं लघुविक्रम ॥१२॥

हे अमितविक्रम ! नदीतट पर कहीं अपनी सेना को सावधानतापूर्वक टिका कर, तुम धनुष बाण ले कर, शीघ्र चले जाना ॥१२॥

एवमुक्तस्तु रामेण शत्रुघ्नस्तान् महाबलान् ।
सेनामुख्यान् समानीय ततो वाक्यमुवाच ह ॥१३॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन सब आदेशों को सुन, शत्रुघ्न जी ने महाबलवान सेनापतियों को बुला कर, उनसे कहा ॥१३॥

एते वो गणिता वासा यत्र तत्र निवत्स्यथ ।
स्थातव्यं चाविरोधेन यथा बाधा न कस्यचित् ॥१४॥

देखो ! तुम लोगों के मार्ग में ठहरने के लिए (अमुक अमुक) पड़ाव नियत कर दिए गए हैं । तुम लोग इन पड़ावों पर निडर हो ठहरना । किन्तु इस बात का ध्यान रखना कि, रास्ते में किसी से झगड़ा न हो और कोई सताया न जाय या किसी की कुछ हानि न हो ॥१४॥

तथा तांस्तु समाज्ञाप्य प्रस्थाप्य च महद्बलम् ।
कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीं चाभ्यवादयत् ॥१५॥

इस प्रकार शत्रुघ्न जी ने सेनापतियों को आज्ञा दे, उस विशाल सेना को रवाना किया। तदनन्तर उन्होंने रनवास में जा कर कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी को प्रणाम किया ॥१५॥

रामं प्रदक्षिणीकृत्य शिरसाऽभिप्रणम्य च ।
लक्ष्मणं भरतं चैव प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥१६॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी की परिक्रमा कर और उनको सिर झुका कर प्रणाम कर तथा भरत जी एवं लक्ष्मण जी को हाथ जोड़ ॥१६॥

पुरोहितं वसिष्ठं च शत्रुघ्नः प्रयतात्मवान् ।
रामेण चाभ्यनुज्ञातः शत्रुघ्नः शत्रुतापनः ।
प्रदक्षिणमथो कृत्वा निर्जगाम महाबलः ॥१७॥

तथा पुरोहित वसिष्ठ जी को दण्डवत् कर के, नियम से रहने वाले और शत्रुओं को सन्तप्त करने वाले महाबली शत्रुघ्न जी श्रीरघुनाथ जी से आज्ञा ले और उनकी (फिर) परिक्रमा कर, चल दिए ॥१७॥

*निर्याप्य सेनामथ सोऽग्रतस्तदा
गजेन्द्रवाजिप्रवरौघसङ्कुलाम् ।
‡उपास्यमानः स नरेन्द्र पार्श्वतः
प्रतिप्रयातो रघुवंशवर्धनः ॥१८॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

गज, अश्व आदि से युक्त उस विशाल वाहिनी को तो उन्होंने आगे ही रवाना कर दिया था। पीछे रघुवंश के बढ़ाने

* पाठान्तरे—"प्रस्थाप्य।" ‡ पाठान्तरे—"उवास मासं तु।"

वाले नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी से बिदा माँग, शत्रुघ्न जी स्वय भा रवाना हुए ॥१८॥

उत्तरकाण्ड का चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—:०:—

प्रस्थाप्य च बलं सर्वं [१]मासमात्रोषितः पथि।
एक एवाशु शत्रुघ्नो जगाम त्वरितं तदा ॥१॥

सेना को भेजने के बाद शत्रुघ्न जी एक मास अयोध्या में रहे। तदनन्तर उन्होंने अयोध्या से अकेले ही प्रस्थान किया ॥१॥

द्विरात्रमन्तरे शूर उष्य राघवनन्दनः।
वाल्मीकेराश्रमं पुण्यमगच्छद्वासमुत्तमम् ॥२॥

और रास्ते में दो दिन लगा, तीसरे दिन शत्रुघ्न जी वाल्मीकि के पवित्र आश्रम में पहुँचे ॥२॥

सोभिवाद्य महात्मानं वाल्मीकिं मुनिसत्तमम्।
कृताञ्जलिरथो भूत्वा वाक्यमेतदुवाच ह ॥३॥

शत्रुघ्न जी महर्षि वाल्मीकि जी को अभिवादन कर और हाथ जोड़ उनसे यह बोले ॥३॥

भगवन् वस्तुमिच्छामि गुरोः कृत्यादिहागतः।
श्वः प्रभाते गमिष्यामि प्रतीचीं *दारुणां दिशम् ॥४॥

---

१ अयोध्यायामितिशेषः। (रा०)

* पाठान्तरे—"वारुणीं।"

हे भगवन्! महाराज के एक काम से मैं आया हूँ और आज यहाँ ठहरना चाहता हूँ। कल भयावनी पश्चिम दिशा की ओर रवाना हो जाऊँगा ॥४॥

शत्रुघ्नस्य वचः श्रुत्वा प्रहस्य मुनिपुङ्गवः ।
प्रत्युवाच महात्मानं स्वागतं ते महायशः ॥५॥

शत्रुघ्न जी के वचन सुन, मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि जी मुस्कराए और उनसे बोले कि, हे महायशस्वी! तुम भले आए ॥५॥

स्वामाश्रममिदं सौम्य राघवाणां कुलस्य वै ।
आसनं पाद्यमर्घ्यं च निर्विशङ्कः प्रतीच्छ मे ॥६॥

हे सौम्य! यह मेरा आश्रम तो रघुकुल वालों के लिए ही है। आप अर्घ्य पाद्य आसन ग्रहण कर, निःशङ्क हो यहाँ ठहरिए ॥६॥

प्रतिगृह्य तदा पूजां फलमूलं च भोजनम् ।
भक्षयामास काकुत्स्थस्तृप्तिं च परमां गतः ॥७॥

इस प्रकार शत्रुघ्न जी आतिथ्य ग्रहण कर और फल मूल खा कर, परम तृप्त हुए ॥७॥

स भुक्त्वा फलमूलं च महर्षिं तमुवाच ह ।
पूर्वा यज्ञविभूतीयं कस्याश्रमसमीपतः ॥८॥

फल मूल खा कर, वे महर्षि वाल्मीकि जी से बोले—भगवन्! इस आश्रम के निकट पूर्व की ओर, यह यज्ञ का सामान (या तैयारियाँ) किसका देख पड़ता है? ॥८॥

तत्तस्य भाषितं श्रुत्वा वाल्मीकिर्वाक्यमब्रवीत् ।
शत्रुघ्न शृणु यस्येदं बभूवायतनं पुरा ॥९॥

युष्माकं पूर्वको राजा *सौदासस्तस्य भूपतेः ।
पुत्रो वीर्यसहो नाम वीर्यवानतिधार्मिकः ॥१०॥

यह सुन कर, वाल्मीकि बोले, हे शत्रुघ्न! सुनो, पूर्वकाल में जिनका यह स्थान था, सो मैं बतलाता हूँ। तुम्हारे वंश में सौदास नामक एक राजा हो गए हैं। उनके पुत्र वीर्यसह बड़े धार्मिक और पराक्रमी थे ॥६॥१०॥

स बाल एव सौदासो मृगयामुपचक्रमे ।
चञ्चूर्यमाणं ददृशे स शूरो राक्षसद्वयम् ॥११॥

राजा सौदास को लड़कपन ही से शिकार का व्यसन था। एक दिन सौदास ने वन में घूमते समय दो राक्षसों को देखा ॥११॥

शार्दूलरूपिणौ घोरौ मृगान् बहु सहस्रशः ।
भक्षमाणावसन्तुष्टौ पर्याप्तिं नैव जग्मतुः ॥१२॥

वे दोनों राक्षस भयङ्कर व्याघ्र का रूप धारण कर, कई हज़ार मृगादि वन्यपशुओं को खा कर भी सन्तुष्ट नहीं होते थ ॥१२॥

स तु तौ राक्षसौ दृष्ट्वा निर्मृगं च वने कृतम् ।
क्रोधेन महताऽविष्टो जघानैकं महेषुणा ॥१३॥

जब राजा सौदास ने देखा कि, उन दोनों राक्षसों ने तो वन को पशुहीन ही कर डाला, है तब उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध हो, एक बड़ा बाण मार कर, उन दो में से एक को मार डाला ॥१३॥

विनिपात्य तमेकं तु सौदासःपुरुषर्षभः ।
विज्वरो विगतामर्षो हतं रक्षो ह्युदैक्षत ॥१४॥

---

* पाठान्तरे—"सुदासस्तस्य ।"

पुरुषश्रेष्ठ सौदास एक राक्षस को मार, सन्ताप और क्रोध से रहित हो, उस मरे हुए राक्षस की ओर देखने लगे ॥१४॥

निरीक्षमाणं तं दृष्ट्वा सहायं तस्य रक्षसः।
सन्तापमकरोद्घोरं सौदासं चेदमब्रवीत् ॥१५॥

राजा सौदास को उस मृत राक्षस की ओर देखते हुए जान कर, मरे हुए राक्षस का साथी राक्षस, बहुत दुःखी हो कर, उनसे बोला ॥१५॥

यस्मादनपराधं तं सहायं मम जघ्निवान्।
तस्मात्तवापि पापिष्ठ प्रदास्यामि प्रतिक्रियाम् ॥१६॥

अरे पापी! तूने निरपराध मेरे साथी को मारा है। अतः मैं तुझसे इसका बदला ले लूँगा ॥१६॥

एवमुक्त्वा तु तद्रक्षस्तत्रैवान्तरधीयत।
कालपर्याययोगेन राजा मित्रसहोऽभवम् ॥१७॥

यह कह कर वह राक्षस वहीं अदृश्य हो गया। कुछ दिनों बाद समय आने पर (अर्थात् सौदास के मरने पर) सौदास का पुत्र वीर्यसह राजसिंहासन पर आसीन हुआ ॥१७॥

राजापि यजते यज्ञमस्याश्रमसमीपतः।
अश्वमेधं महायज्ञं तं वसिष्ठोऽप्यपालयत् ॥१८॥

उसने इसी आश्रम के निकट अश्वमेध यज्ञ करना आरम्भ किया। उस यज्ञ की रक्षा वसिष्ठ जी करते थे अथवा उस यज्ञ को वसिष्ठ जी करवाते थे ॥१८॥

तत्र यज्ञो महानासीद्बहुवर्षगणायुतः।
समृद्धः परया लक्ष्म्या देवयज्ञसमोऽभवत् ॥१९॥

वह यज्ञ बड़ी धूमधाम से कितने ही वर्षों तक बड़ी समृद्धि के साथ देवयज्ञ की तरह हुआ किया ॥१९॥

अथावसाने यज्ञस्य पूर्ववैरमनुस्मरन् ।
वसिष्ठरूपी राजानमिति होवाच राक्षसः ॥२०॥

अब वही राक्षस (जो सौदास के हाथ से मारे जाने से बच गया था) पुराने वैर को स्मरण कर, वसिष्ठ जी का रूप बना, राजा के पास आ कर, कहने लगा ॥२०॥

अद्य यज्ञावसानान्ते सामिषं भोजनं मम ।
दीयतामिति शीघ्रं वै नात्र कार्या विचारणा ॥२१॥

आज इस यज्ञ की समाप्ति में शीघ्र ही मुझे मांस सहित भोजन कराओ । इसमें सोचने विचारने की आवश्यकता नहीं है ॥२१॥

तच्छ्रुत्वा व्याहृतं वाक्यं रक्षसा ब्रह्मरूपिणा ।
सूदान् संस्कारकुशलानुवाच पृथिवीपतिः ॥२२॥

ब्राह्मण रूपधारी उस राक्षस के ये वचन सुन कर, राजा ने भोजन बनाने में चतुर रसोइयों से कहा ॥२२॥

हविष्यं सामिषं स्वादु यथा भवति भोजनम् ।
तथा कुरुत शीघ्रं वै परितुष्येद्यथा गुरुः ॥२३॥

आज मांस सहित ऐसा स्वादिष्ट हविष्यान्न शीघ्र तैयार करो जिसे खा कर, गुरु जी तृप्त हों ॥२३॥

शासनात्पार्थिवेन्द्रस्य सूदः सम्भ्रान्तमानसः ।
तच्च रक्षः पुनस्तत्र सूदवेषमथाकरोत् ॥२४॥

राजा के ये विलक्षण वचन सुन कर, रसोइयाँ घबड़ा गया कि राजा आज कहते क्या हैं? इसी बीच में वहां राक्षस एक रसोइयाँ का रूप धर कर, रसोईघर में घुस गया ॥२४॥

स मानुषमथो मांसं पार्थिवाय न्यवेदयत् ।
इदं स्वादु हविष्यं च सामिषं चान्नमाहृतम् ॥२५॥

उसने मनुष्य का माँस राँध कर, राजा को दिया और कहा यह परम स्वादिष्ट हविष्य आमिष अन्न तैयार है ॥२५॥

स भोजनं वसिष्ठाय पत्न्यासार्धमुपाहरत् ।
मदयन्त्या नरश्रेष्ठ सामिषं रक्षसा हृतम् ॥२६॥

हे नरश्रेष्ठ! राजा ने अपनी मदयन्ती पत्नी सहित वसिष्ठ जी को भोजन करने को, राक्षस द्वारा लाया हुआ वह माँस मिश्रित भोजन दिया ॥२६॥

ज्ञात्वा तदामिषं विप्रो मानुषं भोजनागतम् ।
क्रोधेन महताऽऽविष्टो व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥२७॥

वसिष्ठ जी को जब मालूम हुआ कि, यह मनुष्य का माँस है, तब तो मुनि अत्यन्त क्रुद्ध हो वीर्यसह से कहने लगे ॥२७॥

तस्मात्त्वं भोजनं राजन् ममैतद्दातुमिच्छसि ।
तस्माद्भोजनमेतत्ते भविष्यति न संशयः ॥२८॥

हे राजन्! तू ने जैसे भोजन मेरे सामने परोसा है, वैसा ही भोजन तेरा होगा। इसमें कुछ भी संदेह नहीं। (अर्थात् तू राक्षस होगा ॥२८॥

ततः क्रुद्धस्तु सौदासस्तोयं जग्राह पाणिना ।
वसिष्ठं शप्तुमारेभे भार्याचैनमवारयत् ॥२९॥

यह सुन सौदास ने क्रोध में भर हाथ में जल ले कर जब वसिष्ठ को शाप देना चाहा तब रानी ने उन्हें रोक कर कहा ॥२६॥

राजन् प्रभुर्यतोस्माकं वसिष्ठो भगवानृषिः ।
प्रतिशप्तुं न शक्तस्त्वं देवतुल्यं पुरोधसम् ॥३०॥

हे राजन्! भगवान् वसिष्ठ ऋषि हमारे प्रभु और देवतुल्य पुरोहित हैं, अतः उनको तुम शाप के बदले में शाप नहीं दे सकते ॥३०॥

ततः क्रोधमयं तोयं तेजोबलसमन्वितम् ।
व्यसर्जयत धर्मात्मा ततः पादौ सिषेच च ॥३१॥

रानी की बात सुन, उस महात्मा राजा ने क्रोधमय एवं तेजोबलयुक्त उस जल को अपने ही पैरों पर डाल लिआ ॥३१॥

तेनास्य राज्ञस्तौ पादौ तदा कल्माषतां मतौ ।
तदाप्रभृति राजाऽसौ सौदासः सुमहायशाः ॥३२॥

इससे इस राजा के दोनों पैर काले पड़ गए और उसी दिन से महायशस्वी राजा सौदास ॥३२॥

कल्माषपादः संवृत्तः ख्यातश्चैव तथा नृपः ।
स राजा सह पत्न्या वै प्रणिपत्य मुहुर्मुहुः ।
पुनर्वसिष्ठं प्रोवाच यदुक्तं ब्रह्मरूपिणा ॥३३॥

कल्माषपाद के नाम से प्रसिद्ध हो गया। राजा रानी सहित बारबार मुनि के चरणों में प्रणाम कर, जो कुछ वसिष्ठ रूपधारी राक्षस ने कहा था, उनसे वह सब कहा ॥३३॥

तच्छ्रुत्वा पार्थिवेन्द्रस्य रक्षसा विकृतं च तत् ।
पुनः प्रोवाच राजानं वसिष्ठः पुरुषर्षभम् ॥३४॥

राजा के वचन सुन और राजा के कृत्य को विचार कर, फिर वसिष्ठ जी ने उस पुरुषश्रेष्ठ राजा से कहा ॥३४॥

मया रोषपरीतेन यदिदं व्याहृतं वचः ।
नैतच्छक्यं वृथा कर्तुं प्रदास्यामि च ते वरम् ॥३५॥

हे राजन् ! क्रोध में भर जो शाप मेरे मुख से निकल गया है, वह तो अन्यथा हो नहीं सकता । परन्तु मैं तुमको यह वर भी देता हूँ कि, ॥३५॥

कालो द्वादशवर्षाणि शापस्यान्तो भविष्यति ।
मत्प्रसादाच्च राजेन्द्र अतीतं न स्मरिष्यसि ॥३६॥

बारह वर्ष में इस शाप का अन्त हो जायगा । हे राजेन्द्र ! उस समय तुमको इन बातों का स्मरण भी न रहैगा ॥३६॥

एवं स राजा तं शापमुपभुज्यारिसूदनः ।
प्रतिलेभे पुनः राज्यं प्रजाश्चैवान्वपालयत् ॥३७॥

इस प्रकार, हे शत्रुघ्न जी ! वह राजा उस शाप को भोग और अन्त में पुनः राज्य को प्राप्त कर, प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करने लगा ॥३७॥

तस्य कल्माषपादस्य यज्ञस्यायतनं शुभम् ।
आश्रमस्य समीपेस्मिन् यन्मां पृच्छसि राघव ॥३८॥

हे राघव ! उन्हीं कल्माषपाद राजा के यज्ञ का यह सुन्दर यज्ञ स्थान है जो मेरे आश्रम के निकट है और जिसके विषय में तुमने प्रश्न किया है ॥३८॥

तस्य तां पार्थिवेन्द्रस्य कथां श्रुत्वा सुदारुणाम् ।
विवेश पर्णशालायां महर्षिमभिवाद्य च ॥३६॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

शत्रुघ्न इस प्रकार उस महात्मा राजा का अत्यन्त दारुण वृत्तान्त सुन और महर्षि को प्रणाम कर, पर्णशाला में चले गए ॥३६॥

उत्तरकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—❀—

षट्षष्टितमः सर्गः

—:०:—

यामेव रात्रिं शत्रुघ्नः पर्णशालां *समाविशत् ।
तामेव रात्रिं सीताऽपि प्रसूता दारकद्वयम् ॥१॥

जिस रात्रि में शत्रुघ्न जी वाल्मीकि जी के आश्रम की एक पर्णशाला में ठहरे हुए थे, उसी रात्रि में सीता जी के दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥१॥

ततोऽर्धरात्रसमये बालका मुनिदारकाः ।
वाल्मीकेः प्रियमाचख्युः सीतायाः प्रसवं शुभम् ॥२॥

आधी रात के समय मुनिबालकों ने आ कर, वाल्मीकि मुनि को यह शुभ संवाद सुनाया ॥२॥

भगवन् रामपत्नी सा प्रसूता दारकद्वयम् ।
ततो रक्षां महातेजः कुरु भूतविनाशिनीम्[१] ॥३॥

---

१ भूतविनाशिनीं—बालग्रहविनाशिनीं । (गो०)

* पाठान्तरे—" उपाविशत् । "

भगवन्! श्रीरामपत्नी सीता जी के दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं। हे महातेजस्वी! सो आप चल कर, बाल-ग्रह-नाशिनी-रक्षा कीजिए ॥३॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा महर्षिः समुपागमत्।
बालचन्द्रप्रतीकाशौ देवपुत्रौ महौजसौ ॥४॥

उनके वचन सुनते ही वाल्मीकि जी वहाँ गए, जहाँ वे दोनों बालचन्द्र के समान कान्तिमान पराक्रमी राजपुत्र थे ॥४॥

जगाम तत्र हृष्टात्मा ददर्श च कुमारकौ।
भूतघ्नीं च करोत्ताभ्यां रक्षां रक्षो विनाशिनीम् ॥५॥

वहाँ जाकर और उन दोनों राजकुमारों को देख, महर्षि-वाल्मीकि जी प्रसन्न हुए और उनकी भूतघ्नी एवं रक्षोविनाशिनी रक्षा मंत्रों को पढ़ कर, की ॥५॥

कुशमुष्टिमुपादाय लवं चैव तु स द्विजः।
वाल्मीकिः प्रददौ ताभ्यां रक्षां भूतविनाशिनीम् ॥६॥

एक मूठा कुश ले कर उसमें का आधा भाग लव का अर्थात् जड़ का ले और उसे बीच में से चीर कर, महर्षि ने उनसे क्रमपूर्वक दोनों की रक्षा की, जिससे कोई बालग्रहादि वहाँ न जा सके ॥६॥

यस्तयोः पूर्वजो जातः स कुशैर्मंत्रसत्कृतैः।
निर्माजनीयस्तु तदा कुश इत्यस्य नाम तत् ॥७॥

मंत्र पढ़ कर कुश से उनका मार्जन किया गया था, अतएव उनमें से पूर्वउत्पन्न बालक का नाम कुश ॥७॥

यश्चावरोऽभवत्ताभ्यां लवेन सुसमाहिताः।
निर्माजनीयो वृद्धाभिर्लवेति च स नामतः ॥८॥

और उनमें जो पीछे हुआ था, उसका मार्जन कुश की जड़ (लव) से किया गया था, अतः उसका नाम लव हुआ। वहाँ

रहने वाली पवित्र वृद्धा तापसियों ने मुनि के हाथ से कुश ले कर, यथोचित विधि से बालकों का मार्जन कर दिया ॥८॥

एवं कुशलवौ नाम्ना तावुभौ यमजातकौ ।
मत्कृताभ्यां च नामभ्यां ख्यातियुक्तौ भविष्यतः ॥६॥

तदनन्तर महर्षि बाल्मीकि जी ने कहा कि, ये दोनों यमज बालक मेरे रखे हुए कुश और लव नामों से प्रसिद्ध होंगे ॥६॥

तां रक्षां जगृहुस्तां च मुनिहस्तात् समाहिताः ।
अकुर्वंश्च ततो रक्षां तयोर्विगतकल्मषाः ॥१०॥

इस प्रकार जब रक्षा कर, महर्षि वाल्मीकि जी अपनी कुटी को चले गए तब उस रक्षा (कुश के मूठों) को ले, वे पापरहित वृद्धा तापसियाँ, जो सीता जी के पास थीं, बड़ी सावधानी से बालकों की रक्षा का कार्य करने लगीं ॥१०॥

तथा तां क्रियमाणां च वृद्धाभिर्गोत्र नाम च ।
संकीर्तनं च रामस्य सीतायाः प्रसवौ शुभौ ॥११॥

फिर उन वृद्धाओं ने श्रीरामचन्द्र के गोत्र का और श्रीरामचन्द्र जी का नाम ले कर, अर्थात् उन बालकों को श्रीरामचन्द्र और सीता के पुत्र कह कर, उन दोनों बालकों की रक्षा की ॥११॥

अर्धरात्रे तु शत्रुघ्नः शुश्राव सुमहत्प्रियम् ।
पर्णशालां ततो गत्वा यातर्दिष्ट्येति चाब्रवीत् ॥१२॥

आधी रात के समय शत्रुघ्न जी ने यह शुभसंवाद सुना और वे सीता देवी की पर्णशाला में जा बाले कि, यह बड़े ही सौभाग्य की बात है कि, जो तुम्हारे पुत्र हुए हैं ॥१२॥

तदा तस्य प्रहृष्टस्य शत्रुघ्नस्य महात्मनः ।
व्यतीता वार्षिकी रात्रिः श्रावणी लघुविक्रमा ॥१३॥

शत्रुघ्न की वह सावन मास की रात, इस प्रकार आनन्द मनाते हुए बड़ी जल्दी बीत गई ॥१३॥

प्रभाते सुमहावीर्यः कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम् ।
मुनिं प्राञ्जलिरामंत्र्य ययौ पश्चान्मुखः पुनः ॥१४॥

प्रातःकाल होते ही सबेरे के कृत्यों से निश्चित हो और मुनि को प्रणाम कर और उनसे आज्ञा ले, वे महावीर शत्रुघ्न जी पश्चिमदिशा की ओर चल दिए ॥१४॥

स गत्वा यमुनातीरं सप्तरात्रोषितः पथि ।
ऋषीणां पुण्यकीर्तीनामाश्रमे वासमभ्ययात् ॥१५॥

रास्ते में सात रातें बिता कर, वे यमुना के तट पर पहुँचे और वहाँ उन पुण्यकर्मा मुनियों के आश्रम में ठहरे ॥१५॥

स तत्र मुनिभिः सार्धं भार्गवप्रमुखैर्नृपः ।
कथाभिरभिरूपाभिर्वासं चक्रे महायशाः ॥१६॥

महायशस्वी शत्रुघ्न जी भृगुवंशी च्यवनादि महर्षियों से अनेक सुन्दर कथाएँ सुनते हुए, वहाँ रहे ॥१६॥

स काञ्चनाद्यैर्मुनिभिः समेतै
रघुप्रवीरो रजनीं तदानीम् ।
कथाप्रकारैर्बहुभिर्महात्मा
विरामयामास नरेन्द्रसूनुः ॥१७॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः ॥

उन नरेन्द्रपुत्र महात्मा शत्रुघ्न जी ने च्यवनादि महर्षियों से अनेक प्रकार की कथाएँ सुनते सुनते वह रात बिता दी ॥१७॥

उत्तरकाण्ड का छाछठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—*—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—:o:—

अथ रात्र्यां प्रवृत्तायां शत्रुघ्नो भृगुनन्दनम् ।
पप्रच्छ च्यवनं विप्रं लवणस्य यथा बलम् ॥१॥

रात के समय शत्रुघ्न जी ने भृगुनन्दन च्यवन ऋषि से लवणासुर के बल के विषय में जिज्ञासा की ॥१॥

शूलस्य च बलं ब्रह्मन् के च पूर्वं विनाशिताः ।
अनेन शूलमुख्येन द्वन्द्वयुद्धमुपागताः ॥२॥

शत्रुघ्न जी ने पूँछा—हे मुने! उसके त्रिशूल में क्या विशेषता है? उस शूल से युद्ध में (आज तक) कितने लोग मारे गए हैं? कौन कौन लोग उस शूल से द्वन्द्वयुद्ध करने को आ चुके हैं? ॥२॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शत्रुघ्नस्य महात्मनः ।
प्रत्युवाच महातेजाश्च्यवनो रघुनन्दनम् ॥३॥

महाबली शत्रुघ्न जी के उस वचन को सुन, महातेजस्वी च्यवन जी ने उनसे कहा ॥३॥

असंख्येयानि कर्माणि यान्यस्य रघुनन्दन ।
इक्ष्वाकुवंशप्रभवे यद्वृत्तं तच्छृणुष्व मे ॥४॥

हे रघुनन्दन! इस शूल से असंख्य काम हुए हैं; किन्तु इस शूल द्वारा इक्ष्वाकुकुलोत्पन्न (मान्धाता) के विषय में, जो घटना घटी थी, उसका वृत्तान्त तुम सुनो ॥४॥

अयोध्यायां पुरा राजा युवनाश्वसुतो बली।
मान्धाता इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ॥५॥

हे राजन्! पूर्वकाल में, महाराज युवनाश्व के पुत्र महाबलवान मान्धाता हुए। यह त्रिलोकी में अपने पराक्रम के लिए प्रसिद्ध थे ॥५॥

स कृत्वा पृथिवीं कृत्स्नां शासने पृथिवीपतिः।
सुरलोकमितो जेतुमुद्योगमकरोन्नृपः ॥६॥

उन्होंने सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल को अपने वश में करके, अर्थात् जीत कर, स्वर्ग लोक को विजय करने का आयोजन किया था ॥६॥

इन्द्रस्य च भयं तीव्रं सुराणां च महात्मनाम्।
मान्धातरि कृतोद्योगे देवलोकजिगीषया ॥७॥

जब महाराज मान्धाता ने स्वर्ग जीतने की तैयारियाँ कीं, तब महाबली इन्द्रादि समस्त देवता बहुत घबड़ाए और भयभीत हुए ॥७॥

अर्धासनेन शक्रस्य राज्यार्धेन च पार्थिवः।
वन्द्यमानः सुरगणैः प्रतिज्ञामध्यरोहत ॥८॥

उस समय मान्धाता ने यह प्रतिज्ञा कर, स्वर्ग पर चढ़ाई की कि, मैं इन्द्र का आधा राज्य और आधा इन्द्रासन बँटा लूँगा और यह भी नियम करा लूँगा कि, देवता मुझको प्रणाम किया करें ॥८॥

तस्य पापमभिप्रायं विदित्वा पाकशासनः ।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमुवाच युवनाश्वजम् ॥९॥

परन्तु इन्द्र उनका यह दुष्ट अभिप्राय जान कर, उनसे सान्त्वनापूर्वक यह वचन बोले ॥९॥

राजा त्वं मानुषे लोके न तावत्पुरुषर्षभ ।
अकृत्वा पृथिवीं वश्यां देवराज्यमिहेच्छसि ॥१०॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम अभी तक तो समस्त पृथिवी का राज्य ही अपने हस्तगत नहीं कर पाए। सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य अपने अधीन किए बिना आप देवराज्य को हस्तगत करने की इच्छा किस प्रकार करते हैं ॥१०॥

यदि वीर समग्रा ते मेदिनी निखिला वशे ।
देवराज्यं कुरुष्वेह सभृत्यबलवाहनः ॥११॥

हे वीर ! यदि सम्पूर्ण पृथिवी तुम्हारे वश में हो गई हो तो नौकर चाकर, फौज और वाहनों सहित देवलोक में तुम राज्य करो ॥११॥

इन्द्रमेवं ब्रुवाणं तं मान्धाता वाक्यमब्रवीत् ।
क मे शक्र प्रतिहतं शासनं पृथिवीतले ॥१२॥

इन्द्र के इस प्रकार कहने पर, मान्धाता बोले—हे इन्द्र ! बतलाओ तो पृथिवीतल पर मेरी आज्ञा का पालन कहाँ नहीं होता ॥१२॥

तमुवाच सहस्राक्षो लवणो नाम राक्षसः ।
मधुपुत्रो मधुवने न तेऽज्ञां कुरुतेऽनघ ॥१३॥

इस पर इन्द्र ने कहा—हे अनघ ! मधुवन में मधुदैत्य का पुत्र लवणासुर तुम्हारी आज्ञा का पालन नहीं करता ॥१३॥

तच्छ्रुत्वा विप्रियं घोरं सहस्राक्षेण भाषितम् ।
व्रीडितोऽवाङ्मुखो राजा व्याहर्तुं न शशाक ह ॥१४॥

आमन्त्र्य तु सहस्राक्षं *प्रायात्किञ्चिदवाङ्मुखः ।
पुनरेवागमच्छ्रीमानिमं लोकं नरेश्वरः ॥१५॥

इन्द्र के कहे हुए इन घोर अप्रिय वचनों को सुन, मान्धाता ने लज्जित हो नीचे को मुख कर लिया और इन्द्र को कुछ भी उत्तर न दे, मान्धाता इन्द्र से बिदा हो, नीचा मुख किए हुए पुनः भूमण्डल पर आए ॥१४॥१५॥

स कृत्वा हृदयेऽमर्षं सभृत्यबलवाहनः ।
आजगाम मधोः पुत्रं वशे कर्तुमरिन्दमः ॥१६॥

उसके मन में क्रोध तो भरा हुआ था ही, अतः वे झट सेना और वाहनों को साथ ले कर, लवणासुर को वश में करने की इच्छा से उस पर चढ़ गए ॥१६॥

स कांक्षमाणो लवणं युद्धाय पुरुषर्षभः ।
दूतं सम्प्रेषयामास सकाशं लवणस्य †सः ॥१७॥

मान्धाता ने लवणासुर के पास युद्ध करने की अपनी इच्छा जनाने के लिए पहले अपना दूत भेजा ॥१७॥

स गत्वा विप्रियाण्याह बहूनि मधुनः सुतम् ।
वदन्तमेवं तं दूत भक्षयामास राक्षसः ॥१८॥

उस दूत ने लवणासुर के पास जा, जब ऐंडी बैंडी बातें कहीं; तब नरमांसभोजी राक्षस लवण ने उस दूत ही को खा डाला ॥१८॥

---

* पाठान्तरे—"ह्रिया।" † पाठान्तरे—"हि"।

चिरायमाणे दूते तु राजा क्रोधसमन्वितः ।
अर्दयामास तद्रक्षः शरवृष्ट्या समन्ततः ॥१६॥

दूत के लौटने में विलंब होने पर, महाराज मान्धाता ने क्रोध में भर, चारों ओर से बाणों की वर्षा कर, लवणासुर को पीड़ित किया ॥१६॥

ततः प्रहस्य तद्रक्षः शूलं जग्राह पाणिना ।
वधाय सानुबन्धस्य मुमोचायुधमुत्तमम् ॥२०॥

तब उस राक्षस ने (शिव का दिया हुआ) उत्तम शूल उठाया और अट्टहास कर, महाराज को सेना सहित मारने के लिए उस शूल को फेंका ॥२०॥

तच्छूलं दीप्यमानं तु सभृत्यबलवाहनम् ।
भस्मीकृत्वा नृप *भूमौ लवणस्यागमत्करम् ॥२१॥

वह दीप्यमान त्रिशूल नौकरों, सैनिकों और वाहनों सहित महाराज को भस्म कर एवं उनको पृथिवी पर डाल फिर लवणासुर के हाथ में आ गया ॥२१॥

एवं स राजा सुमहान् हतः सबलवाहनः ।
शूलस्य तु बलं सौम्य अप्रमेयमनुत्तमम् ॥२२॥

हे राजन् ! इस तरह वे महाराज मान्धाता मारे गए। हे सौम्य ! उसके त्रिशूल का बल अमित है ॥२२॥

[टिप्पणी—यद्यपि लवणासुर ने अनेक राजाओं को मारा था, तथापि च्यवन ऋषि ने शत्रुघ्न को उनके पूर्वपुरुष मान्धाता के, लवण के हाथ

* पाठान्तरे—"भूयो"।

से मारे जाने का वृत्तान्त, शत्रुघ्न जी को अत्यधिक उत्तेजित करने ही को सुनाया था। साथ ही वे कहीं कच्चे न पड़ें, इसलिए आगे उनको यह कह कर ढाढ़स भी बँधाया कि, तुम लवण को अवश्य मारोगे।]

श्वः प्रभाते तु लवणं वधिष्यसि न संशयः।
अगृहीतायुधं क्षिप्रं ध्रुवो हि विजयस्तव ॥२३॥

किन्तु तुम कल प्रातःकाल ही लवणासुर को मार डालोगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। जिस समय वह निहत्था (आयुध रहित) होगा, उस समय तुम उसे अवश्य जीत लोगे ॥२३॥

लोकानां स्वस्ति चैवं स्यात्कृते कर्मणि च त्वया।
एतत्ते सर्वमाख्यातं लवणस्य दुरात्मनः ॥२४॥

ऐसा करने पर लोकों की भलाई होगी। मैंने दुरात्मा लवण का जो हाल था, वह तुमको सुना दिया ॥२४॥

शूलस्य च बलं घोरमप्रमेयं नरर्षभ।
विनाशश्चैव मान्धातुर्यत्नेनाभूच्च पार्थिव ॥२५॥

हे नरश्रेष्ठ! उसके त्रिशूल में बड़ा बल है, यहाँ तक कि, उसके बल की इयत्ता (सीमा) नहीं है। हे नृप! मान्धाता तो अचानक धोखे में मारे गए थे ॥२५॥

त्वं श्वः प्रभाते लवणं महात्मन्
वधिष्यसे नात्र तु संशयो मे।
शूलं विना निर्गतमामिषार्थं
ध्रुवो जयस्ते भविता नरेन्द्र ॥२६॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः॥

हे नरेन्द्र ! तुम कल सबेरे निस्सन्देह लवण को मार डालोगे। जब वह खाली हाथ आमिष लाने को घर से जायगा, तब तुम उसे अवश्य जीत लोगे ॥२६॥

उत्तरकाण्ड का सरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:❀:—

अष्टषष्टितमः सर्गः

—:०:—

कथां कथयतस्तेषां जयं चाकाङ्क्षतां शुभम् ।
व्यतीता रजनी शीघ्रं शत्रुघ्नस्य महात्मनः ॥१॥

महाबलवान शत्रुघ्न जी से इस प्रकार कथावार्ता कहते सुनते और जय की आकांक्षा करते हुए, वह रात बड़ी जल्दी बीत गई ॥१॥

ततः प्रभाते विमले तस्मिन् काले स राक्षसः ।
निर्गतस्तु *पुराद्वीरो भक्ष्याहारप्रचोदितः ॥२॥

विमल प्रातःकाल होते ही, वह राक्षसवीर आहार लाने के लिए अपने पुर से निकला ॥२॥

[टिप्पणी—विकल—अर्थात् वर्षाऋतु होने पर भी, उस दिन आकाश स्वच्छ या मेघशून्य था।]

एतस्मिन्नन्तरे बीर उत्तीर्य यमुनां नदीम् ।
तीर्त्वा मधुपुरद्वारि धनुष्पाणिरतिष्ठत ॥३॥

उसी समय वीर शत्रुघ्न जी यमुना नदी को पार कर, हाथ में धनुष लिये हुए, मधुपुर के फाटक पर जा, उससे लड़ने के लिए तैयार खड़े हो गए ॥३॥

---

* पाठान्तरे—" पुरात् धीरो।"

ततोऽर्धदिवसे प्राप्ते क्रूरकर्मा स राक्षसः ।
आगच्छद्बहुसाहस्रं प्राणिनां भारमुद्वहन् ॥४॥

दोपहर होने पर, वह क्रूरकर्मा राक्षस कई हजार जीवों को मार और उनको लादे हुए आया ॥४॥

ततो ददर्श शत्रुघ्नं स्थितं द्वारि धृतायुधम् ।
तमुवाच ततो रक्षः किमनेन करिष्यसि ॥५॥

उसने आकर देखा कि, धनुषबाण लिए हुए शत्रुघ्न द्वार पर खड़े हैं। तब लवण ने शत्रुघ्न से पूँछा कि, इस धनुषबाण से तू क्या करेगा ? ॥५॥

ईदृशानां सहस्राणि सायुधानां नराधम ।
भक्षितानि मया रोषात् कालेनानुगतो ह्यसि ॥६॥

अरे नराधम ! मैंने क्रोध में भर ऐसे हजारों आयुधधारी वीरों को खा डाला है। (सा जान पड़ता है) आज तेरा भी अन्तिम समय आ गया है ॥६॥

आहारश्चाप्यसम्पूर्णो ममायं पुरुषाधम ।
स्वयं प्रविष्टोऽद्य मुखं कथमासाद्य दुर्मते ॥७॥

हे पुरुषाधम ! आज मेरे आहार की मात्रा में कुछ कमी भी रह गई थी। अरे दुर्मते ! मेरे आहार की उस कमी को पूरा करने के लिए तू मेरे मुँह में आकर स्वयं कैसे घुसा ? ॥७॥

तस्यैवं भाषमाणस्य हसतश्च मुहुर्मुहुः ।
शत्रुघ्नो वीर्यसम्पन्नो रोषादश्रूण्यवासृजत् ॥८॥

जब लवण इस प्रकार बकने और बारंबार उनका उपहास करने लगा, तब मारे क्रोध के शत्रुघ्न जी की आँखों से आँसू टपक पड़े ॥८॥

तस्यरोषाभिभूतस्य शत्रुघ्नस्य महात्मनः ।
तेजोमया मरीच्यस्तु सर्वगात्रैर्विनिष्पतन ॥९॥

उन महाबली शत्रुघ्न जी के अत्यन्त क्रुद्ध होने से उनके शरीर से चिनगारियाँ निकलने लगीं ॥९॥

उवाच च सुसंक्रुद्धः शत्रुघ्नः तं निशाचरम् ।
योद्धुमिच्छामि दुर्बुद्धे द्वन्द्वयुद्धं त्वया सह ॥१०॥

शत्रुघ्न जी ने अत्यन्त कुपित हो लवण से कहा—हे दुर्बुद्धे! मैं तेरे साथ द्वन्द्वयुद्ध करना चाहता हूँ ॥१०॥

पुत्रो दशरथस्याहं भ्राता रामस्य धीमतः ।
शत्रुघ्नो *नाम शत्रुघ्नो वधाकाङ्क्षी तवागतः ॥११॥

मैं बुद्धिमान महाराज श्रीरामचन्द्र जी का भाई और महाराज दशरथ जी का पुत्र हूँ तथा शत्रुओं का मारने वाला शत्रुघ्न मेरा नाम है। मैं तेरा वध करने ही को आया हूँ ॥११॥

तस्य मे युद्धकामस्य द्वन्द्वयुद्धं प्रदीयताम् ।
शत्रुस्त्वं सर्वभूतानां न मे जीवन् गमिष्यसि ॥१२॥

मैं तुझसे लड़ना चाहता हूँ अतः तू मेरे साथ युद्ध कर। तू समस्त जीवधारियों का शत्रु है, अतः आज तू मेरे हाथ से बच कर जीता न जा पावेगा ॥१२॥

तस्मिंस्तथा ब्रुवाणे तु राक्षसः प्रहसन्निव ।
प्रत्युवाच नरश्रेष्ठं दिष्ट्या प्राप्तोसि दुर्मते ॥१३॥

---

* पाठान्तरे—"नित्य।"

शत्रुघ्न जी के यह वचन सुन कर, लवण ने हँस कर, उनसे कहा—हे दुर्मते! अच्छी बात है, तू मेरे सौभाग्य से आ गया है ॥१३॥

मम मातृष्वसुर्भ्राता रावणो *नाम राक्षसः ।
हतो रामेण दुर्बुद्धे स्त्रीहेतोः पुरुषाधम ॥१४॥

हे दुर्बुद्धे! हे नराधम! मेरे मौसेरे भाई रावण को अपनी स्त्री के पीछे राम ने मार डाला है ॥१४॥

तच्च सर्वं मया क्षान्तं रावणस्य कुलक्षयम् ।
अवज्ञां पुरतः कृत्वा मया यूयं विशेषतः ॥१५॥

सो उस रावण के पीछे कुलक्षय की और उसके वध की मैंने, किसी कारणवश आनाकानी की। किन्तु तू तो मेरा अपमान मेरे सामने ही कर रहा है ॥१५॥

निहताश्च हि ते सर्वे परिभूतास्तृणं यथा ।
भूताश्चैव भविष्याश्च यूयं च पुरुषाधमाः ॥१६॥

यदि तू यह समझ रहा हो कि, मैं बलहीन होने से यह अपमान सह रहा हूँ, तो सुन, मैं तेरे वंश के भूत पुरुषाधमों को केवल हरा ही नहीं चुका; किन्तु उनका वध कर चुका हूँ। अतः उनकी अपेक्षा भविष्य समय वाले और वर्तमान समय वाले तुम सब लोग, मेरे लिए तिनके के समान हो। इसीसे आज तक मैंने तुम लोगों को नहीं मारा (रा०) ॥१६॥

तस्य ते युद्धकामस्य युद्धं दास्यामि दुर्मते ।
तिष्ठ त्वं च मुहूर्तं तु यावदायुधमानये ॥१७॥

---

* पाठान्तरे—"राक्षसाधिपः।" † पाठान्तरे—"मे।"

हे दुर्मते ! अब यदि तू मुझसे लड़ना ही चाहता है, तो मैं लड़ने को तैयार हूँ। परन्तु थोड़ी देर ठहर। मैं अपना शस्त्र ले आऊँ ॥१७॥

ईप्सितं यादृशं तुभ्यं सज्जये यावदायुधम् ।
तमुवाचाशु शत्रुघ्नः क्व मे जीवन् गमिष्यसि ॥१८॥

तेरे मारने के लिए जैसे शस्त्र की आवश्यकता है, वैसा ही शस्त्र मैं लाता हूँ। लवण के ये वचन सुन, तुरन्त शत्रुघ्न ने कहा, तू अब मुझसे बच कर जीता कहाँ जा सकता है ? ॥१८॥

*स्वयमेवागतः शत्रुर्न मोक्तव्यः कृतात्मना ।
यो हि विक्लवया बुद्ध्या प्रसरं शत्रवे †दिशत् ।
स हतो मन्दबुद्धिः स्याद्यथा कापुरुषस्तथा ॥१९॥

चतुर लोग अपने आप सामने आए हुए शत्रु को नहीं छोड़ते। जो लोग अपनी हीन बुद्धि के कारण शत्रु को बचने का अवसर देते हैं, वे मूर्ख समझे जाते हैं और शत्रु के हाथ से कायरों की तरह मारे जाते हैं ॥१९॥

तस्मात्सुदृष्टं कुरु जीवलोकं
शरैः शितैस्त्वां विविधैर्नयामि ।
यमस्य गेहाभिमुखं हि पापं
रिपुं त्रिलोकस्य च राघवस्य ॥२०॥

इति अष्टषष्टितमः सर्गः ॥

अतः अब तू इस जीवलोक को भली भाँति देख भाल ले। क्योंकि मैं अब शीघ्र ही तुझे अपने पैने बाणों से मार कर यमराज

* पाठान्तरे—"मेशत्रुर्यदृच्छया दृष्टो ।" † पाठान्तरे—"ददौ ।"

की पुरी को भेजे देता हूँ। क्योंकि तू बड़ा पापी है, तीनों लोकों का और रघुवंशियों (मान्धाता के वध के कारण) अथवा श्रीराघव का शत्रु है ॥२०॥

उत्तरकाण्ड का अड़सठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

—❀—

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्य शत्रुघ्नस्य महात्मनः।
क्रोधमाहारयत्तीव्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥१॥

महाबली शत्रुघ्न के ये वचन सुन और अत्यन्त क्रोध में भर, लवण कहने लगा, खड़ा रह, खड़ा रह ॥१॥

पाणौ पाणिं स निष्पिष्य दन्तान् कटकटाय्य च।
लवणो रघुशार्दूलमाह्वयामास चासकृत् ॥२॥

मारे क्रोध के हाथ मींजता और दाँतों को पीसता हुआ लवणासुर, रघुसिंह शत्रुघ्न को लड़ने के लिये ललकारने लगा ॥२॥

तं ब्रुवाणं तथा वाक्यं लवणं घोरदर्शनम्।
शत्रुघ्नो देवशत्रुघ्न इदं वचनमब्रवीत् ॥३॥

भयङ्कर लवणासुर को ऐसे कठोर वचन कहते हुए सुन, देवशत्रुओं को मारने वाले शत्रुघ्न जी बोले ॥३॥

शत्रुघ्नो न तदा जातो यदान्ये निर्जितास्त्वया।
तदद्य बाणाभिहतो व्रज त्वं यमसादनम् ॥४॥

जिस समय तू ने अन्य वीरों को जीता था, उस समय शत्रुघ्न उत्पन्न नहीं हुआ था। अतः आज तू मेरे बाणों से मारा जा कर, यमलोक की यात्रा कर ॥४॥

ऋषयोऽप्यद्य पापात्मन् मया त्वां निहतं रणे ।
पश्यन्तु विप्रा विद्वांसस्त्रिदशा इव रावणम् ॥५॥

हे पापी ! जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र द्वारा मारे गए रावण को देवताओं ने देखा था, उसी प्रकार मेरे हाथ से मारे गए तुझको रणभूमि में ऋषि ब्राह्मण और विद्वान् देखेंगे ॥५॥

त्वयि मद्बाणनिर्दग्धे पतितेऽद्य निशाचरे ।
पुरे जनपदे चापि क्षेममेव भविष्यति ॥६॥

हे निशाचर ! जब तू मेरे बाण से भस्म हो कर, पृथिवी पर गिर पड़ेगा; तब इस नगर में और सारे देश में मङ्गल-बधाए बाजेंगे ॥६॥

अद्य मद्बाहुनिष्क्रान्तः शरो वज्रनिभाननः ।
प्रवेक्ष्यते ते हृदयं पद्ममंशुरिवार्कजः ॥७॥

आज मेरे हाथ से छूटा हुआ, वज्रसमान बाण तेरे हृदय में ऐसे घुसेगा जैसे सूर्य की किरणें कमल में घुसती हैं ॥७॥

एवमुक्तो महावृक्षं लवणः क्रोधमूर्च्छितः ।
शत्रुघ्नोरसि चिक्षेप स च तं शतधाच्छिनत् ॥८॥

यह सुनते ही अत्यन्त क्रुद्ध हो लवण ने एक बड़ा भारी पेड़ उखाड़ कर, शत्रुघ्न जी की छाती को ताक कर फैंका। परन्तु शत्रुघ्न जी ने बाण मार कर, उसके सौ टुकड़े कर डाले ॥८॥

तद्दृष्ट्वा विफलं कर्म राक्षसः पुनरेव तु ।
पादपान् सुबहून् गृह्य शत्रुघ्नायासृजद्बली ॥९॥

बलवान राक्षस अपने फेंके हुए पेड़ को व्यर्थ हुआ देख, वृक्षों को उखाड़ उखाड़ कर, शत्रुघ्न पर, वृक्षों की वर्षा करने लगा ॥९॥

शत्रुघ्नश्चापि तेजस्वी वृक्षानापततो बहून् ।
त्रिभिश्चतुर्भिरेकैकं चिच्छेद नतपर्वभिः ॥१०॥

किन्तु तेजस्वी शत्रुघ्न जी ने अनेक वृक्षों को अपनी ओर आते देख, नतपर्व (झुके हुए पोरुओं के) बाण चला, उनमें से किसी वृक्ष को तीन बाणों से, किसी को चार बाणों से काट कर, फेंक दिआ। तदनन्तर बलवान शत्रुघ्न ने ॥१०॥

ततो बाणमयं वर्षं व्यसृजद्राक्षसोपरि ।
शत्रुघ्ने वीर्यसम्पन्नो विव्यथे न स राक्षसः ॥११॥

लवणासुर के ऊपर बाणवृष्टि की। किन्तु उस बाणवृष्टि से लवणासुर ज़रा भी विचलित न हुआ ॥११॥

ततः प्रहस्य लवणो वृक्षमुद्यम्य वीर्यवान् ।
शिरस्यभ्यहनच्छूरं स्रस्ताङ्गः स मुमोह वै ॥१२॥

तब वीर्यवान लवण ने हँस कर एक पेड़ शत्रुघ्न के सिर में ऐसा मारा कि, वे मूर्छित हो गिर पड़े ॥१२॥

तस्मिन्निपतिते वीरे हाहाकारो महानभूत् ।
ऋषीणां देवसङ्घानां गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥१३॥

वीर शत्रुघ्न के गिरते ही ऋषियों, देवताओं, गन्धर्वों और अप्सराओं में महा हाहाकार मच गया ॥१३॥

तमवज्ञाय तु हतं शत्रुघ्नं भुवि पातितम् ।
रक्षो लब्धान्तरमपि न विवेश स्वमालयम् ॥१४॥

यद्यपि शत्रुघ्न के ज़मीन पर मूर्छित हो गिर पड़ने पर लवण को घर जा कर अपना त्रिशूल ले आने का अवसर मिल गया था, तथापि उसने शत्रुघ्न को तुच्छ जान (अथवा मरा समझ) ऐसा न किया ॥१४॥

नापि शूलं प्रजग्राह तं दृष्ट्वा भुवि पातितम् ।
ततो हत इति ज्ञात्वा तान् भक्षान् समुदावहत् ॥१५॥

शत्रुघ्न को पृथवी में पड़ा देख, वह शूल लाने अपने घर न गया और उन्हें मरा हुआ जान अपने भक्ष्य जीवों को उठाने लगा ॥१५॥

मुहूर्ताल्लब्धसंज्ञस्तु पुनस्तस्थौ धृतायुधः ।
शत्रुघ्नो वै पुरद्वारि ऋषिभिः सम्प्रपूजितः ॥१६॥

कुछ ही देर बाद शत्रुघ्न जी सचेत हो गए। वे अपने अस्त्र शस्त्र सम्हाल कर, फिर (नगर) द्वार को रोक कर खड़े हो गए। (यह देख) ऋषिगण उनकी प्रशंसा करने लगे ॥१६॥

ततो दिव्यममोघं तं जग्राह शरमुत्तमम् ।
ज्वलन्तं तेजसा घोरं पूरयन्तं दिशो दश ॥१७॥

अब की बार शत्रुघ्न जी ने (श्री रामचद्रन्जी का दिआ हुआ) अमोघ दिव्य बाण अपने धनुश पर चढ़ाया, जो अपनी चमक

से चमक रहा था और अपनी चमक से दसों दिशाओं को पूर्ण कर रहा था ॥१७॥

वज्राननं वज्रवेगं मेरुमन्दरसन्निभम् ।
नतं पर्वसु सर्वेषु संयुगेष्वपराजितम् ॥१८॥

वह वज्र के समान मुखवाला (नोंक वाला) वज्र के समान वेगवान् तथा मेरु और मन्दराचल के समान भारी था। उसके समस्त पोरुए (पर्व) झुके हुए थे। वह कहीं भी (आज तक) पराजित (अर्थात् व्यर्थ) नहीं हुआ था ॥१८॥

असृक्चन्दनदिग्धाङ्गं चारुपत्रं पतत्रिणम् ।
दानवेन्द्राचलेन्द्राणामसुराणां च दारुणम् ॥१९॥

वह रक्त जैसे लाल चन्दन से पुता हुआ था, उसमें अच्छे अच्छे पङ्ख लगे हुए थे। वह दानवेन्द्रों पर्वतेन्द्रों तथा दैत्यों के लिए दारुण था ॥१९॥

तं दीप्तमिव कालाग्निं युगान्ते समुपस्थितम् ।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि परित्रासमुपागमन् ॥२०॥

ऐसे कालाग्नि के समान प्रलयकारी उस बाण को देख, समस्त प्राणी घबड़ा उठे ॥२०॥

सदेवासुरगन्धर्वं मुनिभिः साप्सरोगणम् ।
जगद्धि सर्वमस्वस्थं पितामहमुपस्थितम् ॥२१॥

देवता, गन्धर्व, मुनि, अप्सरादिक सहित समस्त जगत् व्याकुल हो गया और सब लोग ब्रह्मा जी के निकट गए ॥२१॥

ऊचुश्च देवदेवेशं वरदं प्रपितामहम् ।
देवानां भयसंमोहो लोकानां संक्षयं प्रति ॥२२॥

और देवदेव वरदायक पितामह से उन लोगों ने इस लोक-त्रय के प्रति अपनी आशङ्का प्रकट की अथवा इस आने वाली विपत्ति का हाल कहा ॥२२॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा लोकपितामहः ।
भयकारणमाचष्ट देवानामभयङ्करः ॥२३॥

लोकपितामह ब्रह्मा उनकी बातें सुन, देवताओं के भय को दूर करने वाले वचन बोले ॥२३॥

उवाच मधुरां वाणीं शृणुध्वं सर्वदेवताः ।
वधाय लवणस्याजौ शरः शत्रुघ्नधारितः ॥२४॥

वे मधुर वाणी से कहने लगे, हे समस्त देवताओ! सुनो (तुम लोगों को अभय करने को) और लवण का वध करने के लिए ही शत्रुघ्न ने वह बाण धनुष पर रखा है ॥२४॥

तेजसा तस्य सम्मूढाः सर्वे स्मः सुरसत्तमाः ।
एषोऽपूर्वस्य देवस्य लोककर्तुः सनातनः ॥२५॥

उसीके तेज से तुम सब लाग मूढ़ से हो रहे हो। हे देवताओ! लोककर्त्ता, देवों के देव, भगवान् श्रीविष्णु का यह चमचमाता हुआ बाण है ॥२५॥

शरस्तेजोमयो वत्सा येन वै भयमागतम् ।
एष वै कैटभस्यार्थे मधुनश्च महाशरः ॥२६॥

हे वत्सो! वह बाण बड़ा तेजमय है। उसीको देख कर तुम लोग डर रहे हो मधु और कैटभ दैत्यों को मारने के लिए भगवान् ने इस विशाल बाण को बनाया था ॥२६॥

सृष्टो महात्मना तेन वधार्थे दैत्ययोस्तयोः ।
एक एव प्रजानाति विष्णुस्तेजोमयं शरम् ॥२७॥

उन महात्मा देव ने उन दोनों दैत्यों को मारने के लिए इस बाण को बनाया था। इस महातेजयुक्त बाण की निर्माण विधि एकमात्र भगवान् विष्णु जानते हैं ॥२७॥

[टिप्पणी—यही कारण है कि फिर वैसा बाण कोई न बना सका।]

एषा एव तनुः पूर्वा विष्णोस्तस्य महात्मनः ।
इतो गच्छत पश्यध्वं वध्यमानं महात्मना ॥२८॥

यह बाण (तो क्या, किन्तु मेरी समझ में तो यह) साक्षात विष्णु की मूर्ति ही है तुम लोग जा कर देखो, उस बाण से लवणासुर मारा जाता है ॥२८॥

रामानुजेन वीरेण लवणं राक्षसोत्तमम् ।
तस्य ते देवदेवस्य निशम्य वचनं सुराः ॥२९॥

श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई महाबली शत्रुघ्नजी, उसको मार डालेंगे। इस प्रकार देवता लोग, देवदेव ब्रह्मा जी के वचन सुन कर ॥२९॥

आजग्मुर्यत्र युध्येते शत्रुघ्नलवणावुभौ ।
तं शरं दिव्यसङ्काशं शत्रुघ्नकरधारितम् ॥३०॥
ददृशुः सर्वभूतानि युगान्ताग्निमिवोत्थितम् ।
आकाशमावृतं दृष्ट्वा देवैर्हि रघुनन्दनः ॥३१॥

वहाँ गए जहाँ शत्रुघ्न जी के साथ लवणासुर का युद्ध हो रहा था। उन लोगों ने शत्रुघ्न के हाथ में कालाग्नि के समान भभकता हुआ वह बाण देखा। कालाग्नि के समान भभकते हुए उस बाण को देखते हुए देवताओं से, शत्रुघ्न ने, आकाश को ढका हुआ देख ॥३०।३१॥

सिंहनादं भृशं कृत्वा ददर्श लवणं पुनः ।
आहूतश्च पुनस्तेन शत्रुघ्नेन महात्मना ॥३२॥

महाबली शत्रुघ्न ने सिंहनाद कर तथा लवणासुर की ओर देख कर, उसे ललकारा ॥३२॥

लवणः क्रोधसंयुक्तो युद्धाय समुपस्थितः ।
आकर्णात्स विकृष्याथ तद्धनुर्धन्विनां वरः ॥३३॥

लवणासुर भी क्रोध में भर पुनः युद्ध करने के लिए तैयार हो गया था। (यह देख) धनुषधारियों में श्रेष्ठ शत्रुघ्न जी ने कान तक धनुष के रोदे को खींच कर ॥३३॥

स मुमोच महाबाणं लवणस्य महोरसि ।
उरस्तस्य विदार्याशु प्रविवेश रसातलम् ॥३४॥
गत्वा रसातलं दिव्यः शरो विबुधपूजितः ।
पुनरेवागमत्तूर्णमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम् ॥३५॥

उस विशाल बाण को लवणासुर की छाती पर मारा। वह बाण लवणासुर की छाती फोड़ पाताल में घुस गया और वह देवपूजित शर वहाँ से निकल, इक्ष्वाकुकुलनन्दन शत्रुघ्न जी के तरकस में आ गया ॥३४॥३५॥

[टिप्पणी—प्राचीन कालीन अस्त्रों की यही विशेषता थी कि वे

अपना काम पूरा कर फैंकने वाले के पास लौट कर आ जाते थे; किन्तु वर्तमान विज्ञान युग में प्रक्रिया अभी तक अज्ञेय है।]

शत्रुघ्नशरनिर्भिन्नो लवणः स निशाचरः।
पपात सहसा भूमौ वज्राहत इवाचलः ॥३६॥

राक्षस लवणासुर की छाती उस बाण के प्रहार से फट गई और वह वज्राहत पर्वत की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥३६॥

तच्च शूलं महद्दिव्यं हते लवणराक्षसे।
पश्यतां सर्वदेवानां रुद्रस्य वशमन्वगात् ॥३७॥

लवणासुर के मारे जाने पर, वह दिव्य शूल समस्त देवताओं के देखते ही देखते, शिव जी के पास चला गया ॥३७॥

एकेषुपातेन भयं निपात्य
लोकत्रयस्यास्य रघुप्रवीरः।
विनिर्बभावुत्तमचापबाणः
तमः प्रणुद्येव सहस्ररश्मिः ॥३८॥

शत्रुघ्न जी ने उस एक ही बाण को चला कर, त्रिलोकी का भय मिटा दिया और श्रेष्ठ धनुष बाण धारण कर, वे ऐसे शोभायमान हुए जैसे, अन्धकार दूर कर सूर्य शोभायमान होते हैं ॥३८॥

ततो हि देवा ऋषिपन्नगाश्च
प्रपूजिरे ह्यप्सरसश्च सर्वाः।
दिष्ट्या जयो दाशरथेरवाप्त-
स्त्यक्त्वा भयं सर्प इव प्रशान्तः ॥३९॥

इति एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥

उस समय देवता, ऋषि, सर्प, पन्नग, अप्सरादि समस्त प्राणी शत्रुघ्न की प्रशंसा कर कहने लगे—हे काकुत्स्थ! आप सौभाग्य ही से निर्भय हो इस राक्षस का वध कर विजयी हुए हैं और विषैले सर्प के समान यह लवणासुर मारा गया है ॥३६॥

उत्तरकाण्ड का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

सप्ततितमः सर्गः

—:o:—

हते तु लवणे देवाः सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ।
ऊचुः सुमधुरां वाणीं शत्रुघ्नं शत्रुतापनम् ॥१॥

लवणासुर के मारे जाने पर अग्नि प्रमुख इन्द्रादि समस्त देवता शत्रुओं को सन्तप्त करने वाले शत्रुघ्न जी से मधुर वाणी से बोले ॥१॥

दिष्ट्या ते विजयो वत्स दिष्ट्या लवणराक्षसः ।
हतः पुरुषशार्दूल वरं वरय सुव्रतः ॥२॥

हे वत्स! सौभाग्य ही से तुम्हारी यह जीत हुई है और लवणासुर मारा गया है। हे पुरुषसिंह! अब तुम वर माँगो ॥२॥

वरस्तु महाबाहो सर्व एव समागतः ।
विजयाकांक्षिणस्तुभ्यममोघं दर्शनं हि नः ॥३॥

हे महाबाहो! हम सब वर देने वाले तुम्हारे विजय की इच्छा से यहाँ आए हैं। हम लोगों का दर्शन निष्फल नहीं होता ॥३॥

देवानां भाषितं श्रुत्वा शूरो मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
प्रत्युवाच महाबाहुः शत्रुघ्नः प्रयतात्मवान् ॥४॥

जितेन्द्रिय महाबलवान शत्रुघ्न जी, देवताओं के इन वचनों को सुन, सिर झुका और हाथ जोड़ कर, बोले ॥४॥

इयं मधुपुरी रम्या मधुरा देवनिर्मिता ।
निवेशं प्राप्नुयाच्छीघ्रमेष मेऽस्तु वरः परः ॥५॥

हे देवताओं ! मुझे आप यह सब से बड़ा वर दें कि, यह देवताओं की बनाई मनोहर मधुरा पुरी शीघ्र ही धन जन से पूर्ण हो जाय ॥५॥

तं देवाः प्रीतिमनसो बाढमित्येव राघवम् ।
भविष्यति पुरी रम्या शूरसेना न संशयः ॥६॥

शत्रुघ्न के ये वचन सुन कर, देवताओं ने प्रसन्न हो, उनसे कहा ऐसा ही होगा, यह पुरी बहुत अच्छी तरह शूरसेना सहित बस जायगी अथवा अजेय होगी ॥६॥

ते यथोक्त्वा महात्मानो दिवमारुरुहुस्तदा ।
शत्रुघ्नोऽपि महातेजास्तां सेनां समुपानयत् ॥७॥

यह कह कर महात्मा देवतागण स्वर्ग को चले गए और महातेजस्वी शत्रुघ्न जी ने गङ्गातट पर टिकी हुई अपनी सेना को बुलाया ॥७॥

सा सेना शीघ्रमागच्छच्छ्रुत्वा शत्रुघ्नशासनम् ।
निवेशनं च शत्रुघ्नः श्रावणेन समारभत् ॥८॥

शत्रुघ्न जी की आज्ञा पा कर, वह सेना तुरन्त आ गई और शत्रुघ्नजी ने श्रावण मास से उस पुरी को (सुचारु रूप से) बसाना (आबाद करना) आरम्भ किया ॥८॥

स पुरा दिव्यसङ्काशो वर्षे द्वादशमे शुभे।
निविष्टः शूरसेनानां विषयश्चाकुतोभयः ॥९॥

बारहवें वर्ष में वह पुरी भली भाँति बस गई। उस प्रदेश का नाम शूरसेन प्रदेश प्रसिद्ध हुआ और लोग वहाँ निर्भय हो कर रहने लगे ॥९॥

क्षेत्राणि सस्ययुक्तानि काले वर्षति वासवः।
आरोगवीरपुरुषा शत्रुघ्नभुजपालिता ॥१०॥

वह समूचा देश का देश, धान्य युक्त हो गया, क्योंकि इन्द्र समय पर जल की बर्षा कर दिआ करते थे। शत्रुघ्न द्वारा शासित उस पुरी के निवासी वीर और निरोगी देख पड़ने लगे ॥१०॥

[टिप्पणी—आज भी मथुरा प्रान्त के लोग शरीर से हृष्ट पुष्ट और वीर से पाए जाते हैं।]

अर्धचन्द्रप्रतीकाशा यमुनातीरशोभिता।
शोभिता गृहमुख्यैश्च चत्वरापणवीथकैः।
चातुर्वर्ण्यसमायुक्ता नानावाणिज्यशोभिता ॥११॥

यह मथुरा पुरी यमुना के किनारे अर्धचन्द्राकार बसी हुई, सुन्दर सुन्दर घरों, चबूतरों, बाजारों और चारों वर्णों के लोगों से तथा विविध प्रकार के व्यापारों से शोभित हो गई ॥११॥

यच्च तेन पुरा शुभ्रं लवणेन कृतं महत्।
तच्छोभयति शत्रुघ्नो नानावर्णोपशोभिताम् ॥१२॥

लवण ने पूर्वकाल में जिन विशाल भवनों को बनवाया था, उनमें सफेदी करवा और उन्हें चित्रकारी से सजवा कर, शत्रुघ्न जी ने सुन्दर बना दिआ। (रा०) ॥१२॥

आरामैश्च विहारैश्च शोभमानां समन्ततः ।
शोभितां शोभनीयैश्च तथान्यैर्देवमानुषैः ॥१३॥

वह पुरी स्थान स्थान पर वाटिकाओं और विहार करने योग्य स्थलों से शोभित थी। इनके अतिरिक्त शोभा के योग्य देवताओं और मनुष्यों से वह पुरी अत्यन्त शोभायमान देख पड़ती थी ॥१३॥

तां पुरीं दिव्यसङ्काशां नानापण्योपशोभिताम् ।
नानादेशगतैश्चापि वणिग्भिरुपशोभिताम् ॥१४॥

वह पुरी दिव्य रूपा थी तथा अनेक प्रकार की वाणिज्य की वस्तुओं से परिपूर्ण होने के कारण, देश देशान्तर के व्यापारी वहाँ व्यापार करने के लिये आने लगे थे ॥१४॥

तां समृद्धां समृद्धार्थः शत्रुघ्नो भरतानुजः ।
निरीक्ष्य परमप्रीतः परं हर्षमुपागमत् ॥१५॥

भरत के छोटे भाई शत्रुघ्न जी, जो स्वयं सब प्रकार से भरे पूरे थे ; उस पुरी को इस प्रकार से भरा पूरा देख, बहुत प्रसन्न हुए ॥१५॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना निवेश्य मधुरां पुरीम् ।
रामपादौ निरीक्षेऽहं वर्षे द्वादश आगते ॥१६॥

तदनन्तर उन्होंने सोचा कि, हमें (अयोध्या छोड़े) यह बारहवाँ वर्ष है। अतः अब चल कर, श्रीरामचन्द्र जी के चरणों के दर्शन करने चाहिए ॥१६॥

ततः सताममरपुरोपमां पुरीं
निवेश्य वै विविधजनाभिसंवृताम् ।
नराधिपो रघुपतिपाददर्शने
दधे मतिं रघुकुलवंशवर्धनः ॥१७॥

इति सप्ततितमः सर्गः ॥

तब वे रघुकुल के बढ़ाने वाले नरराज शत्रुघ्न जी, देवपुरी के समान अपनी पुरी को अनेक जनों से परिपूर्ण देख, श्रीरामचन्द्र जी के चरणों के दर्शन करने की इच्छा करने लगे ॥१७॥

उत्तरकाण्ड का सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:०:—

एकसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

ततो द्वादशमे वर्षे शत्रुघ्नो रामपालिताम् ।
अयोध्यां चकमे गन्तुमल्पभृत्यबलानुगः ॥१॥

बारहवें वर्ष शत्रुघ्न जी थोड़े से नौकर चाकरों और सैनिकों को साथ ले, श्रीरामचन्द्र द्वारा पालित अयोध्या जाने की अभिलाषा से प्रस्थानित हुए ॥१॥

ततो मन्त्रिपुरोगांश्च बलमुख्यान्निवर्त्य च ।
जगाम हयमुख्येन रथानां च शतेन सः ॥२॥

उनके साथ बहुत से मंत्री आदि भी जाने लगे, किन्तु उन्होंने उन सब को लौटा दिया । थोड़े से उत्तम घुड़सवार और सौ रथ उन्होंने अपने साथ लिए ॥२॥

स गत्वा गणितान्वासान्सप्ताष्टौ रघुनन्दनः ।
वाल्मीकाश्रममागत्य वासं चक्रे महायशाः ॥३॥

महायशस्वी रघुनन्दन शत्रुघ्न जी सात आठ जगह ठहर कर वाल्मीकि मुनि के आश्रम में पहुँचे और वहीं वे ठहरे ॥३॥

सोभिवाद्य ततः पादौ वाल्मीकेः पुरुषर्षभः ।
पाद्यमर्घ्यं तथातिथ्यं जग्राह मुनिहस्ततः ॥४॥

उन पुरुषश्रेष्ठ शत्रुघ्न जी ने वाल्मीकि मुनि को प्रणाम कर उनके हाथ से अर्घ्य, पाद्यादि आतिथ्य ग्रहण किया ॥४॥

बहुरूपाः सुमधुराः कथास्तत्र सहस्रशः ।
कथयामास स मुनिः शत्रुघ्नाय महात्मने ॥५॥

उस समय महर्षि वाल्मीकि जी ने, शत्रुघ्न जी को विविध प्रकार की अनेक मधुर कथाएँ सुनाईं ॥५॥

उवाच च मुनिर्वाक्यं लवणस्य वधाश्रितम् ।
सुदुष्करं कृतं कर्म लवणं निघ्नता त्वया ॥६॥

उन्होंने लवणवध के सम्बन्ध में कहा—तुमने लवण को मार कर, बड़ा ही कठिन कार्य किया है ॥६॥

बहवः पार्थिवाः सौम्य हताः सबलवाहनाः ।
लवणेन महाबाहो युध्यमाना महाबलाः ॥७॥

हे महाबाहो ! इस बलिष्ठ लवण ने युद्ध में बहुत से राजाओं को सेना और वाहनों सहित मार डाला था ॥७॥

स त्वया निहतः पापो लीलया पुरुषर्षभ ।
जगतश्च भयं तत्र प्रशान्तं तव तेजसा ॥८॥

किन्तु हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुमने तो उसे बात की बात में, (अर्थात् अनायास) ही मार डाला । तुम्हारे प्रताप से जगत् का (एक बहुत बड़ा) भय दूर हो गया ॥८॥

रावणस्य वधो घोरो यत्नेन महता कृतः ।
इदं च सुमहत्कर्म त्वया कृतमयत्नतः ॥९॥

देखो, श्रीरामचन्द्र जी को रावण को, मारने के लिए बड़े-बड़े यत्न करने पड़े थे ; किन्तु इतने बड़े काम में, तुमको कुछ भी यत्न नहीं करना पड़ा ॥९॥

प्रीतिश्चास्मिन परा जाता देवानां लवणे हते ।
भूतानां चैव सर्वेषां जगतश्च प्रियं कृतम् ॥१०॥

लवण का वध करने से देवता तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुए हैं । तुमने यह काम पूरा कर जगत् का और समस्त प्राणियों का बड़ा ही प्रिय कार्य किश्रा है ॥१०॥

तच्च युद्धं मया दृष्टं यथावत् पुरुषर्षभ ।
सभायां वासवस्याथ उपविष्टेन राघव ॥११॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! हे राघव ! मैंने तो वह युद्ध ज्यों का त्यों, इन्द्र की सभा में बैठे बैठे देखा था ॥११॥

ममापि परमा प्रीतिर्हृदि शत्रुघ्न वर्तते ।
उपाघ्रास्यामि ते मूर्ध्नि स्नेहस्यैषा परा गतिः ॥१२॥

हे शत्रुघ्न ! मैं भी (तुम्हारे इस कार्य से) तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ। अतः मैं तुम्हारा सिर सूँघूँगा। क्योंकि स्नेह की यही पराकाष्ठा है ॥१२॥

[टिप्पणी—उस काल में सिरसूँघना—प्रसन्नता एवं वात्सल्यसूचक समझा जाता था।]

इत्युक्त्वा मूर्ध्नि शत्रुघ्नमुपाघ्राय *महामतिः ।
आतिथ्यमकरोत्तस्य ये च तस्य पदानुगाः ॥१३॥

यह कह कर, महामतिमान् वाल्मीकि जी ने शत्रुघ्न का सिर सूँघा और शत्रुघ्न एवं उनके समस्त सेवकों का अतिथि-सत्कार किया ॥१३॥

स भुक्तवान्नरश्रेष्ठो गीतमाधुर्यमुत्तमम् ।
शुश्राव रामचरितं तस्मिन्काले †यथाकृतम् ॥१४॥

जब शत्रुघ्न जी भोजन कर चुके, तब उन्होंने दूर से श्रीरामचन्द्र का चरित सम्बन्धी मधुर संगीत सुना। श्रीरामचन्द्र जी पूर्वकाल में जो लीला कर चुके थे, उन्हीं लीलाओं का उन गीतों में वर्णन था ॥१४॥

तंत्रीलयसमायुक्त त्रिस्थानकरणान्वितम् ।
संस्कृतं लक्षणोपेतं समतालसमन्वितम् ॥१५॥

वीणा के स्वर से कण्ठस्वर मिला कर, वह रामचरित गाया जा रहा था। हृदय, कण्ठ और सिर से, निकले हुए मन्द्र भद्र तार स्वरों में, धीमी, मध्यम और ऊँची तान के साथ वह गाना गाया जा रहा था। वह गान संस्कृत श्लोकों में हो रहा था। उस

---

* पाठान्तरे—"महामुनिः।" † पाठान्तरे—"यथाक्रमम्।"

गान में छन्द, व्याकरण और सङ्गीत शास्त्र के समस्त लक्षण विद्यमान थे ॥१५॥

शुश्राव रामचरितं तस्मिन् काले पुरा कृतम् ।
तान्यक्षराणि सत्यानि यथावृत्तानि पूर्वशः ॥१६॥
श्रुत्वा पुरुषशार्दूलो विसंज्ञो बाष्पलोचनः ।
स मुहूर्तमिवासंज्ञो विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः ॥१७॥

श्रीराम के सम्बन्ध में जैसी जैसी घटनाएँ हुई थीं, ठीक वे ही वे घटनाएँ उस गान में सुन कर, शत्रुघ्न चकित हो गए। उनके नेत्रों से आँसू निकल पड़े। कुछ देर तक वे अचेत रहे। तदनन्तर सचेत हो, वे बार बार लंबी साँसें लेने लगे ॥१६॥१७॥

तस्मिन् गीते यथावृत्तं वर्तमानमिवाश्रृणोत् ।
पदानुगाश्च ये राज्ञस्तां श्रुत्वा गतिसम्पदम् ॥१८॥
अवाङ्मुखाश्च दीनाश्च ह्याश्चर्यमिति चाब्रुवन् ।
परस्परं च ये तत्र सैनिकाः सम्बभाषिरे ॥१९॥

जो घटनाएँ बहुत दिनों पूर्व हो चुकी थीं, उनको उन गीतों में सुनने से, वे टटकी सी जान पड़ती थीं। उस संगीत को सुन शत्रुघ्न के साथवाले लोग नीचे को मुख कर, उदास हो गये और "आश्चर्य आश्चर्य" कहने लगे। सैनिक लोग परस्पर कहने लगे ॥१८॥१९॥

किमिदं क्व च वर्तामः किमेतत्स्वप्नदर्शनम् ।
अर्थो यो नः पुरा दृष्टस्तमाश्रमपदे पुनः ॥२०॥

शृणुमः किमिदं स्वप्ने* गीतबन्धनमुत्तमम् ।
विस्मयं ते परं गत्वा शत्रुघ्नमिदमब्रुवन् ॥२१॥

यह है क्या ? हम इस समय कहाँ हैं ? हम लोग यह सपना तो नहीं देख रहे ? बड़ा आश्चर्य है ! हमने पूर्वकाल में जो बातें देखी थीं, वे ही बातें अब इस आश्रम में पद्यबद्ध सुन रहे हैं । क्या यह सपना है ? उस प्रकार वे परम-आश्चर्य-युक्त हो शत्रुघ्न जी बोले ॥२०॥२१॥

[१]साधु पृच्छ नरश्रेष्ठ वाल्मीकिं मुनिपुङ्गवम् ।
शत्रुघ्नस्त्वब्रवीत्सर्वान् कौतूहलसमन्वितान् ॥२२॥

हे नरश्रेष्ठ ! आप मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि जी से भली भाँति पूछिए कि, यह क्या है ? कर्तृकगान है ? अथवा और कुछ ? तब शत्रुघ्न जी उन आश्चर्यचकित लोगों से बोले ॥२२॥

सैनिका न क्षमोऽस्माकं परिप्रष्टुमिहेदृशः ।
आश्चर्याणि बहूनीह भवन्त्यस्याश्रमे मुनेः ॥२३॥

हे सैनिकों ! मुनि से ऐसा प्रश्न करना मेरे लिए उचित नहीं है । क्योंकि मुनियों के आश्रमों में तो ऐसी आश्चर्य की बातें हुआ ही करती हैं ॥२३॥

न तु कौतूहलाद्युक्तमन्वेष्टुं तं महामुनिम् ।
एवं तद्वाक्यमुक्त्वा तु सैनिकान् रघुनन्दनः ।
अभिवाद्य महर्षिं तं स्वं निवेशं ययौ तदा ॥२४॥

इति एकसप्ततितमः सर्गः

---

१ साधु पृच्छेति—किंकर्तृकंगानमितिशेषः । (रा०)

*पाठान्तरे—"गीतबन्धं श्रितो भवेत् ।"

कौतूहलवश हम लोग ऐसी बातों के सम्बन्ध में पूँछ कर मुनि को कष्ट क्यों दें। इस प्रकार उन सबको समझा कर, शत्रुघ्न जी वाल्मीकि को प्रणाम कर, अपने डेरे पर आए ॥२४॥

उत्तरकाण्ड एकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

द्विसप्ततितमः सर्गः

—:*:—

तं शयानं नरव्याघ्रं निद्रानाभ्यागमत्तदा।
*चिन्तयानमनेकार्थं रामगीतमनुत्तमम् ॥१॥

शत्रुघ्न जी जाकर कर बिस्तर पर लेट तो गये, किन्तु श्रीरामचन्द्र सम्बन्धी उस अनेकार्थयुक्त उत्तम सङ्गीत पर विचार करते करते उन्हें नींद न पड़ी ॥१॥

तस्यां शब्दं सुमधरं तंत्रीलयसमन्वितम्।
श्रुत्वा रात्रिर्जगामाशु शत्रुघ्नस्य महात्मनः ॥२॥

वह मधुर गान वीणा के ऊपर गाया जा रहा था। लेटे लेटे उसे सुनते सुनते ही शत्रुघ्न ने वह रात बिता दी (और उन्हें यह जान भी न पड़ा कि, रात कब बीत गई) ॥२॥

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां कृत्वा पौर्वाह्णिकक्रमम्।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं शत्रुघ्नो मुनिपुङ्गवम् ॥३॥

* पाठान्तरे—"चिन्तयन्तम्।"

उस रात के बीत जाने पर और प्रातःकृत्य समाप्त कर, शत्रुघ्न जी मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि जी से हाथ जोड़ कर बोले ॥३॥

भगवन् द्रष्टुमिच्छामि राघवं रघुनन्दनम् ।
त्वयानुज्ञातमिच्छामि सहैभिः संशितव्रतैः ॥४॥

हे भगवन्! अब मेरी इच्छा रघुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन करने की है। अतः आप इन महाव्रतधारी मुनियों सहित, मुझे जाने की आज्ञा दीजिए। (अर्थात् आप आज्ञा दें तथा ये महाव्रत धारी मुनि भी मुझे जाने की अनुमति प्रदान करें) ॥४॥

इत्येवंवादिनं तं तु शत्रुघ्नं *शत्रुसूदनम् ।
वाल्मीकिः सम्परिष्वज्य विससर्ज स राघवम् ॥५॥

शत्रुसूदन शत्रुघ्न जी के ऐसा कहने पर, महर्षि वाल्मीकि ने शत्रुघ्न को गले लगा कर, बिदा किआ ॥५॥

सोभिवाद्य मुनिश्रेष्ठं रथमारुह्य सुप्रभम् ।
अयोध्यामगमत्तूर्णं राघवोत्सुकदर्शनः ॥६॥

शत्रुघ्न जी भी मुनिश्रेष्ठ को प्रणाम कर और अपने उत्तम रथ पर सवार हो, श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन की उत्कण्ठा से शीघ्रता-पूर्वक अयोध्या को रवाना हुए ॥६॥

स प्रविष्टः पुरीं रम्यां श्रीमानिक्ष्वाकुनन्दनः ।
प्रविवेश महाबाहुर्यत्र रामो महाद्युतिः ॥७॥

वहाँ से चल कर, शत्रुघ्न जी श्रीमान् इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी की मनोहर पुरी में पहुँचे और उस भवन में गए, जहाँ महाबाहु एवं द्युतिमान् श्रीरामचन्द्र जी थे ॥७॥

---

* पाठान्तरे—"शत्रुतापनम् ।"

स रामं मन्त्रिमध्यस्थं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ।
पश्यन्नमरमध्यस्थं सहस्रनयनं यथा ॥८॥

उस समय पूर्णचन्द्रानन श्रीरामचन्द्र जी मंत्रियों के बीच में बैठे हुए, वैसे ही शोभायमान हो रहे थे जैसे देवताओं के बीच बैठे इन्द्र शोभायमान होते हैं ॥८॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
उवाच *प्राञ्जलिर्भूत्वा रामं सत्यपराक्रमम् ॥९॥

सत्यपराक्रमी, तेज से प्रदीप्त महाबली श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम कर, शत्रुघ्न जी उनसे बोले ॥९॥

यदाज्ञप्तं महाराज सर्वं तत्कृतवानहम् ।
हतः स लवणः पापः पुरी चास्य निवेशिता ॥१०॥

महाराज ! जो आज्ञा दी थी, तदनुसार मैंने उसका पालन कर दिया। वह पापी लवण मारा गया और वहाँ मैंने पुरी भी बसा दी ॥१०॥

†द्वादशैतानि वर्षाणि त्वां विना रघुनन्दन ।
नोत्सहेयमहं वस्तुं त्वया विरहितो नृप ॥११॥

हे रघुनन्दन ! मुझे वहाँ रहते रहते बारह वर्ष हो चुके। अब तुम्हारे बिना मुझसे वहाँ नहीं रहा जाता ॥११॥

स मे प्रसादं काकुत्स्थ कुरुष्वामितविक्रम ।
मातृहीनो यथा वत्सो न चिरं प्रवसाम्यहम् ॥१२॥

---

* पाठान्तरे—"प्राञ्जलिर्वाक्यः ।" † पाठान्तरे—"द्वादशैते गता वर्षाः ।"

हे अमित पराक्रमी ! हे काकुत्स्थ ! अब मेरे ऊपर दया कीजिए। जिस प्रकार माताहीन बछड़ा नहीं रह सकता, उसी प्रकार मैं तुम्हारे बिना वहाँ अकेला अब बहुत समय तक नहीं रह सकता ॥१२॥

एवं ब्रुवाणं काकुत्स्थः परिष्वज्येदमब्रवीत् ।
मा विषादं कृथाः शूर नैतत् क्षत्रियचेष्टितम् ॥१३॥

शत्रुघ्न के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने उनको गले लगा कर कहा—हे वीर ! दुःखी मत हो। क्षत्रियों को ऐसा करना उचित नहीं ॥१३॥

नावसीदन्ति राजानो विप्रवासेषु राघव ।
प्रजा हि परिपाल्या हि क्षत्रधर्मेण राघव ॥१४॥

हे राघव ! राजा लोग परदेश में रहने से दुःखी नहीं होते; किन्तु धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते हैं ॥१४॥

काले काले तु मां वीर ह्ययोध्यामवलोकितुम् ।
आगच्छ त्वं नरश्रेष्ठ गन्तासि च पुरं तव ॥१५॥

हे नरश्रेष्ठ ! जब तुम चाहो तब मुझसे मिलने के लिए यहाँ चले आया करो और फिर अपनी पुरी को चले जाय करो ॥१५॥

ममापि त्वं सुदयितः प्राणैरपि न संशयः ।
अवश्यं करणीयं च राज्यस्य परिपालनम् ॥१६॥

इसमें सन्देह नहीं कि, तुम मुझे प्राणों के समान प्यारे हो; किन्तु राज्य का पालन करना भी तो आवश्यक है ॥१६॥

तस्मात्त्वं वस काकुत्स्थ सप्तरात्रं मया सह ।
ऊर्ध्वं गतासि मधुरां सभृत्यबलवाहनः ॥१७॥

अतः अब तुम सात दिवस तक मेरे साथ रहो। तदनन्तर अपने नौकरों और वाहनों सहित मधुपुरी को लौट जाना ॥१७॥

रामस्यैतद्वचः श्रुत्वा धर्मयुक्तं मनोनुगम् ।
शत्रुघ्नो दीनया वाचा बाढमित्येव चाब्रवीत् ॥१८॥

श्रीरघुनाथ जी के ये धर्मयुक्त और मनोनुसारी वचन सुन, शत्रुघ्न जी उदास हो गए। और (मन्द स्वर से) बोले "जो आज्ञा" ॥१८॥

सप्तरात्रं च काकुत्स्थो राघवस्य यथाज्ञया ।
उष्य तत्र महेष्वासो गमनायोपचक्रमे ॥१९॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से (अयोध्या में) सात रात रह कर, फिर महाबली शत्रुघ्न जी जाने को तैयार हुए ॥१९॥

आमन्त्र्य तु महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
भरतं लक्ष्मणं चैव महारथमुपारुहत् ॥२०॥

सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी, भरत जी और लक्ष्मण जी से विदा माँग, शत्रुघ्न रथ पर सवार हुए ॥२०॥

दूरं पद्भ्यामनुगतो लक्ष्मणेन महात्मना ।
भरतेन च शत्रुघ्नो जगामाशु पुरीं तदा ॥२१॥

इति द्विसप्ततितमः सर्गः ॥

महात्मा भरत जी और लक्ष्मण जी, शत्रुघ्न जी को कुछ दूर तक पैदल पहुँचा, पुनः अयोध्या में लौट आए ॥२१॥

उत्तरकाण्ड का बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

त्रिसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

प्रस्थाप्य तु स शत्रुघ्नं भ्रातृभ्यां सह राघवः।
प्रमुमोद सुखी राज्यं धर्मेण परिपालयन् ॥१॥

भाइयों सहित श्रीरघुनाथ जी शत्रुघ्न को विदा कर, धर्मपूर्वक राज्य करते हुए सुख से रहने लगे ॥१॥

ततः कतिपयाहः सुवृद्धो जानपदो द्विजः।
मृतं बालमुपादाय राजद्वारमुपागमत् ॥२॥

इसके कुछ दिनों बाद उस नगर का एक बूढ़ा ब्राह्मण, मृत बालक ले कर, राजभवन के द्वार पर आया ॥२॥

रुदन् बहुविधा वाचः स्नेहदुःखसमन्वितः।
असकृत्पुत्र पुत्रेति वाक्यमेतदुवाच ह ॥३॥

पुत्रस्नेहवश अत्यन्त दुःखी हो, बार बार, हा पुत्र ! हा पुत्र ! कह कर कर, चिल्लाता और रोता हुआ, अनेक प्रकार से विलाप कर, कहने लगा ॥३॥

किंनु मे दुष्कृतं कर्म पुरा देहान्तरे कृतम् ।
यदहं पुत्रमेकं तु पश्यामि निधनं गतम् ॥४॥

मैंने पूर्वजन्म में ऐसा कौन सा पाप किया था, जो मैं आज अपने इकलौते पुत्र को मरा हुआ देख रहा हूँ ॥४॥

अप्राप्तयौवनं बालं पञ्चवर्षसहस्रकम्[१] ।
अकाले कालमापन्नं मम दुःखाय पुत्रक ॥५॥

हा ! मेरा बालक तो अभी तरुण भी नहीं हो पाया था। उसकी अभी चौदह ही वर्ष की तो अवस्था थी। मुझे दुःख देने के लिए ही वह अकाल में काल को प्राप्त हुआ है ॥५॥

अल्पैरहोभिर्निधनं गमिष्यामि न संशयः ।
अहं च जननी चैव तव शोकेन पुत्रक ॥६॥

हे बेटा ! मैं और तुम्हारी माता, हम दोनों ही तुम्हारे शोक से थोड़े ही दिनों में मर जाँयगे। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ॥६॥

न स्मराम्यनृतं ह्युक्तं न च हिंसां स्मराम्यहम् ।
सर्वेषां प्राणिनां पापं *न स्मरामि कदाचन ॥७॥

केनाद्य दुष्कृतेनायं बाल एव ममात्मजः ।
अकृत्वा पितृकार्याणि गतो वैवस्वतक्षयम् ॥८॥

---

१ पंचवर्षसहस्रकं—वर्षशब्दोत्र दिनपरः "सहस्रसंवत्सरसत्रमुपासीतेतिवत् । तेनषोडशवर्षमित्यर्थइत्येके तेन किंचिदन्यून चतुर्दश वर्षमित्यर्थम् इत्यन्यो । (रा०)

* पाठान्तरे—"कृतं नैव स्मराम्यहम् ।"

मुझे स्मरण नहीं कि, मैं कभी किसी से झूठ बोला अथवा कभी जीवहिंसा की अथवा कभी कोई अन्य प्रकार का मैंने पाप किया। फिर न मालूम किस पापकर्म के फल से यह बालक अपने पिता की अन्त्येष्टिक्रिया किये बिना ही यमलोक को चला गया ॥७॥८॥

नेदृशं दृष्टपूर्वं मे श्रुतं वा घोरदर्शनम् ।
मृत्युरप्राप्तकालानां रामस्य विषये ह्ययम् ॥९॥

श्रीरामराज्य में तो ऐसी बड़ी भयानक घटना न तो कभी देखने में आई और न सुनने ही में आई कि, समय के पूर्व ही कोई बालक मर गया हो ॥९॥

रामस्य दुष्कृतं किञ्चिन् महदस्ति न संशयः ।
यथा हि विषयस्थानां बालानां मृत्युरागतः ॥१०॥

अतएव निस्सन्देह श्रीराम ही का कोई बड़ा दुष्कर्म इसका कारण है, जिससे उनके राज्य में बसने वाला यह बालक मरा है ॥१०॥

न ह्यन्यविषयस्थानां बालानां मृत्युतो भयम् ।
स राजन् जीवयस्वैनं बालं मृत्युवशं गतम् ॥११॥

क्योंकि अन्य राज्यों में तो बालक नहीं मरते। सो हे राजन्! तुम इस मेरे मरे हुए बालक को जीवित करो ॥११॥

राजद्वारि मरिष्यामि पत्न्या सार्धमनाथवत् ।
ब्रह्महत्यां ततो राम समुपेत्य सुखी भव ॥१२॥

नहीं तो, मैं अपनी स्त्री सहित अनाथों की तरह राजद्वार पर प्राण दे दूँगा। तब तुम्हें ब्रह्महत्या लगेगी और तब तुम सुखी होना ॥१२॥

भ्रातृभिः सहितो राजन् दीर्घमायुरवाप्स्यसि ।
उषिताः स्म सुखं राज्ये तवास्मिन् सुमहाबल ॥१३॥

हे राजन् ! भाइयों सहित तुम्हारी बड़ी उम्र होगी । हे महाबली ! अभी तक हम लोग तुम्हारे राज्य में सुखी थे ॥१३॥

इदं तु पतितं तस्मात्तव राम वशे स्थितान् ।
कालस्य वशमापन्नाः स्वल्पं हि नहि नः सुखम् ॥१४॥

किन्तु तुम्हारे राज्य में रहने से, हमें अब यह सुख मिला कि, हम काल के फन्दे में फँस गए। तुम्हारे राज्य में अब कुछ भी सुख नहीं है ॥१४॥

सम्प्रत्यनाथो विषय इक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ।
रामं नाथमिहासाद्य बालान्तकरणं ध्रुवम् ॥१५॥

इक्ष्वाकुवंश वालों का राज्य, श्रीराम के राजा होने से, अनाथ हो गया है ॥१५॥

राजदोषैर्विपद्यन्ते प्रजा ह्यविधिपालिताः ।
असद्वृत्ते हि नृपतावकाले म्रियते जनः ॥१६॥

जब विधिपूर्वक प्रजा का पालन नहीं किया जाता; तब खोटे आचरण के राजा के दोष से, बेसमय लोग मरते हैं ॥१६॥

यद्वा पुरेष्वयुक्तानि जना जनपदेषु च ।
कुर्वते न च रक्षाऽस्ति तदा कालकृतं भयम् ॥१७॥

अथवा तुम्हारी असावधानी से और रक्षा न करने से गाँवों और नगरों में मनुष्य असद् व्यवहार करते हैं, इसीसे अकाल में मृत्यु का भय होता है ॥१७॥

सुव्यक्तं राजदोषो हि भविष्यति न संशयः ।
पुरे जनपदे चाप तथा बालवधो ह्ययम् ॥१८॥

अतः अवश्य ही पुरों अथवा गाँवों के राज्यशासन में कोई त्रुटि है, इसीसे यह बालक मरा है ॥१८॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैरुपरुध्य मुहुर्मुहुः ।
राजानं दुःखसन्तप्तः सुतं तमुपगूहति ॥१६॥

इति त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

इस प्रकार की अनेक बातें कहता हुआ, वह ब्राह्मण बार बार, रोता था और बालक को छाती से चिपटाए हुए, इस प्रकार की अनेक उलहने की बातें श्रीरामचन्द्र जी के लिए कहता हुआ, वह ब्राह्मण अत्यन्त दुःखी हो रहा था ॥१६॥

उत्तरकाण्ड का तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—❀—

[टिप्पणी—एक छत्र शासन काल में भी भारतीय प्रजा को राजा के कार्यों की आलोचना करने का कहाँ तक अधिकार (Right) था या दुखित ब्राह्मण की उक्तियों से भली भाँति समझ में आ जाता है ।]

चतुःसप्ततितमः सर्गः

—:o:—

तथा तु करुणं तस्य द्विजस्य परिदेवनम् ।
शुश्राव राघवः सर्वं दुःखशोकसमन्वितम् ॥१॥

इस प्रकार शोक और दुःखयुक्त उस ब्राह्मण का समस्त विलाप श्रीरामचन्द्र जी ने (स्वयं सुना) ॥१॥

स दुःखेन च सन्तप्तो मन्त्रिणस्तानुपाह्वयत् ।
वसिष्ठं वामदेवं च भ्रातृंश्च सहनैगमान् ॥२॥

तब अत्यन्त दुःखी हो श्रीरामचन्द्र जी ने मंत्रियों को बुलाया। मंत्रियों के अतिरिक्त वसिष्ठ, वामदेव, भरतादि भाई और बड़े बड़े सेठ साहूकारों को भी बुलाया ॥२॥

[टिप्पणी—एक छत्र शासन में अवसर विशेषों पर केवल मंत्रि-मंडल (Cabisnet) की बैठक ही नहीं होती थी, प्रत्युत राजपुरोहित तथा प्रजाजनों के प्रतिनिधि रूप सेठ साहूकार भी विचार विनिमय के लिए बुलाए जाते थे।]

ततो द्विजा वसिष्ठेन सार्धमष्टौ प्रवेशिताः।
राजानं देवसङ्काशं वर्धस्वेति ततोऽब्रुवन् ॥३॥

वसिष्ठ सहित आठ ब्राह्मण आए और बोले देवतुल्य महाराज श्रीरामचन्द्र जी की बढ़ती हो ॥३॥

मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च काश्यपः।
कात्यायनोथ जाबालिर्गौतमो नारदस्तथा ॥४॥

मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, जाबालि, गौतम, तथा नारद जी ॥४॥

एते द्विजर्षभाः सर्वे आसनेषूपवेशिताः।
महर्षीन्समनुप्राप्तानभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥५॥

ये सब ब्राह्मणश्रेष्ठ आसनों पर बैठे। उन आए हुए समस्त महर्षियों को श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ जोड़ कर, प्रणाम किआ ॥५॥

मन्त्रिणो नैगमांश्चैव यथार्हमनुकूलिताः।
तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां दीप्ततेजसाम् ॥६॥

तथा मंत्रियों एवं बड़े बड़े आदमियों का यथोचित सत्कार किआ। जब वे सब तेजस्वी जन बैठ गए ॥६॥

राघवः सर्वमाचष्टे द्विजोऽयमुपरोधति ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राज्ञो दीनस्य नारदः ॥७॥
प्रत्युवाच शुभं वाक्यमृषीणां सन्निधौ स्वयम् ।
शृणु राजन् यथाऽकाले प्राप्तो बालस्य संक्षयः ॥८॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने राजभवन पर धन्ना दिए बैठे हुए ब्राह्मण की चर्चा चलाई। उसको सुन और महाराज को उदास देख, (सर्वप्रथम) उन ऋषियों में स्वयं नारद जी ने यह शुभ वचन कहे। हे राजन्! सुनिए इस बालक की अकाल मौत कैसे हुई ॥७।८॥

श्रुत्वा कर्तव्यतां राजन् कुरुष्व रघुनन्दन ।
पुरा कृतयुगे राजन् ब्राह्मणा वै तपस्विनः ॥९॥

हे राम! उसे सुन कर, फिर जो कर्त्तव्य हो कीजियेगा। हे राजन्! पहिले सतयुग में केवल ब्राह्मण ही तपस्या किआ करते थे ॥९॥

अब्राह्मणस्तदा राजन्न तपस्वी कथंचन ।
तस्मिन् युगे प्रज्वलिते ब्रह्मभूते त्वनावृते ॥१०॥

हे राजन्! उस युग में ब्राह्मण को छोड़ कर और कोई वर्ण वाला तपस्वी नहीं होता था। उस युग में ब्राह्मणों ही के तपस्या करने की प्रथा प्रचलित थी और अविद्या दूर रहती थी अतः सब (ब्राह्मण) ज्ञानवान् हुआ करते थे ॥१०॥

अमृत्यवस्तदा सर्वे जज्ञिरे दीर्घदर्शिनः ।
ततस्त्रेतायुगं नाम [1]मानवानां [2]वपुष्मताम् ॥११॥

---

१ मानवानां—मनुवंशक्षत्रियाणां। (गो०) २—वपुष्मतां—दृढ़शरीराणां (गो०)

अतएव सत् युग में अकाल में कोई मरता न था और सब लोग दीर्घदर्शी हुआ करते थे। फिर जब (सतयुग के पीछे) त्रेता आया, तब दृढ़ शरीर वाले मनुवंशी ॥११॥

क्षत्रिया यत्र जायन्ते पूर्वेण तपसान्विताः ।
वीर्येण तपसा चैव तेऽधिकाः पूर्वजन्मनि ।
मानवा ये महात्मानस्तत्र त्रेतायुगे युगे ॥१२॥

ब्रह्म क्षत्रं च तत्सर्वं यत्पूर्वमवरं च यत् ।
युगयोरुभयोरासीत् समवीर्यसमन्वितम् ॥१३॥

क्षत्रिय लोग तप करने लगे। उस समय भी उन्हीं महात्माओं का प्राधान्य था जो पूर्वजन्म में तप और पराक्रम में चढ़े बढ़े थे। जो ब्राह्मण प्रथम थे और जो क्षत्रिय पीछे हुए, वे दोनों उस समय (अर्थात् त्रेता में) समान वीर्य बल वाले हो गए ॥१२॥१३॥

अपश्यन्तस्तु ते सर्वे विशेषमधिकं ततः ।
स्थापनं चक्रिरे तत्र चातुर्वर्ण्यस्य सम्मतम् ॥१४॥

इस काल के लोगों ने ब्राह्मणों और क्षत्रियों में कोई विशेष तारतम्य न देख कर, सर्वसम्मति से मनुष्य जाति को चार वर्णों में बाँटा ॥१४॥

तस्मिन् युगे प्रज्वलिते धर्मभूते ह्यनावृते ।
अधर्मः पादमेकं तु पातयत्पृथिवीतले ॥१५॥

इस त्रेतायुग में कुछ अधर्म भी हुआ। अतएव एक चरण से अधर्म पृथिवी तल पर स्थित हुआ ॥१५॥

अधर्मेण हि संयुक्तस्तेजो मन्दं भविष्यति ॥१६॥

जब इस युग का एक चरण अधर्मयुक्त होगा; तभी (धर्म का) तेज (प्रभाव) मन्द पड़ जायगा ॥१६॥

आमिषं यच्च पूर्वेषां राजसं च मलं भृशम् ।
अनृतं नाम तद्भूतं क्षिप्तेन पृथिवीतले ॥१७॥

सतयुग में क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रिय—सब लोग आमिष भोजन कर जीते थे। यद्यपि आमिष भोजन मलवत् समझा जाता था; तथापि त्रेता में खेतीबारी करके उत्पन्न किए हुए अन्न से भी इस पृथिवीतल पर लोग अपना निर्वाह करने लगे ॥१७॥

[टिप्पणी—"अनृत" का अर्थ कृषि है। यथा "सेवाश्ववृत्तिरनृतं कृषिरुञ्छ शिलंत्वृतं।" इत्यमरः]

अनृतं पातयित्वा तु पादमेकमधर्मतः ।
ततः प्रादुष्कृतं पूर्वमायुषः परिनिष्ठितम् ॥१८॥

इससे त्रेता में एक चतुर्थांश अधर्म व्याप्त हुआ और इसी अधर्म के कारण लोगों की आयु भी परिमित होने लगी। अर्थात् सत्युग में लोगों की अपरिमित आयु थी; किन्तु त्रेता में परिमित हो गयी ॥१८॥

पातिते त्वनृते तस्मिन्नधर्मेण महीतले ।
शुभान्येवाचरँल्लोकः सत्यधर्मपरायणः ॥१९॥

जब पृथिवीतल पर अधर्म ने अपना एक चरण जमाया, तब अधर्म से बचने के लिए लोग सत्यधर्मपरायण हो, विविध प्रकार के शुभ कार्यों को करने लगे। (अर्थात् त्रेतायुग में यज्ञादि द्वारा मन शीघ्र शुद्ध होता और अभिमान दूर होता था) ॥१९॥

त्रेतायुगे च वर्तन्ते ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्च ये ।
तपोऽतप्यन्त ते सर्वे शुश्रूषामपरे जनाः ॥२०॥

त्रेतायुग में ब्राह्मण और क्षत्रिय तो तपस्या करते हैं और वैश्य एवं शूद्र उनकी सेवा किया करते हैं ॥२०॥

स्वधर्मः परमस्तेषां वैश्यशूद्रं तदागमत् ।
पूजां च सर्ववर्णानां शूद्राश्चक्रुर्विशेषतः ॥२१॥

ब्राह्मण क्षत्रियों की सेवा करना ही वैश्यों और शूद्रों का परम धर्म है, विशेष कर शूद्रों का तो, अन्य तीनों वर्णों की सेवा करना ही परम धर्म है ॥२१॥

एतस्मिन्नन्तरे तेषामधर्मे चानृते च ह ।
ततः पूर्वे पुनर्ह्रासमगमन्नृपसत्तम ॥२२॥
ततः पादमधर्मस्य द्वितीयमवतारयत् ।
ततो द्वापरसंख्या सा युगस्य समजायत ॥२३॥

हे नृपश्रेष्ठ ! इस बीच में जब पिछले दो वर्णों ने अर्थात् वैश्य और शूद्र वर्णवालों ने अधर्म और असत्य का व्यवहार करना आरम्भ किया, तब ब्राह्मण और क्षत्रिय अवनति को प्राप्त हुए और अधर्म का दूसरा चरण (पृथिवी तल पर) टिका । वह युग द्वापर कहलाया ॥२२॥२३॥

तस्मिन् द्वापरसंख्ये तु वर्तमाने युगक्षये ।
अधर्मश्चानृतं चैव ववृधे पुरुषर्षभ ॥२४॥
अस्मिन् द्वापरसंख्याने तपो वैश्यान् समाविशत् ।
त्रिभ्यो युगेभ्यस्त्रीन् वर्णान् क्रमाद्वै तप आविशत् ॥२५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! द्वापर में धर्म के दो चरण टूटे और असत्य तथा अधर्म दोनों ही बढ़े और तीसरा वर्ण अर्थात् वैश्य भी तपस्या करने लगा । इस प्रकार तीन युगों में तीन वर्ण यथाक्रम तप करने लगे ॥२४॥२५॥

त्रिभ्यो युगेभ्यस्त्रीन् वर्णान् धर्मश्च परिनिष्ठितः ।
न शूद्रो लभते धर्मं युगतस्तु नरर्षभ ॥२६॥

इस प्रकार युग युग में तपरूपी धर्म तीन वर्णों में प्रतिष्ठित हुआ है । किन्तु हे नरश्रेष्ठ ! इन तीनों युगों में शूद्रों को तप का अधिकार नहीं है ॥२६॥

हीनवर्णो नृपश्रेष्ठ तप्यते सुमहत्तपः ।
भविष्यच्छूद्रयोष्यां हि तपश्चर्या कलौ युगे ॥२७॥

हे नृपश्रेष्ठ ! परन्तु हीन वर्ण शूद्र भी बड़ा तप करता है । किन्तु कलियुग ही में, शूद्रयोनि में उत्पन्न जीव तप करेंगे ॥२७॥

अधर्मः परमो राजन् द्वापरे शूद्रजन्मनः ।
स वै विषयपर्यन्ते तव राजन् महातपाः ॥२८॥
अद्य तप्यति दुर्बुद्धिस्तेन बालवधो ह्ययम् ।
यो ह्यधर्ममकार्यं वा विषये पार्थिवस्य तु ॥२९॥

हे राजन् ! यदि द्वापर में शूद्र तप करे, तो भी बड़ा अधर्म है; किन्तु तुम्हारे राज्य में तो इसी समय एक महातपस्वी दुर्बुद्धि शूद्र, तप करता है । इसीसे इस ब्राह्मण का बालक मरा है । क्योंकि जिस राजा के राज्य में कोई अधर्म या अकार्य होता है ॥२८॥२९॥

करोति चाश्रीमूलं तत् पुरे वा दुर्मतिर्नरः।
क्षिप्रं च नरकं याति स च राजा न संशयः ॥३०॥

वहाँ उन दुर्मति लोगों के उस अकार्य के कारण, दरिद्र फैलता है और वह राजा शीघ्र नरकगामी होता है। इसमें सन्देह नहीं ॥३०॥

अधीतस्य च तप्तस्य कर्मणः सुकृतस्य च।
षष्ठं भजति भागं तु प्रजा धर्मेण पालयन् ॥३१॥

धर्मपूर्वक प्रजापालन करने वाले राजा को प्रजा के वेदाध्ययन, तप और सुकृत का छठवाँ भाग मिलता है ॥३१॥

षड्भागस्य च भोक्तासौ रक्षते न प्रजाः कथम्।
स त्वं पुरुषशार्दूल मार्गस्व विषयं स्वकम् ॥३२॥

जब राजा प्रजा के सुकृतादि का छठवाँ भाग पाता है; तब वह उचित रीति से प्रजा का पालन क्यों न करे। अतएव हे पुरुषसिंह ! तुम अपने राज्य में इस बात की खोज करो ॥३२॥

दुष्कृतं यत्र पश्येथास्तत्र यत्नं समाचर।
एवं चेद्धर्मवृद्धिश्च नृणां चायुर्विवर्धनम्।
भविष्यति नरश्रेष्ठ बालस्यास्य च जीवितम् ॥३३॥

इति चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥

हे नरश्रेष्ठ ! जहाँ कहीं तुम पाप होता देखो, वहाँ वहाँ यत्नपूर्वक उसको रोको। ऐसा करने ही से धर्म की वृद्धि होगी,

मनुष्यों की आयु बढ़ेगी और यह मरा हुआ ब्राह्मणबालक भी जी उठेगा ॥३३॥

उत्तरकाण्ड का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

नारदस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वाऽमृतमयं यथा।
प्रहर्षमतुलं लेभे लक्ष्मणं चेदमब्रवीत् ॥१॥

नारद जी के अमृत-तुल्य वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी बहुत प्रसन्न हुए और लक्ष्मण जी से बोले ॥१॥

गच्छ सौम्य द्विजश्रेष्ठं समाश्वासय सुव्रत।
बालस्य च शरीरं तत्तैलद्रोण्यां निधापय ॥२॥

हे सौम्य! हे सुव्रत! तुम जाओ और उस ब्राह्मणश्रेष्ठ को समझा बुझा कर, उसके मृत बालक के शव को तेल का नाव में रखवा दो ॥२॥

गन्धैश्च परमोदारैस्तैलैश्च सुसुगन्धिभिः।
यथा न क्षीयते बालस्तथा सौम्य विधीयताम् ॥३॥

हे सौम्य! तरह तरह के सुगन्धित द्रव्यों और सुगन्धियुक्त तेलों से उस बालक के शव की ऐसी रक्षा करो, जिससे वह बिगड़ने या सड़ने न पावे ॥३॥

यथा शरीरो बालस्य गुप्तः सन् क्लिष्टकर्मणः ।
[१]विपत्तिः परिभेदो[२] वा न भवेच्च तथा कुरु ॥४॥

इस कार्य को तुम इस प्रकार करो जिससे उस शुभाचारयुक्त बालक की न तो मुखाकृति बिगड़ने पावे और न उसके शरीर के जोड़ ढीले पड़ने पावें ॥४॥

एवं सन्दिश्य काकुत्स्थो लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
मनसा पुष्पकं दध्यावागच्छेति महायशाः ॥५॥

श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार शुभ लक्षणयुक्त लक्ष्मण जी से कह कर, मन में पुष्पक विमान को स्मरण किया और कहा, हे महायशस्वी पुष्पक तुम आओ ॥५॥

इङ्गितं स तु विज्ञाय पुष्पको हेमभूषितः ।
आजगाम मुहूर्तेन समीपे राघवस्य वै ॥६॥

स्मरण करते ही वह सुवर्णभूषित पुष्पक विमान एक मुहूर्त्त-मात्र में श्रीरामचन्द्र जी के सामने आ उपस्थित हुआ ॥६॥

सोऽब्रवीत्प्रणतो भूत्वा अयमस्मि नराधिप ।
वश्यस्तव महाबाहो किङ्करः समुपस्थितः ॥७॥

और प्रणाम कर बोला—हे प्रभो! मैं आपका दास और अधीन आ गया ॥७॥

[टिप्पणी—विमान ने यह बातें नहीं कही थीं, किन्तु यह वार्तालाप विमान-चालक (Pilot) से हुआ था।]

भाषितं रुचिरं श्रुत्वा पुष्पकस्य नराधिपः ।
अभिवाद्य महर्षीन् स विमानं सोऽध्यरोहत ॥८॥

---

१ विपत्तिः—स्वरूपनाशः। (गो०) २ भेदः—सन्धि बन्धादि विनिर्मुक्तः। (गो०)

पुष्पक का यह मनोहर कथन सुन, महाराज श्रीरामचन्द्र जी महर्षियों को प्रणाम कर, उस पर सवार हुए ॥८॥

धनुर्गृहीत्वा तूणी च खड्गं च रुचिरप्रभम् ।
निक्षिप्य नगरे चेतौ सौमित्रिभरतावुभौ ॥९॥

चमचमाती तलवार, धनुष और बाण ले और भरत एवं लक्ष्मण जी को नगर की रक्षा का कार्य सौंप ॥९॥

प्रायात्प्रतीचीं हरितं विचिन्वंश्च ततस्ततः ।
उत्तरामगमच्छ्रीमान् दिशं हिमवता वृताम् ॥१०॥

श्रीरामचन्द्र जी पश्चिम दिशा की ओर गए और वहाँ वे इधर उधर शूद्र तपस्वी को खोजने लगे। किन्तु जब वह वहाँ न मिला, तब वे उत्तर दिशा की ओर गए ॥१०॥

अपश्यमानस्तत्रापि स्वल्पमप्यथ दुष्कृतम् ।
पूर्वामपि दिशं सर्वामथोऽपश्यन्नराधिपः ॥११॥

वहाँ भी श्रीरामचन्द्र जी को जरा सा भी पापकर्म नहीं देख पड़ा। तब वे पूर्व दिशा में जा, उसको बड़ी सावधानी से खोजने लगे ॥११॥

प्रविशुद्धसमाचारामादर्शतलनिर्मलाम् ।
पुष्पकस्थो महाबाहुस्तदापश्यन्नराधिप ॥१२॥

वहाँ के रहने वाले शुद्धाचारी होने के कारण, दर्पण की तरह निर्मल थे। महाराज श्रीरामचन्द्र जी ने पुष्पक विमान पर बैठे ही बैठे यह सब देखा ॥१२॥

दक्षिणां दिशमाक्रामत्ततो राजर्षिनन्दनः ।
शैवलस्योत्तरे पार्श्वे ददर्श सुमहत्सरः ॥१३॥

राजर्षिनन्दन श्रीरामचन्द्र जी (पूर्व दिशा से) दक्षिण दिशा में आए। वहाँ उन्होंने विन्ध्याचल के उत्तरपार्श्व में, शैवल पर्वत को और एक बड़े तालाब को देखा ॥१३॥

तस्मिन् सरसि तप्यन्तं तापसं सुमहत्तपः ।
ददर्श राघवः श्रीमाँल्लम्बमानमधोमुखम् ॥१४॥

महातपस्वी श्रीमान् रामचन्द्र जी ने एक ऐसे तपस्वी को देखा जो नीचे को मुख कर, लटकता हुआ, तपस्या कर रहा था ॥१४॥

राघवस्तमुपागम्य तप्यन्तं तप उत्तमम् ।
उवाच च नृपो वाक्यं धन्यस्त्वमसि सुव्रत ॥१५॥

श्रीरामचन्द्र जी उस उत्तम प्रकार से तप करनेवाले के पास जाकर कहने लगे—हे सुव्रत ! धन्य है तुमको ॥१५॥

कस्यां योन्यां तपोवृद्ध वर्तसे दृढविक्रम ।
कौतूहलात्त्वां पृच्छामि रामो दाशरथिर्ह्यहम् ॥१६॥

हे दृढ़विक्रमी तपोवृद्ध ! भला यह तो बतलाओ कि, तुम्हारी, जाति कौनसी है ? तुमसे यह मैं कौतूहलवश पूँछ रहा हूँ। मैं महाराज दशरथ का पुत्र हूँ और मेरा नाम राम है ॥१६॥

कोऽर्थो मनीषितस्तुभ्यं स्वर्गलाभो परोथ वा ।
वराश्रयो यदर्थं त्वं तपस्यन्यैः सुदुश्चरम् ॥१७॥

तुम वह तप किस लिए करते हो ! अथवा तुम्हारा अभीष्ट क्या है ? तुम चाहते क्या हो ? क्या तुम्हारी इच्छा स्वर्ग में जाने की

है ? अथवा किसी दूसरे वर की अभिलाषा से ऐसा उत्तम तप कर रहे हो ॥१७॥

यमाश्रित्य तपस्तप्तं श्रोतुमिच्छामि तापस ।
ब्राह्मणो वासि भद्रं ते क्षत्रियो वासि दुर्जयः ।
वैश्यस्तृतीयो वर्णो वा शूद्रो वा सत्यवाग्भव ॥१८॥

तुम जिस उद्देश्य से यह तप कर रहे हो, उसे मैं जानना चाहता हूँ। सचसच बतलाओ कि तुम ब्राह्मण हो या दुर्जेय क्षत्रिय हो या वैश्य हो या शूद्र ? ॥१८॥

इत्येवमुक्तः स नराधिपेन
अवाक्शिरा दाशरथाय तस्मै ।
उवाच जातिं नृपपुङ्गवाय
यत्कारणं चैव तपःप्रयत्नः ॥१६॥

जब महाराज रामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब नीचे को मुख किए तपस्या करनेवाले उस तपस्वी ने, नृपश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से अपनी जाति और तपस्या करने का उद्देश्य बतलाया ॥१६॥

उत्तरकाण्ड का पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

षट्सप्ततितमः सर्गः

—:०:—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
अवाक्शिरास्तथाभूतो वाक्यमेतदुवाच ह ॥१॥

अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन कर, वह तपस्वी नीचे को मुख किए ही बोला ॥१॥

शूद्रयोन्यां प्रजातोऽस्मि तप उग्रं समास्थितः ।
देवत्वं प्रार्थये राम सशरीरो महायशः ॥२॥

हे राम ! मैं शूद्र हूँ । शूद्रकुल में मेरा जन्म हुआ है । मैं इसी शरीर से स्वर्ग जाने की कामना से अथवा दिव्यत्व प्राप्त करने की इच्छा से, ऐसा उग्र तप कर रहा हूँ ॥२॥

न मिथ्याहं वदे राम देवलोकजिगीषया ।
शूद्रं मां विद्धि काकुत्स्थ शम्बूको नाम नामतः ॥३॥

हे प्रभो ! मैं देवलोक जाना चाहता हूँ । अतः झूठ नहीं बोलता । मुझे आप शूद्र जानिए । मेरा नाम शम्बूक है ॥३॥

भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम् ।
निष्कृष्य कोशाद्विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः ॥४॥

उस शूद्र के मुख से यह वचन सुनते ही श्रीरामचन्द्र ने चमचमाती तलवार म्यान से खींच ली और उससे उस शूद्र का सिर काट डाला ॥४॥

तस्मिन् शूद्रे हते देवाः सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ।
साधु साध्विति काकुत्स्थं ते शशंसुर्मुहुर्मुहुः ॥५॥

उसका सिर काटते ही, इन्द्र और अग्नि सहित समस्त देवता "धन्य धन्य" कह कर, श्रीरामचंन्द्र जी की बारबार प्रशंसा करने लगे ॥५॥

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद्दिव्यानां सुसुगन्धिनाम् ।
पुष्पाणां वायुमुक्तानां सर्वतः प्रपपात ह ॥६॥

उसी समय दिव्य सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि हुई। वायु से गिराए हुए फूल चारों ओर बिखर गए ॥६॥

सुप्रीताश्चाब्रुवन् रामं देवाः सत्यपराक्रमम् ।
सुरकार्यमिदं देव सुकृतं ते महामते ॥७॥

सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी से प्रसन्न हो कर, समस्त देवता कहने लगे—हे महामते! तुम ने देवताओं का यह बड़ा भारी काम किया है ॥७॥

गृहाण च वरं सौम्य यं त्वमिच्छस्यरिन्दम ।
स्वर्गभाङ् नहि शूद्रोऽयं त्वत्कृते रघुनन्दन ॥८॥

हे शत्रुतापन सौम्य श्रीरामचन्द्र! तुम्हारी कृपा ही से यह शूद्र जाति का मनुष्य हमारे स्वर्ग में नहीं आने पाया। हे अरि-नन्दन! अतः तुम जो चाहते हो सो हमसे वर माँग लो ॥८॥

देवानां भाषितं श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः ।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं सहस्राक्षं पुरन्दरम् ॥९॥

सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने देवताओं का यह कथन सुन कर, हाथ जोड़ कर, इन्द्र से कहा ॥९॥

यदि देवाः प्रसन्ना मे द्विजपुत्रः स जीवतु ।
दिशन्तु वरमेतं मे ईप्सितं परमं मम ॥१०॥

यदि आप सब देवता मेरे ऊपर प्रसन्न हैं, तो मुझे यही मुँहमाँगा बर दीजिए कि वह ब्राह्मणबालक जी उठे ॥१०॥

ममापचाराद्बालोऽसौ ब्राह्मणस्यैकपुत्रकः ।
अप्राप्तकालः कालेन नीतो वैवस्वतक्षयम् ॥११॥

क्योंकि हे देवगण ! मेरे ही अपचार से उस ब्राह्मण का वह इकलौता पुत्र असमय मरा है ॥११॥

तं जीवयथ भद्रं वो नानृतं कर्तुमर्हथ ।
द्विजस्य संश्रुतोऽर्थो मे जीवयिष्यामि ते सुतम् ॥१२॥

हे देवताओं ! आपका मङ्गल हो। आप उस ब्राह्मणबालक को जिला दें, क्योंकि मैं उससे उस बालक को जीवित कर देने की प्रतिज्ञा करके आया हूँ। मेरी वह प्रतिज्ञा अन्यथा न होनी चाहिए।॥१२॥

राघवस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वा विबुधसत्तमाः ।
प्रत्यूचू राघवं प्रीता देवाः प्रीतिसमन्वितम् ॥१३॥

निर्वृतो भव काकुत्स्थ सोऽस्मिन्नहनि बालकः ।
जीवितं प्राप्तवानभूयः समेतश्चापि बन्धुभिः ॥१४॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह बचन सुन कर, वे देवता प्रीतिपूर्वक उनसे बोले—हे राघव ! अब तुम लौट जाओ। वह बालक तो आज जी उठा और अपने माता पिता से मिल भी चुका ॥१३॥१४॥

यस्मिन् मुहूर्ते काकुत्स्थ शूद्रोऽयं विनिपातितः ।
तस्मिन् मुहूर्ते बालोऽसौ जीवेन समयुज्यत ॥१५॥

हे राम ! जिस समय तुमने इस शूद्र को मारा था, वह बालक तो उसी समय जी उठा था ॥१५॥

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते साधु याम नरर्षभ ।
अगस्त्यस्याश्रमपदं द्रष्टुमिच्छाम राघव ॥१६॥

हे राघव ! आपका मङ्गल हो। अब हम लोग अगस्त्य जी के श्रेष्ठ आश्रम को देखने जाते हैं ॥१६॥

तस्य दीक्षा समाप्ता हि ब्रह्मर्षेः सुमहाद्युते ।
द्वादशं हि गतं वर्षं जलशय्यां समासतः ॥१७॥

क्योंकि उन महातेजस्वी ऋषि की आज उस यज्ञदीक्षा का अन्तिम दिवस है, जिसके कारण वे बारह वर्षों से जल में सोया करते थे ॥१७॥

काकुत्स्थ तद्गमिष्यामो मुनिं समभिनन्दितुम् ।
त्वं चापि गच्छ भद्रं ते द्रष्टुं तमृषिसत्तमम् ॥१८॥

हे राम ! हम लोग वहाँ जा कर, उनका अभिनन्दन करेंगे। तुम्हारा मङ्गल हो। तुम भी उन ऋषिश्रेष्ठ का दर्शन करने को वहाँ चलो ॥१८॥

स तथेति प्रतिज्ञाय देवानां रघुनन्दनः ।
आरुरोह विमानं तं पुष्पकं हेमभूषितम् ॥१६॥

श्रीरामचन्द्र जी देवताओं के वचन सुन और वहाँ जाना स्वीकार कर, स्वर्णभूषित विमान पर सवार हुए ॥१६॥

ततो देवाः प्रयातास्ते विमानैर्बहु विस्तरैः ।
रामोऽप्यनुजगामाशु कुम्भयोनेस्तपोवनम् ॥२०॥

देवता लोग अपने बहुत बड़े बड़े विमनों में बैठ आगे आगे चले और उनके पीछे पीछे (पुष्पक विमान में बैठे) श्रीरामचन्द्र जी अगस्त्य जी के तपोवन को गए ॥२०॥

दृष्ट्वा तु देवान् संप्राप्तानगस्त्यस्तपसां निधिः ।
अर्चयामास धर्मात्मा सर्वांस्तानविशेषतः ॥२१॥

तपस्वी धर्मात्मा अगस्त्य जी ने देवताओं को आया हुआ देख कर, भली भाँति उन सब का पूजन किआ ॥२१॥

प्रतिगृह्य ततः पूजां सम्पूज्य च महामुनिम् ।
जग्मुस्ते त्रिदशा हृष्टा नाकपृष्ठं सहानुगाः ॥२२॥

वे सब देवता अगस्त्य जी की पूजा ग्रहण कर, और स्वयं भी अगस्त्य जी का सन्मान कर, अपने साथियों सहित हर्षित हो, स्वर्ग को सिधारे ॥२२॥

गतेषु तेषु काकुत्स्थः पुष्पकादवरुह्य च ।
ततोऽभिवादयामास अगस्त्यमृषिसत्तमम् ॥२३॥

देवताओं के जाने के उपरान्त श्रीरामचन्द्र जी ने विमान से नीचे उतर ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्य जी को प्रणाम किआ ॥२३॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
आतिथ्यं परमं प्राप्य निषसाद नराधिपः ॥२४॥

श्रीरामचन्द्र जी अग्नि के समान तेजस्वी महात्मा अगस्त्य जी को प्रणाम कर और उनसे आतिथ्य ग्रहण कर, आसन पर विराजे ॥२४॥

तमुवाच महातेजाः कुम्भयोनिर्महातपाः ।
स्वागत ते नरश्रेष्ठ दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव ॥२५॥

महातेजस्वी एवं महातपस्वी अगस्त्य जी श्रीरामचन्द्र जी से बोले—हे राघव ! तुम बहुत अच्छे आए। यह सौभाग्य की बात है जो तुम पधारे ? ॥२५॥

त्वं मे बहुमतो राम गुणैर्बहुभिरुत्तमैः ।
अतिथिः पूजनीयश्च मम राजन् हृदि स्थितः ॥२६॥

हे राम ! तुम अनेक सद्गुणों से सम्पन्न होने के कारण, बहुमान्य हो और मेरे हृदयस्थित होने के कारण, तुम पूज्य अतिथि हो ॥२६॥

सुरा हि कथयन्ति त्वामागतं शूद्रघातिनम् ।
ब्राह्मणस्य तु धर्मेण त्वया जीवापितः सुतः ॥२७॥

देवता मुझे सूचित कर गए थे कि, श्रीरामचन्द्र जी ने शूद्र तपस्वी को मार, ब्राह्मणपुत्र को जीवित कर दिया है। अब तुम्हारे मिलने को (वह) आ रहे हैं ॥२७॥

उष्यतां चेह रजनीं सकाशे मम राघव ।
त्वं हि नारायणः श्रीमांस्त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥२८॥

हे राम ! आज की रात तुम मेरे पास ही रहो। क्योंकि तुम जगदाधार श्रीनारायण हो और तुम्हीं में समस्त संसार टिका हुआ है ॥२८॥

त्वं प्रभुः सर्वदेवानां पुरुषस्त्वं सनातनः ।
प्रभाते पुष्पकेण त्वं गन्ता स्वपुरमेव हि ॥२९॥

तुम समस्त देवताओं के स्वामी और सनातनपुरुष हो। कल सवेरे पुष्पक पर बैठ तुम अपनी पुरी को चले जाना ॥२९॥

इदं चाभरणं सौम्य निर्मितं विश्वकर्मणा ।
दिव्यं दिव्येन वपुषा दीप्यमानं स्वतेजसा ॥३०॥

हे सौम्य ! यह दिव्य आभरण विश्वकर्मा का बनाया हुआ है और यह दिव्य आभूषण दमक रहा है ॥३०॥

प्रतिगृह्णीष्व काकुत्स्थ मत्प्रियं कुरु राघव ।
दत्तस्य हि पुनर्दाने सुमहत्फलमुच्यते ॥३१॥

हे काकुत्स्थ ! इसे ग्रहण कर, तुम मुझे हर्षित करो। पाई हुई वस्तु का फिर दान करने से बड़ा फल होता है ॥३१॥

भरणे हि भवान् शक्तः फलानांमहतामपि ।
त्वं हि शक्तस्तारयितुं सेन्द्रानपि दिवौकसः ॥३२॥

इस गहने को पहिनने योग्य तुम ही हो तुमको तो बड़े बड़े फल देने की शक्ति है। यहाँ तक कि, तुम तो देवताओं सहित इन्द्र को भी तार सकते हो ॥३२॥

तस्मात्प्रदास्ये विधिवत्तत्प्रतीच्छ नराधिप ।
अथोवाच महात्मानमिक्ष्वाकूणां महारथः ॥३३॥

हे नराधिप ! मैं यह आभूषण तुमको विधिवत् दे रहा हूँ। तुम इसे ले लो। यह वचन सुन, महारथी इक्ष्वाकुनन्दन अगस्त्य जी से बोले ॥३३॥

[टिप्पणी—इस अध्याय में इसके आगे के श्लोक प्रक्षिप्त हैं]

रामोमतिमतां श्रेष्ठः क्षत्रधर्म मनुस्मरन् ।
प्रतिग्रहोयं भगवन् ब्राह्मणस्य विगर्हितः ॥१॥

बुद्धिमानों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी क्षात्रधर्म का विचार कर बोले—महाराज! (क्षत्रिय के लिए तो) ब्राह्मण की वस्तु का दान लेना बड़ा दोषावह कार्य है ॥१॥

क्षत्रियेण कथं विप्र प्रतिग्राह्यं भवेत्ततः ।
प्रतिग्रहो हि विप्रेन्द्र क्षत्रियाणां सुगर्हितः ॥२॥

क्षत्रिय, भला ब्राह्मण से किसी भी वस्तु का दान कैसे ले सकता है। हे विप्रेन्द्र! क्षत्रिय के लिए तो किसी से भी दान लेना बड़ा ही गर्हित कर्म है ॥२॥

ब्राह्मणेन विशेषेण दत्तं तद्वक्तुमर्हसि ।
एवमुक्तस्तु रामेण प्रत्युवाच महानृषिः ॥३॥

फिर विशेष कर ब्राह्मण से दान कैसे लिया जाय? सो तो तुम बताओ। श्रीरामचन्द्र जी के ऐसा कहने पर, अगस्त्य जी बोले ॥३॥

आसन्कृत युगे राम ब्रह्मभूते पुरायुगे ।
अपार्थिवाः प्रजाः सर्वाः सुराणां तु शतक्रतुः ॥४॥

हे राजन्! सुनिए। पहिले सत्युग था। उसे साक्षात् ब्रह्मयुग कहते हैं। उस युग में मानवी प्रजा बिना राजा के थी। हाँ, देवताओं के राजा इन्द्र (उस समय भी) थे ॥४॥

ताः प्रजा देवदेवेशं राजार्थं समुपाद्रवन् ।
सुराणां स्थापितो राजा त्वया देव शतक्रतुः ॥५॥

उस समय प्रजाजन देवों के देव ब्रह्मा जी के पास गए और किसी को राजा बनाने के लिए उनसे प्रार्थना की। प्रजाजनों

ने कहा—हे भगवन्! तुमने देवताओं के राजा इन्द्र तो बना दिए ॥५॥

प्रयच्छास्मासु लोकेश पार्थिवं नरपुङ्गवम्।
यस्मै पूजां प्रयुञ्जाना धूतपापाश्चरेमहि ॥६॥

हे लोकेश! अतएव हम लोगों के लिए भी कोई राजा बना दो, जिसकी आज्ञा का पालन करते हुए, हम लोग पापरहित हो, रहें ॥६॥

न वसामो विना राज्ञा एष नो निश्चयः परः।
ततो ब्रह्मा सुरश्रेष्ठो लोकपालान् सवासवान् ॥७॥

हम लोगों का यह पक्का निश्चय है कि, हम लोग बिना राजा के नहीं रह सकते। इस पर सुरश्रेष्ठ ब्रह्मा जी ने इन्द्रादि लोकपालों को ॥७॥

समाहूयाब्रवीत् सर्वांस्तेजोभागान् प्रयच्छत।
ततो ददुर्लोकपालाः सर्वे भागान् स्वतेजसः ॥८॥

बुला कर, उन सब से कहा—'तुम लोग अपने अपने तेज में से कुछ कुछ अंश दो। तब सब लोकपालों ने अपने अपने तेज (शक्ति) से कुछ कुछ अंश दिआ ॥८॥

अक्षुपच्च ततो ब्रह्मा यतो जातः क्षुपो नृपः।
तं ब्रह्मा लोकपालानां समांशैः समयोजयत् ॥९॥

तब ब्रह्मा जी ने एक बार उससे एक पुरुष उत्पन्न किआ। उसका नाम क्षुप रखा गया। ब्रह्मा जी ने उसे, लोकपालों के तेज के अंशों से युक्त कर दिआ ॥९॥

ततो ददौ नृपं तासां प्रजानामीश्वरं क्षुपम् ।
तत्रैन्द्रेण च भागेन महीमाज्ञापयन् नृपः ॥१०॥

अनन्तर उस क्षुप राजा को ब्रह्मा जी ने प्रजा का आधिपत्य दिया। इसीसे इन्द्र के अंश से राजा पृथिवी का राज्य करता है ॥१०॥

वारुणेन तु भागेन वपुः पुष्यति पार्थिवः ।
कौबेरेण तु भागेन वित्तपाभां ददौ तदा ॥११॥

वरुण के अंश से राजा अपने शरीर को पुष्ट करता है, कुबेर के भाग से प्रजा को राजा धन देता है ॥११॥

यस्तु याम्योऽभवद्भागस्तेन शास्ति स्म स प्रजाः ।
तत्रैन्द्रेण नरश्रेष्ठ भागेन रघुनन्दन ॥१२॥

यम के अंश से राजा, प्रजा का शासन करता है। अतएव हे नरश्रेष्ठ श्रीराम ! इन्द्र के अंश से (अर्थात् पृथिवी के शासक होने के कारण राजा प्रजा वर्ग की दी हुई वस्तु ग्रहण करता है ॥१२॥

प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते तारणार्थं मम प्रभो ।
तद्रामः प्रतिजग्राह मुनेस्तस्य महात्मनः ॥१३॥

अतः हे प्रभो ! मुझे तारने के लिए तुम इस आभूषण को ग्रहण करो। तुम्हारा मङ्गल हो, (इस युक्तियुक्त सप्रमाण कथन को सुन) श्रीरामचन्द्र जी ने महर्षि अगस्त्य जी का दिया हुआ कङ्कण ले लिया ॥१३॥

दिव्यमाभरणं चित्रंप्रदीप्तमिव भास्करम् ।
प्रतिगृह्य ततो रामस्तदाभरणमुत्तमम् ॥१४॥

वह (जड़ी हुई मणियों के कारण) रंग बिरङ्गा उत्तम आभरण सूर्य की तरह दमक रहा था। श्रीरामचन्द्र जी ने उसे ले लिया ॥१४॥

[टिप्पणी—प्रक्षिप्त चौदह श्लोक यहाँ समाप्त हुए।]

आगमं तस्य दीप्तस्य प्रष्टुमेवोपचक्रमे ।
अत्यद्भुतमिदं दिव्यं वपुषा युक्तमद्भुतम् ॥३४॥

फिर उन्होंने अगस्त्य जी से पूँछा कि—हे भगवन्! यह दिव्य दमकता हुआ और बड़ा अद्भुत गहना ॥३४॥

कथं भगवता प्राप्तं कुतो वा केन वा हृतम् ।
कौतूहलतया ब्रह्मन् पृच्छामि त्वां महायशः ॥३५॥

हे ब्रह्मन्! यह तुम को कैसे और कहाँ मिला? यह तुम को किसने ला कर दिआ? हे महायशस्वी भगवन्! मैं यह सब (केवल) कौतूहलवश तुमसे पूँछता हूँ। (मैं इसे चोरी का माल समझ अनुसन्धान नहीं कर रहा हूँ) ॥३५॥

आश्चर्याणां बहूनां हि निधिः परमको भवान् ।
एवं ब्रुवति काकुत्स्थे मुनिर्वाक्यमथाब्रवीत् ।
शृणु राम यथावृत्तं पुरा त्रेतायुगे युगे ॥३६॥

इति षट्सप्ततितमः सर्गः ॥

क्योंकि आप तो आश्चर्यप्रद वस्तुओं के सागर हैं। श्रीरामचन्द्र जी के यह कहने पर, अगस्त्य जी कहने लगे—हे राजन्! अच्छा, तो अब आप त्रेतायुग का (एक) वृत्तान्त सुनिए ॥३६॥

उत्तरकाण्ड का छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

सप्तसप्ततितमः सर्गः

—:o:—

पुरा त्रेतायुगे राम बभूव बहुविस्तरम् ।
समन्ताद्योजनशतं विमृगं पक्षिवर्जितम् ॥१॥

हे श्रीरामचन्द्र ! पूर्वकाल में त्रेतायुग में यहाँ एक बहुत बड़ा वन था, जिसका विस्तार सौ योजन का था और जिसमें न तो कोई पक्षी रहता था और न कोई अन्य जंगली पशु ही ॥१॥

तस्मिन् निर्मानुषेऽरण्ये कुर्वाणस्तप उत्तमम् ।
अहमाक्रमितुं सौम्य तदारण्यमुपागमम् ॥२॥

हे सौम्य ! मैं घूमता फिरता इसी निर्जन वन में तप करने को आया ॥२॥

तस्य रूपमरण्यस्य निर्देष्टुं न शशाक ह ।
फलमूलैः सुखास्वादैर्बहुरूपैश्च काननैः ॥३॥

मैंने चाहा कि, उस वन का आदि अन्त (लंबाई चौड़ाई) का हाल जानूँ, परन्तु मुझे पता न चल सका। हे राघव ! उस वन में फल और मूल बड़े स्वादिष्ट थे और अनेक प्रकार के (वृक्षों के समूह) वन देख पड़ते थे ॥३॥

तस्यारण्यस्य मध्ये तु सरो योजनमायतम् ।
हंसकारण्डवाकीर्णं चक्रवाकोपशोभितम् ॥४॥

उस वन के बीच एक बड़ा रमणीय तालाब या झील थी, जिसका विस्तार चार कोस का था। तालाब हंसों चक्रवाकों और कारण्डव पक्षियों से सुशोभित था ॥४॥

पद्मोत्पलसमाकीर्णं समतिक्रान्तशैवलम् ।
तदाश्चर्यमिवात्यर्थं सुखास्वादमनुत्तमम् ॥५॥

उसमें कमल और कुमुद के फूल खिले हुए थे और सिवार (जल में उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की घास, जिससे खँड़सारों में चीनी साफ की जाती है) दिखाई भी न पड़ता था। उसमें विलक्षणता एक यह भी थी कि, उसका जल बड़ा स्वादिष्ट था ॥५॥

अरजस्कं तदक्षोभ्यं श्रीमत्पक्षिगणायुतम् ।
तस्मिन् सरः समीपे तु महदद्भुतमाश्रमम् ॥६॥

उस तालाब के तट के समीप धूल गर्दा से रहित, पक्षियों से शोभित और कोलाहल रहित (शान्त) एक बड़ा अद्‌भुत आश्रम था ॥६॥

पुराणं पुण्यमत्यर्थं तपस्विजनवर्जितम् ।
तत्राहमवसं रात्रिं नैदाघीं पुरुषर्षभ ॥७॥

वह आश्रम बड़ा पुराना और पवित्र था, परन्तु उसमें एक भी तपस्वी नहीं देख पड़ता था। हे श्रीरामचन्द्र! गरमी के दिनों में, मैं एक रात उसीमें टिका रहा ॥७॥

प्रभाते काल्यमुत्थाय सरस्तदुपचक्रमे ।
अथापश्यं शवं तत्र सुपुष्टमरजः क्वचित् ॥८॥

जब मैं प्रातःकाल उठ कर, उस सरोवर के तट पर (स्नानादिक करने को) गया; तब मैंने एक बड़ा मोटाताजा और साफ सुथरा मुर्दा पड़ा देखा ॥८॥

तिष्ठन्तं परया लक्ष्म्या तस्मिंस्तोयाशये नृप ।
तमर्थं चिन्तयानोऽहं मुहूर्तं तत्र राघव ॥९॥

विष्ठितोऽस्मि सरस्तीरे किं न्विदं स्यादिति प्रभो ।
अथापश्यं मुहुर्तात्तु दिव्यमद्भुतदर्शनम् ॥१०॥

हे श्रीरामचन्द्र ! वह मुर्दा उस सरोवर का शोभा रूप जान पड़ता था। थोड़ी देर तक तो मैं यह सोचता रहा कि, यह है क्या ? मैं उस स्थान में बैठा एक मुहूर्त्त तक सोच ही रहा था कि, इतने में मैंने एक और आश्चर्यप्रद चमत्कार देखा ॥९॥१०॥

विमानं परमोदारं हंसयुक्तं मनोजवम् ।
अत्यर्थं स्वर्गिणं तत्र विमाने रघुनन्दन ॥११॥

हे राम ! उस जगह मन के वेग की तरह शीघ्रगामी, हंसों से युक्त एक अत्यन्तोत्तम विमान उतरा। उस विमान में अत्यन्त रूपवान एक स्वर्गीय मनुष्य देख पड़ा ॥११॥

उपास्तेऽप्सरसां वीर सहस्रं दिव्यभूषणम् ।
गायन्ति काश्चिद्रम्याणि वादयन्ति यथापराः ॥१२॥

मृदङ्गवीणापणवान्नृत्यन्ति च तथापराः ।
अपराश्चन्द्ररश्म्याभैर्हेमदण्डैर्महाधनैः ॥१३॥

दोधूयुर्वदनं तस्य पुण्डरीकनिभेक्षणाः ।
ततः सिंहासनं हित्वा मेरुकूटमिवांशुमान् ॥१४॥

उसके साथ (उस विमान में) हजारों अप्सराएँ थीं, जो अच्छे अच्छे आभूषण पहिने हुए थीं। उनमें से कोई गाती थी,

कोई मृदङ्ग बीणा बजा रही थी, कोई ढोलक बजा रही थी। उनमें से बहुत सी नाच रहीं थीं और कोई कोई चन्द्रमा के समान सफेद और सोने की डंडी वाले बहुमूल्यवान चमर, उस विमान में बैठे हुए कमलनयन स्वर्गवासी के ऊपर डुला रही थीं। फिर जिस प्रकार सूर्य भगवान् सुमेरु से उतरते हैं, उसी प्रकार वह स्वर्गीय जन उस विमान से उतरा ॥१२॥१३॥१४॥

पश्यतो मे तदा राम विमानादवरुह्य च ।
तं शवं भक्षयामास स स्वर्गी रघुनन्दन ॥१५॥

हे राम ! अब मेरी दृष्टि उसीकी ओर लगी हुई थी (और मैं देख रहा था कि, वह क्या करता है) मेरे देखते देखते उसने उतर कर उस मुर्दे के शरीर का माँस खाया ॥१५॥

ततो भुक्त्वा यथाकामं मांसं बहु सुपीवरम् ।
अवतीर्य सरः स्वर्गी संप्रष्टुमुपचक्रमे ॥१६॥

उस मुर्दे के शरीर का सुपुष्ट माँस भर पेट खा चुकने बाद उस स्वर्गीयजन ने तालाब में हाथ मुँह धोया ॥१६॥

उपस्पृश्य यथान्यायं स स्वर्गी रघुनन्दन ।
आरोढुमुपचक्राम विमानवरमुत्तमम् ॥१७॥

वह स्वर्गीयजन हाथ मुँह धो, पुनः उस उत्तम विमान पर सवार होने लगा ॥१७॥

तमहं देवसङ्काशमारोहन्तमुदीक्ष्य वै ।
अथाहमब्रुवं वाक्यं तमेव पुरुषर्षभ ॥१८॥

हे राम! उस समय मुझसे न रहा गया। उस देवता के समान पुरुष को विमान पर चढ़ते देख, हे पुरुषश्रेष्ठ! मैंने उससे पूँछा ॥१८॥

को भवान् देवसङ्काश आहारश्च विगर्हितः।
त्वयेदं भुज्यते सौम्य किमर्थं वक्तुमर्हसि ॥१९॥

आप कौन हैं? देवता के समान रंग रूप पा कर भी आप ऐसा निन्दित भोजन क्यों करते हैं? आप इसे क्यों खाते हैं? मुझे सारा वृत्तान्त सुनाइए ॥१९॥

कस्य स्यादीदृशो भाव आहारो देवसम्मत।
आश्चर्यं वर्तते सौम्य श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
नाहमौपयिकं मन्ये तव भक्ष्यमिमं शवम् ॥२०॥

हे सौम्य! ऐसा कोई न होगा; जो ऐसा श्रेष्ठ शरीर पा कर ऐसा (घिनौना) भोजन करे। तुम्हारा इस मुर्दे को खाना मुझे उचित नहीं जान पड़ता। मुझे तो इससे बड़ा बिस्मय हो रहा है। सो तुम इसका सब ठीक ठीक वृत्तान्त मुझसे कहो ॥२०॥

इत्येवमुक्तः स नरेन्द्रनाकी
कौतूहलात् सूनृतया गिरा च।
श्रुत्वा च वाक्यं मम सर्वमेतत्
सर्वं तथा चाकथयन् ममेति ॥२१॥

इति सप्तसप्ततितमः सर्गः॥

हे राम! जब मैंने उससे ऐसा कहा; तब वह स्वर्गीयजन मेरे वचन सुन, कौतूहलवश, सत्य और मृदुवाणी से अपना सब वृत्तान्त मुझसे कहने लगा ॥२१॥

उत्तरकाण्ड का सतहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:o:—

अष्टसप्ततितमः सर्गः

—:o:—

श्रुत्वा तु भाषितं वाक्यं मम राम शुभाक्षरम्।
प्राञ्जलिः प्रत्युवाचेदं स स्वर्गी रघुनन्दन ॥१॥

हे रघुपते! शुभाक्षरों से युक्त मेरे वचन सुन कर, वह स्वर्गीय-जन हाथ जोड़ कर मुझसे कहने लगा ॥१॥

शृणु ब्रह्मन् पुरा वृत्तं ममैतत्सुखदुःखयोः।
अनतिक्रमणीयं च यथा पृच्छसि मां द्विज ॥२॥

हे भगवन्! मेरे सुख दुःख का पुराना वृत्तान्त यदि आप सुनना ही चाहते हैं, तो अच्छा सुनिए। मेरे लिए यह बन्धन अनिवार्य है ॥२॥

पुरा वैदर्भको राजा पिता मम महायशाः।
सुदेव इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ॥३॥

पूर्वकाल में सुदेव नाम के एक राजा हो गए हैं, जो तीनों लोकों में एक प्रसिद्ध बलवान् राजा समझे जाते थे और विदर्भ देश में राज्य करते थे। वे ही मेरे पिता थे ॥३॥

तस्य पुत्रद्वयं ब्रह्मन् द्वाभ्यां स्त्रीभ्यामजायत ।
अहं श्वेत इति ख्यातो यवीयान् सुरथोऽभवत् ॥४॥

हे ब्रह्मन् ! उनकी दो रानियों से दो पुत्र उत्पन्न हुए। एक तो मैं ही "श्वेत" हूँ; दूसरा मेरा छोटा भाई था, जिसका नाम सुरथ था ॥४॥

ततः पितरि स्वर्याते पौरा मामभ्यषेचयन् ।
तत्राहं कृतवान् राज्यं धर्म्यं च सुसमाहितः ॥५॥

जिस समय पिता जी स्वर्ग सिधारे, उस समय नगरवासियों ने मुझे राजा बनाया। मैं बड़ी सावधानी से धर्मपूर्वक राज्य करने लगा ॥५॥

एवं वर्षसहस्राणि समतीतानि सुव्रत ।
राज्यं कारयतो ब्रह्मन् प्रजा धर्मेण रक्षतः ॥६॥

हे ब्रह्मन् ! हे सुव्रत ! इस प्रकार राज्य करते हुए और धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते हुए, मुझे एक हजार वर्ष बीत गए ॥६॥

सोऽहं निमित्ते कस्मिंश्चिद्विज्ञातायुर्द्विजोत्तम ।
कालधर्मं हृदि न्यस्य ततो वनमुपागमम् ॥७॥

हे द्विजोत्तम ! किसी उपाय से अपनी आयु की अवधि जान और प्रत्येक शरीरधारी मरणशील है, इस बात को विचार, मैं वन में चला आया ॥७॥

सोऽहं वनमिदं दुर्गं मृगपक्षिविवर्जितम् ।
तपश्चर्तुं प्रविष्टोऽस्मि समीपे सरसः शुभे ॥८॥

इस पशुपक्षीरहित निर्जन वन में आ, मैं इस शुभ सरोवर के समीप तप करने लगा ॥८॥

भ्रातरं सुरथं राज्ये अभिषिच्य महीपतिम् ।
इदं सरः समासाद्य तपस्तप्तं मया चिरम् ॥९॥

अपने भाई सुरथ को राजगद्दी पर बिठा, मैंने इस सरोवर के निकट बहुत दिनों तक तप किया ॥९॥

सोऽहं वर्षसहस्राणि तपस्त्रीणि महावने ।
तप्त्वा सुदुष्करं प्राप्तो ब्रह्मलोकमनुत्तमम् ॥१०॥

यहाँ तक कि, तीन हजार वर्षों तक दुष्कर तप कर, मैं परमश्रेष्ठ ब्रह्मलोक में पहुँचा ॥१०॥

तस्येमे स्वर्गभूतस्य क्षुत्पिपासे द्विजोत्तम ।
बाधेते परमे वीर ततोऽहं व्यथितेन्द्रियः ॥११॥

हे द्विजोत्तम ! स्वर्गलोक में पहुँच कर भी मैं भूख और प्यास से सन्तप्त हो विकल हो गया, सारा शरीर शिथिल पड़ गया ॥११॥

गत्वा त्रिभुवनश्रेष्ठं पितामहमुवाच ह ।
भगवन् ब्रह्मलोकोऽयं क्षुत्पिपासाविवर्जितः ॥१२॥

तब मैं त्रिभुवन में श्रेष्ठ ब्रह्मा जी के निकट जा बोला—हे ब्रह्मन् ! इस लोक में तो भूख प्यास न लगनी चाहिए ॥१२॥

कस्यायं कर्मणः पाकः क्षुत्पिपासानुगो ह्यहम् ।
आहारः कश्च मे देव तत् मे ब्रूहि पितामह ॥१३॥

फिर यह मेरे किन कर्मों का फल है जो मैं मारे भूख प्यास के विकल हूँ। हे पितामह ! मुझे बतलाइए कि, मैं यहाँ क्या भोजन करूँ ॥१३॥

पितामहस्तु मामाह तवाहारः सुदेवज ।
स्वादूनि स्वानि मांसानि तानि भक्षय नित्यशः ॥१४॥

मेरी यह बात सुन कर ब्रह्मा जी बोले—हे सुदेवनन्दन ! तुम्हारे लिए तुम्हारा ही स्वादिष्ट सुन्दर मांस है, उसी को नित्य खाया करो ॥१४॥

स्वशरीरं ष्टं कुर्वता तप उत्तमम् ।
अनुप्तं रोहते श्वेत न कदाचिन् महामते ॥१५॥
दत्तं न तेऽस्ति सूक्ष्मोऽपि तप एव निषेवसे ।
तेन स्वर्गगतो वत्स बाध्यसे क्षुत्पिपासया ॥१६॥

हे श्वेत ! तुमने तप करते समय अपने शरीर ही को पुष्ट किया था। इससे तुम निश्चय समझो कि, बिना बोये फल कभी नहीं मिलता। तुमने कभी जरा सा भी दान नहीं किया। तुम केवल तप ही करते रहे हो। इसीलिए स्वर्ग में पहुँच कर भी तुम्हें भूख प्यास सता रही है ॥ १५॥१६॥

स त्वं सुपुष्टमाहारैः स्वशरीरमनुत्तमम् ।
भक्षयित्वामृतरसं तेन तृप्तिर्भविष्यति ॥१७॥

तुमने अपने खा खा कर जिस शरीर को तृप्त किया था और मोटा ताज़ा बनाया था, अब उसी को अमृत रस के तुल्य खाया करो। ऐसा करने से तुम्हारी भूख मिट जाया करेगी ॥१७॥

यदा तु तद्वनं श्वेत अगस्त्यः स महानृषिः ।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा कृच्छ्राद्विमोक्ष्यते ॥१८॥

हे श्वेत ! जब उस वन में दुर्धर्ष भगवान् अगस्त्य जी आवेंगे तब तुम इस कष्ट से छूटोगे ॥१८॥

स हि तारयितुं सौम्य शक्तः सुरगणानपि ।
किं पुनस्त्वां महाबाहो क्षुत्पिपासावशंगतम् ॥१९॥

हे सौम्य ! वे तो देवताओं को भी तारने में समर्थ हैं । तुम्हारी तो बात ही क्या है । तुम तो केवल भूख प्यास ही से पीड़ित हो ॥१९॥

सोऽहं भगवतः श्रुत्वा देवदेवस्य निश्चयम् ।
आहारं गर्हितं कुर्मि स्वशरीरं द्विजोत्तम ॥२०॥

हे द्विजोत्तम ! इस प्रकार देवदेव ब्रह्मा जी के वचन सुन कर मैं अपने इस शरीर का नित्य गर्हित भोजन करता हूँ ॥२०॥

बहून् वर्षगणान् ब्रह्मन् भुज्यमानमिदं मया ।
क्षयं नाभ्येति ब्रह्मर्षे तृप्तिश्चापि ममोत्तमा ।२१॥

हे ब्रह्मन् ! इसे खाते खाते मुझे बहुत वर्ष बीत गए । न तो मेरा यह मुर्दा शरीर ही क्षय होता है और न मुझे तृप्ति ही होती है ॥२१॥

तस्य मे कृच्छ्रभूतस्य कृच्छ्रादस्माद्विमोक्षय ।
अन्येषां न गतिर्ह्यत्र कुम्भयोनिमृते द्विजम् ॥२२॥

हे भगवन् ! आप मुझ अति दुखियारे को इस महाक्लेश से छुड़ाइए। क्योंकि अगस्त्य जी को छोड़ और कोई मुझे इस क्लेश से मुक्त नहीं कर सकता ॥२२॥

इदमाभरणं सौम्य धारणार्थं द्विजोत्तम।
प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥२३॥

हे सौम्य हे द्विजोत्तम ! यह एक सुवर्ण का भूषण मैं तुम्हारे पहिनने के लिए देता हूँ। इसे लो और मेरे ऊपर कृपा करो तुम्हारा। मङ्गल हो ॥२३॥

इदं तावत्सुवर्णं च धनं वस्त्राणि च द्विज।
भक्ष्यं भोज्यं च ब्रह्मर्षे ददाम्याभरणानि च ॥२४॥
सर्वान् कामान् प्रयच्छामि भोगांश्च मुनिपुङ्गव।
तारणे भगवन् मह्यं प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥२५॥

हे ब्रह्मर्षे ! यह सोने का गहना, अच्छे अच्छे वस्त्र, भक्ष्य, भोज्य, आभरण एवं समस्त काम्य एवं उपभोग्य पदार्थ मैं दान करता हूँ; इन्हें कृपया तुम ले लो और हे मुनिश्रेष्ठ ! अब तुम मुझे तारने की कृपा करो ॥२४॥२५॥

तस्याहं स्वर्गिणो वाक्यं श्रुत्वा दुःखसमन्वितम्।
तारणायोपजग्राह तदाभरणमुत्तमम् ॥२६॥

हे राम ! तब उस स्वर्गीय मनुष्य की इन दुःखभरी बातों को सुन, उसके तारने के लिए मैंने उसके दिए हुए (कपड़े और) उत्तम आभूषण ले लिए ॥२६॥

मया प्रतिगृहीते तु तस्मिन्नाभरणे शुभे।
मानुषः पूर्वको देहो राजर्षेर्विननाश ह ॥२७॥

हे राजर्षे! ज्योंही मैंने वह कंकण ग्रहण किआ, त्यों ही उसका पूर्वजन्म का मृत शरीर नष्ट हो गया ॥२७॥

प्रनष्टे तु शरीरेऽसौ राजर्षिः परया मुदा ।
तृप्तः प्रमुदितो राजा जगाम त्रिदिवं सुखम् ॥२८॥

उस शरीर के नष्ट होते ही, वह राजर्षि तृप्त हो गया और प्रसन्न होता हुआ स्वर्ग को चला गया ॥२८॥

तेनेदं शक्रतुल्येन दिव्यमाभरणं मम ।
तस्मिन्निमित्ते काकुत्स्थ दत्तमद्भुतदर्शनम् ॥२९॥

इति अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥

हे राम! चन्द्रमा के समान दमकवाला यह अद्भुत आभूषण उस स्वर्गीयजन ने अपने उद्धार के लिए मुझे दिआ था ॥२९॥

उत्तरकाण्ड का अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

एकोनाशीतितमः सर्गः

—:०:—

तदद्भुततमं वाक्यं श्रुत्वागस्त्यस्य राघवः ।
गौरवाद्विस्मयाच्चैव भूयः प्रष्टुं प्रचक्रमे ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी अगस्त्य जी के ऐसे अत्यन्त अद्भुत वचन सुन कर, गौरव और विस्मय की प्रेरणा से पुनः पूँछने लगे ॥१॥

भगवन् स्तद्वनं घोरं तपस्तप्यति यत्र सः ।
श्वेतो वैदर्भको राजा कथं तदमृगद्विजम् ॥२॥

हे भगवन्! जिस वन में विदर्भदेशाधिपति श्वेत तप करता था, वह घोर वन किस लिए पशुपक्षीहीन हुआ? ॥२॥

तद्वनं स कथं राजा शून्यं मनुजवर्जितम्।
तपश्चर्तुं प्रविष्टः स श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥३॥

उस पशुपक्षीहीन एवं मनुष्यवर्जित वन में, वह राजा तप करने क्यों आया था? यह ठीक ठीक जानने की मेरी इच्छा है ॥३॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितम्।
वाक्यं परमतेजस्वी वक्तुमेवोपचक्रमे ॥४॥

परम तेजस्वी अगस्त्य जी, श्रीरामचन्द्र जी के कौतूहलपूर्ण वचनों को सुन, कहने लगे ॥४॥

पुरा कृतयुगे राम मनुर्दण्डधरः प्रभुः।
तस्य पुत्रो महानासीदिक्ष्वाकुः कुलनन्दनः ॥५॥

हे राम! पूर्वकाल में सतयुग में महाराज मनु इस पृथिवी-मण्डल पर राज्य करते थे। वंश के बढ़ाने वाले एवं प्रसिद्ध उनके पुत्र इक्ष्वाकु हुए ॥५॥

तं पुत्रं पूर्वकं राज्ये निक्षिप्य भुवि दुर्जयम्।
पृथिव्यां राजवंशानां भव कर्तेत्युवाच तम् ॥६॥

महाराज मनु ने अपने दुर्जेय पुत्र महाराज इक्ष्वाकु को राज-सिंहासन पर बिठा कर, उनसे कहा—तुम राजा होकर, इस पृथिवी पर राजवंशों की प्रतिष्ठा करो ॥६॥

तथैव च प्रतिज्ञातं पितुः पुत्रेण राघव।
ततः परमसन्तुष्टो मनुः पुत्रमुवाच ह ॥७॥

हे श्रीरामचन्द्र ! जब महाराज इक्ष्वाकु ने अपने पिता का यह कहना मान लिया; तब महाराज मनु बहुत सन्तुष्ट हो कर पुत्र से बोले ॥७॥

प्रीतोऽस्मि परमोदार कर्ता चासि न संशयः ।
दण्डेन च प्रजा रक्ष मा च दण्डमकारणे ॥८॥

हे परमोदार पुत्र ! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। तुम वंशकर्त्ता होगे। तुम दण्ड द्वारा प्रजा की रक्षा करना, परन्तु किसी निरपराध को दण्ड मत देना ॥८॥

अपराधिषु यो दण्डः पात्यते मानवेषु वै ।
स दण्डो विधिवन्मुक्तः स्वर्गं नयति पार्थिवम् ॥९॥

अपराधी को जो यथोचित दण्ड दिया जाता है, वही राजा को स्वर्ग ले जाता है ॥९॥

तस्माद्दण्डे महाबाहो यत्नवान् भव पुत्रक ।
धर्मो हि परमो लोके कुर्वतस्ते भविष्यति ॥१०॥

अतएव हे महाबाहो ! हे बेटा ! दण्ड देने में तुम बहुत सावधान रहना। शासन करते समय यथोचित रीत्या बड़े पुण्य की प्राप्ति होगी ॥१०॥

इति तं बहु सन्दिश्य मनुः पुत्रं समाधिना ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टो ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥११॥

इस प्रकार अपने पुत्र को भली भाँति समझा बुझा कर, महाराज मनु समाधि द्वारा सनातन ब्रह्मलोक को चले गए ॥११॥

प्रयाते त्रिदिवे तस्मिन्निक्ष्वाकुरमितप्रभः ।
जनयिष्ये कथं पुत्रानिति चिन्तापरोऽभवत् ॥१२॥

उनके स्वर्गवासी होने पर, महापराक्रमी इक्ष्वाकु को यह चिंता हुई कि, मैं कैसे उत्पन्न करूँ ॥१२॥

कर्मभिर्बहुरूपैश्च तैस्तैर्मनुसुतस्तदा ।
जनयामास धर्मात्मा शतं देवसुतोपमान् ॥१३॥

फिर विविध प्रकार के यज्ञ और तप कर तथा दान दे, महाराज इक्ष्वाकु ने देवपुत्रों के समान सौ पुत्र उत्पन्न किए ॥१३॥

तेषामवरजस्तात सर्वेषां रघुनन्दन ।
मूढश्चाकृतविद्यश्च न शुश्रूषति पूर्वजान् ॥१४॥

हे राम ! उनमें जो सब से छोटा था, वह बड़ा मूर्ख और विद्याहीन था। वह अपने बड़ों की सेवा शुश्रूषा नहीं करता था ॥१४॥

नाम तस्य च दण्डेति पिता चक्रेऽल्पतेजसः ।
अवश्यं दण्डपतनं शरीरेऽस्य भविष्यति ॥१५॥

उस अल्पतेजस्वी पुत्र का नाम महाराज इक्ष्वाकु ने दण्ड रखा। यह नाम इस लिए रखा कि, उन्होंने समझ लिया कि, इस मूर्ख पर दण्डपात (इसकी मूर्खतावश) अवश्य होगा ॥१५॥

अपश्यमानस्तं देशं घोरं पुत्रस्य राघव ।
विन्ध्यशैवलयोर्मध्ये राज्यं प्रादादरिन्दम ॥१६॥

हे शत्रुसूदन ! हे राम ! जैसा दण्ड उद्दण्ड पुत्र था, वैसा ही इसके योग्य इक्ष्वाकु ने विन्ध्याचल और शैवल पर्वत के बीच के देश का अति घोर राज्य इसको दिआ ॥१६॥

स दण्डस्तत्र राजाभूद्रम्ये पर्वतरोधसि ।
पुरं चाप्रतिमं राम न्यवेशयदनुत्तमम् ॥१७॥

उन रम्य पर्वतों के बीच वाले देश का दण्ड राजा हुआ । हे राम ! वहाँ उसने एक बहुत उत्तम नगर भी बसाया ॥१७॥

पुरस्य चाकरोन्नाम मधुमन्तमिति प्रभो ।
पुरोहितं तूशनसं वरयामास सुव्रतम् ॥१८॥

हे राम ! उस पुर का नाम मधुमन्त रक्खा और उसने सुव्रत शुक्राचार्य को अपना पुरोहित बनाया ॥१८॥

एवं स राजा तद्राज्यमकरोत्सपुरोहितः ।
प्रहृष्टमनुजाकीर्णं देवराजो यथा दिवि ॥१९॥

राजा दण्ड अपने पुरोहित के साथ उस प्रसन्न प्रजाजनों से भरे पूरे देश का राज्य, वैसे ही करने लगा; जैसे इन्द्र देवलोक में राज्य करते हैं ॥१९॥

ततः स राजा मनुजेन्द्रपुत्रः
सार्धं च तेनोशनसा तदानीम् ।
चकार राज्यं सुमहान् महात्मा
शक्रो दिवीवोशनसा समेतः ॥२०॥

इति एकोनाशीतितमः सर्गः ॥

उस समय महाराज इक्ष्वाकु के पुत्र महात्मा दण्ड, शुक्राचार्य के साथ अपने विशाल राज्य का यथाविधि शासन वैसे ही करने लगे; जैसे इन्द्र स्वर्ग का करते हैं ॥२०॥

उत्तरकाण्ड का उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

अशीतितमः सर्गः

—:o:—

एतदाख्याय रामाय महर्षिः कुम्भसम्भवः।
अस्यामेवापरं वाक्यं कथायामुपचक्रमे ॥१॥

कुम्भयोनि महर्षि अगस्त्य जी श्रीरामचन्द्र जी से इस प्रकार कह कर, इसी कथा के आगे का वृत्तान्त कहने लगे ॥१॥

ततः स दण्डः काकुत्स्थ बहुवर्षगणायुतम्।
अकरोत्तत्र दान्तात्मा राज्यं निहतकण्टकम् ॥२॥

वे बोले—हे राम! इस प्रकार वह राजा दंड बहुत वर्षों तक जितेन्द्रिय होकर निष्कण्टक राज्य करता रहा ॥२॥

अथ काले तु कस्मिंश्चिद्राजा भार्गवमाश्रमम्।
रमणीयमुपाक्रामच्चैत्रे मासि मनोरमे ॥३॥

एक दिन चैत के मनोरम महीने में राजा दंड शुक्राचार्य के रमणीक आश्रम में गया ॥३॥

तत्र भार्गवकन्यां स रूपेणाप्रतिमां भुवि।
विचरन्तीं वनोद्देशे दण्डोऽपश्यदनुत्तमाम् ॥४॥

और वहाँ उसने विहार करती हुई परम सुन्दरी शुक्राचार्य की कन्या देखी। वह कन्या इस भूतल पर सौन्दर्य में अद्वितीय थी। वह उसी वनभूमि में विचर रही थी ॥४॥

स दृष्ट्वा तां सुदुर्मेधा अनङ्गशरपीडितः।
अभिगम्य सुसंविग्नः कन्यां वचनमब्रवीत् ॥५॥

मूर्ख राजा उसे देखते ही काम से पीड़ित हो गया और विकल हो, उस कन्या के निकट गया और उससे कहने लगा ॥५॥

कुतस्त्वमसि सुश्रोणि कस्य वासि सुता शुभे।
पीडितोऽहमनङ्गेन पृच्छामि त्वां शुभानने ॥६॥

हे सुश्रोणि! (पतली कमर वाली!) तू यहाँ कहाँ से आई? तू किसकी लड़की है? हे शोभने! मैं इस समय काम से पीड़ित हो रहा हूँ। इसीसे मैं तुझसे पूँछ रहा हूँ ॥६॥

तस्य त्वेवं ब्रुवाणस्य मोहोन्मत्तस्य कामिनः।
भार्गवी प्रत्युवाचेदं वचः सानुनयं त्विदम् ॥७॥

इस मोहोन्मत्त कामी के ऐसा कहने पर, शुक्राचार्य की कन्या नम्रतापूर्वक यह वचन बोली ॥७॥

भार्गवस्य सुतां विद्धि देवस्याक्लिष्टकर्मणः।
अरजा नाम राजेन्द्र ज्येष्ठामाश्रमवासिनीम् ॥८॥

हे राजेन्द्र! मैं अक्लिष्टकर्मा शुक्राचाय की ज्येष्ठा पुत्री हूँ। अरजा मेरा नाम है और मैं इसी आश्रम में रहती हूँ ॥८॥

मा मां स्पृश बलाद्राजन् कन्या पितृवशा ह्यहम्।
गुरुः पिता मे राजेन्द्र त्वं च शिष्यो महात्मनः ॥९॥

हे राजन् ! तुम मुझको बरजोरी मत पकड़ो । क्योंकि मैं अभी क्वांरी हूँ और अपने पिता के अधीन हूँ । हे राजेन्द्र ! मेरे पिता तुम्हारे गुरु हैं और तुम उन महात्मा के शिष्य हो ॥६॥

व्यसनं सुमहत्क्रुद्धः स ते दद्यान् महातपाः ।
यदि वान्यन्मया कार्यं धर्मदृष्टेन सत्पथा ॥१०॥

यदि तुमने कोई अनुचित काम किया तो वे महातपा बहुत क्रुद्ध होंगे और तुम्हें विपत्ति में डाल देंगे । यदि तुम्हारी यही इच्छा है, तो मुझे धर्मविधि से वरण करो ॥१०॥

वरयस्व नरश्रेष्ठ पितरं मे महाद्युतिम् ।
अन्यथा तु फलं तुभ्यं भवेद्घोराभिसंहितम् ॥११॥

हे नरश्रेष्ठ ! महाद्युतिमान मेरे पिता जी के पास जा कर, तुम मेरे लिए प्रार्थना करो । अन्यथा करने से तुमको बड़ा बुरा फल भोगना पड़ेगा ॥११॥

क्रोधेन हि पिता मेऽसौ त्रैलोक्यमपि निर्दहेत् ।
दास्यते चानवद्याङ्गीं तव मां याचितः पिता ॥१२॥

क्योंकि क्रुद्ध होने पर मेरे पिता जी त्रिलोकी को भस्म कर सकते हैं । हे अनिन्दित ! सम्भव है मेरे लिए प्रार्थना करने पर मेरे पिता मुझे तुमको दे भी दें ॥१२॥

एवं ब्रुवाणामरजां दण्डः कामवशं गतः ।
प्रत्युवाच मदोन्मत्तः शिरस्याधाय चाञ्जलिम् ॥१३॥

जब अरजा ने इस प्रकार कहा, तब काम से विकल एवं मदोन्मत्त राजा दण्ड हाथ जोड़, सिर नवा बोला ॥१३॥

प्रसादं कुरु सुश्रोणि न कालं क्षेप्तुमर्हसि ।
त्वत्कृते हि मम प्राणा विदीर्यन्ते वरानने ॥१४॥

हे सुश्रोणि ! अब मेरे ऊपर कृपा कर, वृथा समय मत खो । हे वरानने ! तेरे पीछे अब मेरी जान निकलना चाहती है ॥१४॥

त्वां प्राप्य तु वधो वापि पापं वापि सुदारुणम् ।
भक्त भजस्व मां भीरु भजमानं सुविह्वलम् ॥१५॥

तू मुझसे मिल जा । फिर भले ही मैं मारा जाऊँ, भले ही मझे घोर पातक ही क्यों न लगे । हे भीरु ! मैं बहुत विकल हो रहा हूँ । अब तू अपने चाहने वाले को अपना ले ॥१५॥

एवमुक्त्वा तु तां कन्यां दोर्भ्यां प्राप्य बलाद्बली ।
विस्फुरन्तीं यथा काम मैथुनायोपचक्रमे ॥१६॥

यह कह उस बलवान दण्ड ने बरजोरी दोनों हाथों से उस कन्या को आलिंगन किया और उस छटपटाती कन्या के साथ यथेष्ट विहार किया ॥१६॥

तमनर्थं महाघोरं दण्डः कृत्वा सुदारुणम् ।
नगरं प्रययावाशु मधुमन्तमनुत्तमम् ॥१७॥

इस प्रकार वह राजा दण्ड यह गर्हित एव भयानक अनाथ करके, बड़ी फुर्ती के साथ अपनी मधुमन्त नामक राजधानी को चल गया ॥१७॥

अरजापि रुदन्ती सा आश्रयस्याविदूरतः ।
प्रतीक्षते सुसंत्रस्ता पितरं देवसन्निभम् ॥१८॥

इति अशीतितमः सर्गः ॥

उधर अरजा भी अपने आश्रम के समीप खड़ी हो और अत्यन्त दुःखी हो रोने लगी और अत्यन्त भयभीत हो, देवता के समान अपने पिता की बाट जोहने लगी ॥१८॥

उत्तरकाण्ड का अस्सीवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

एकाशीतितमः सर्गः

—:०:—

स मुहूर्तादुपश्रुत्य देवर्षिरमितप्रभः ।
स्वमाश्रमं शिष्यवृतः क्षुधार्तः संन्यवर्तत ॥१॥

महाप्रतापी देवर्षि शुक्राचार्य जी ने इस घटना के एक मूहूर्त्त बाद ही यह वृत्तान्त सुना । सुनते ही वे अपने शिष्यों सहित अपने आश्रम में लौट आए । उस समय वे भूख के मारे विकल थे ॥१॥

सोऽपश्यदरजां दीनां रजसा समभिप्लुताम् ।
ज्योत्स्नामिव ग्रहग्रस्तां प्रत्यूषे न विराजतीम् ॥२॥

उन्होंने आश्रम में लौट कर देखा कि, अरजा दीन और धूल से भरी प्रातःकालीन फीकी जुन्हाई की तरह, देख पड़ती है ॥२॥

तस्य रोषः समभवत्क्षुधार्तस्य विशेषतः ।
निर्दहन्निव लोकांस्त्रीन् शिष्यांश्चैतदुवाच ह ॥३॥

एक तो वह महाभयङ्कर दुस्संवाद, दूसरे क्षुधा की पीड़ा। इन कारणों से ऋषि को बड़ा क्रोध उपजा। ऐसा जान पड़ा मानों वे तीनों लोकों को भस्म कर डालेंगे। उन्होंने (क्रोध में भर) अपने शिष्य से कहा ॥३॥

पश्यध्वं विपरीतस्य दण्डस्याविदितात्मनः ।
विपत्तिं घोरसङ्काशां क्रुद्धादग्निशिखामिव ॥४॥

देखना, अनात्मज्ञ और विपरीत काम करने वाले दण्ड पर आज अग्निशिखा की तरह और मेरे क्रोध से उत्पन्न कैसी विपत्ति पड़ती है ॥४॥

क्षयोऽस्य दुर्मतेः प्राप्तः सानुगस्य महात्मनः ।
यः प्रदीप्तां हुताशस्य शिखां वै स्प्रष्टुमर्हति ॥५॥

इस दुष्ट ने धधकती हुई आग में हाथ लगाया है। अतएव परिवार सहित इस दुर्बुद्धि दुरात्मा का नाश समीप है ॥५॥

यस्मात्स कृतवान् पापमीदृशं घोरसंहितम् ।
तस्मात्प्राप्स्यति दुर्मेधाः फलं पापस्य कर्मणः ॥६॥

इस पापी ने ऐसा घोर दुराचार किया है; अतः इस मूर्ख को इस पापकर्म का फल मिलेगा ॥६॥

सप्तरात्रेण राजासौ सपुत्रबलवाहनः ।
पापकर्मसमाचारो वधं प्राप्स्यति दुर्मतिः ॥७॥

यह दुर्मति राजा सात रात में पुत्र, सेना और बाहनों सहित नष्ट हो जायगा ॥७॥

समन्ताद्योजनशतं विषयं चास्य दुर्मतेः ।
धक्ष्यते पांसुवर्षेण महता पाकशासनः ॥८॥

इस दुष्ट राजा के राज्य को, चारों ओर सौ योजन तक धूल की वृष्टि कर, इन्द्र, ध्वस्त कर डालेंगे ॥८॥

सर्वसत्वानि यानीह स्थावराणि चराणि च ।
महता पांसुवर्षेण विलयं सर्वतोऽगमन् ॥९॥

यहाँ जितने चर और अचर जीव हैं, वे सब धूल की वृष्टि से नष्ट हो जाँयगे ॥९॥

दण्डस्य विषयो यावत्तावत्सर्वं समुच्छ्रयम् ।
पांसुवर्षमिवालक्ष्यं सप्तरात्रं भविष्यति ॥१०॥

दंड का जितना राज्य है, वह समूचा सात दिनों की निरन्तर धूलवृष्टि से चौपट हो जायगा। इसका नाम निशान भी न देख पड़ेगा ॥१०॥

इत्युक्त्वा क्रोधताम्राक्षस्तमाश्रमनिवासिनम् ।
जनं जनपदान्तेषु स्थीयतामिति चाब्रवीत् ॥११॥

क्रोध में भरे होने के कारण लाल लाल नेत्र कर, शुक्राचार्य ने इस प्रकार राजा को शाप दे कर, उस आश्रमवासियों से कहा—तुम सब दण्ड के राज्य को त्याग कर कहीं दूसरी जगह चले जाओ ॥११॥

श्रुत्वा तूशनसो वाक्य सोऽश्रमावसथो जनः ।
निष्क्रान्तो विषयात्तस्मात् स्थानं चक्रेऽथ बाह्यतः ॥१२॥

शुक्राचार्य के ये वचन सुन, उस आश्रम के रहने वाले लोग, उस राज्य को त्याग, तुरन्त दूसरी जगह चले गए ॥१२॥

स तथोक्त्वा मुनिजनमरजामिदमब्रवीत् ।
इहैव वस दुर्मेधे आश्रमे सुसमाहिता ॥१३॥

शुक्राचार्य ने इस प्रकार आश्रमवासियों से कह कर, अरजा से कहा—हे दुर्बुद्धिन् ! तू इसी आश्रम में रह ॥१३॥

इदं योजनपर्यन्तं सरः सुरुचिरप्रभम् ।
अरजे विज्वरा भुंक्ष्व कालश्चात्र प्रतीक्ष्यताम् ॥१४॥

हे अरजे ! यह जो एक योजन का सुन्दर सरोवर है, इस पर तू निश्चिन्त हो कर रह और अपने कर्मों का फल भोगती हुई काल की प्रतीक्षा कर अर्थात् यहीं रह कर अपने उद्धार के समय की बाट जोहती रह ॥१४॥

त्वत्समीपे च ये सत्वा वासमेष्यन्ति तां निशाम् ।
अवध्या पांसुवर्षेण ते भविष्यन्ति नित्यदा ॥१५॥

उन सात रात्रियों में जो पशुपक्षी तेरे पास रहेंगे, वे उस धूल की वृष्टि से नष्ट नहीं होंगे ॥१५॥

श्रुत्वा नियोगं ब्रह्मर्षेः सारजा भार्गवी तदा ।
तथेति पितरं प्राह भार्गवं भृशदुःखिता ॥१६॥

ब्रह्मर्षि की इस आज्ञा को सुन, भार्गवनन्दिनी अरजा ने अत्यन्त दुःखी हो, उस आज्ञा को तत्काल स्वीकार कर लिया ॥१६॥

इत्युक्त्वा भार्गवो वासमन्यत्र समकारयत् ।
तच्च राज्यं नरेन्द्रस्य सभृत्यबलवाहनम् ॥१७॥

यह कह शुक्राचार्य भी अन्यत्र रहने के लिए चल दिए और भृत्य वाहन सहित वह राजा का राज्य ॥१७॥

सप्ताहाद्भस्मसाद्भूतं यथोक्तं ब्रह्मवादिना ।
तस्यासौ दण्डविषयो विन्ध्यशैवलयोर्नृप ॥१८॥

भार्गव मुनि के कथनानुसार सात दिन में धूलवृष्टि से ध्वस्त हो गया। हे राम विन्ध्याचल और शैवलपर्वत के बीच यह दण्ड का राज्य था ॥१८॥

शप्तो ब्रह्मर्षिणा तेन वैधर्म्मे सहिते कृते ।
ततः प्रभृति काकुत्स्थ दण्डकारण्यमुच्यते ॥१९॥

सो ब्रह्मर्षि के शाप के कारण उसे यह पाप का फल मिला और हे श्रीरामचन्द्र! तभी से इस देश का नाम दण्डकारण्य प्रसिद्ध हुआ है ॥१९॥

तपस्विनः स्थिता ह्यत्र जनस्थानमतोऽभवत् ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां पृच्छसि राघव ॥२०॥

हे राम! तपस्वियों के वास करने के कारण यह जनस्थान भी कहलाता है। हे राम! तुमने जो पूँछा, वह सब मैंने कहा ॥२०॥

सन्ध्यामुपासितुं वीर समयो ह्यतिवर्तते ।
एते महर्षयः सर्वे पूर्णकुम्भाः समन्ततः ॥२१॥

हे वीर! अब सन्ध्योपासन का समय निकला जाता है। देखो, ये महर्षिगण अपने अपने घड़ों में जल भरे हुए चारों ओर से ॥२१॥

कृतोदका नरव्याघ्र आदित्यं पर्युपासते ।
स तैर्ब्राह्मणमभ्यस्तं सहितैर्ब्रह्मवित्तमैः ।
रविरस्तं गतो राम गच्छोदकमुपस्पृश ॥२२॥

इति एकाशीतितमः सर्गः

स्नानादिक कर सूर्योपस्थान में संलग्न हैं। हे पुरुषसिंह! अतएव इन सत्यवादी ब्राह्मणों के साथ बैठ कर, आचमनादि कर तुम भी सन्ध्योपासन करो। क्योंकि सूर्य अब अस्त हो चुके हैं ॥२२॥

उत्तरकाण्ड का एक्यासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

द्व्यशीतितमः सर्गः

—:०:—

ऋषेर्वचनमाज्ञाय रामः सन्ध्यामुपासितुम् ।
अपाक्रामत्सरः पुण्यमप्सरोगणसेवितम् ॥१॥

अगस्त्य जी की आज्ञा से श्रीरामचन्द्र जी अप्सराओं से सेवित उस निर्मल जल वाले तालाब के समीप सन्ध्योपासन करने को गए ॥१॥

तत्रोदकमुपस्पृश्य सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।
आश्रमं प्राविशद्रामः कुम्भयोनेर्महात्मनः ॥२॥

वहाँ आचमन पूर्वक सायंसन्ध्योपासन कर चुकने के बाद श्रीरामचन्द्र जी, महात्मा अगस्त्य जी के आश्रम में लौट कर आ गए ॥२॥

तस्यागस्त्यो बहुगुणं कन्दमूलं तथौषधम् ।
शाल्यादीनि पवित्राणि भोजनार्थमकल्पयत् ॥३॥

ऋषि अगस्त्य ने श्रीरामचन्द्र जी को बहुत से कन्दमूल, मसाले और साठी के चावल का भात आदि पवित्र भोज्य पदार्थ खाने को दिए ॥३॥

स भुक्तवान्नरश्रेष्ठस्तदन्नममृतोपमम् ।
प्रीतश्च परितुष्टश्च तां रात्रिं समुपाविशत् ॥४॥

नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने अगस्त्य के दिए हुए अमृत समान पदार्थों को खा हर्षित हो, वह रात उसी आश्रम में रहकर बिताई ॥४॥

प्रभाते काल्यमुत्थाय कृत्वाह्निकमरिन्दम् ।
ऋषिं समुपचक्राम गमनाय रघूत्तमः ॥५॥

फिर प्रातःकाल उठ कर और सबेरे के आवश्यक कृत्यों से निश्चिन्त हो, बिदा माँगने के लिए वे अगस्त्य जी के समीप गए ॥५॥

अभिवाद्याब्रवीद्रामो महर्षिं कुम्भसम्भवम् ।
आपृच्छे स्वाश्रमं गन्तुं मामनुज्ञातुमर्हसि ॥६॥

श्रीरामचन्द्र जी ने प्रणाम कर अगस्त्य जी से कहा—भगवन्, अब मुझे अपने स्थान पर जाने की आज्ञा दीजिए ॥६॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि दर्शनेन महात्मनः ।
द्रष्टुं चैवागमिष्यामि पावनार्थं महात्मनः ॥७॥

मैं धन्य हूँ। आपने मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया। आप जैसे महात्मा के दर्शन होने से मैं कृतार्थ हो गया। अपने को पवित्र करने के लिए मैं कभी कभी आपके दर्शन करने आया करूँगा ॥७॥

तथा वदति काकुत्स्थे वाक्यमद्भुतदर्शनम् ।
उवाच परमप्रीतो [१]धर्मनेत्रस्तपोधनः ॥८॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे अद्भुत वचन सुन ज्ञानी एवं तपस्वी अगस्त्य जी हर्षित हो बोले ॥८॥

अत्यद्भुतमिदं वाक्यं तव राम शुभाक्षरम् ।
पावनः सर्वभूतानां त्वमेव रघुनन्दन ॥९॥

हे रघुनाथ! सुन्दर अक्षरों की योजना से युक्त तुम्हारे ये वचन बड़े अद्भुत हैं और तुम्हीं कहने योग्य भी हो क्योंकि तुम (स्वयं) समस्त प्राणियों को पावन करने वाले हो ॥९॥

मुहूर्तमपि राम त्वां येऽनुपश्यन्ति केचन ।
पाविताः स्वर्गभूताश्च पूज्यास्ते त्रिदिवेश्वरैः ॥१०॥

हे श्रीरामचन्द्र! जो कोई थोड़ी देर भी तुम्हारा दर्शन करता है, वह समस्त लोकों को पवित्र करता हुआ, स्वर्ग में जा देवताओं से पूजित होता है ॥१०॥

ये च त्वां घोरचक्षुर्भिः पश्यन्ति प्राणिनो भुवि ।
हतास्ते यमदण्डेन सद्यो निरयगामिनः ॥११॥

---

१ धर्मनेत्रे—धर्मोनेत्रं ज्ञान-साधनं यस्य स तथा। (गो०)

और जो मर्त्यलोकवासी प्राणी तुम्हें बुरी निगाह से देखते हैं, वे यमदण्ड की मार खा कर नरकगामी होते हैं ॥११॥

ईदृशस्त्वं रघुश्रेष्ठ पावनः सर्वदेहिनाम् ।
भुवि त्वां कथयन्तो हि सिद्धिमेष्यन्ति राघव ॥१२॥

हे रघुनाथ ! तुम समस्त प्राणियों को इस प्रकार पवित्र करने वाले हो। हे राघव ! जो इस पृथ्वीमण्डल पर तुम्हारे गुणानुवाद कीर्तन करेंगे, वे सिद्धि पावेंगे ॥१२॥

त्वं गच्छारिष्टमव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम् ।
प्रशाधि राज्यं धर्मेण गतिर्हि जगतो भवान् ॥१३॥

तुम अपने स्थान को अब निर्भय हो कर पधारो। मार्ग तुम्हारे लिए मङ्गलकारी हो। तुम धर्मपूर्वक शासन करो। क्योंकि तुम जगत के (एक मात्र) रक्षक हो ॥१३॥

एवमुक्तस्तु मुनिना प्राञ्जलिः प्रग्रहो नृपः ।
अभ्यवादयत प्राज्ञस्तमृषिं सत्यशीलिनम् ॥१४॥

जब मुनिराज ने इस प्रकार कहा, तब बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्र जी ने उन सत्यशीलवान ऋषि को हाथ जोड़ कर प्रणाम किया ॥१४॥

अभिवाद्य ऋषिश्रेष्ठं तांश्च सर्वांस्तपोधनान् ।
अध्यारोहत्तदव्यग्रः पुष्पकं हेमभूषितम् ॥१५॥

इस प्रकार ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्य जी तथा उस आश्रम के अन्य सब ऋषियों को प्रणाम कर, श्रीरामचन्द्र जो स्वस्थचित्त हो, सुवर्ण-भूषित पुष्पक विमान पर सवार हुए ॥१५॥

तं प्रयान्तं मुनिगणा आशीर्वादैः समन्ततः ।
अपूजयन् महेन्द्राभं सहस्राक्षमिवामराः ॥१६॥

उस समय चारों ओर से ऋषि लोग उनको आशीर्वाद देने लगे और उनकी स्तुति करने लगे, मानों देवता इन्द्र की स्तुति कर रहे हों ॥१६॥

स्वस्थः स ददृशे रामः पुष्पके हेमभूषिते ।
शशी मेघसमीपस्थो यथा जलधरागमे ॥१७॥

सुवर्णभूषित पुष्पक विमान में बैठे हुए आकाश में श्रीरामचन्द्र जी वैसे ही शोभायमान हुए, जैसे वर्षाकालीन मेघमण्डल के निकट चन्द्रमा शोभायमान होता है ॥१७॥

ततोऽर्धदिवसे प्राप्ते पूज्यमानस्ततस्ततः ।
अयोध्यां प्राप्य काकुत्स्थो मध्यकक्षामवातरत् ॥१८॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी रास्ते में जहाँ तहाँ सत्कारित हो दोपहर होते होते अयोध्या में पहुँच गए और (अपने राजभवन की) बीच की ड्योढ़ी पर उतर पड़े ॥१८॥

[टिप्पणी—नासिक की पंचवटी दण्डक वन ही में है। वहीं कहीं अगस्त्य आश्रम भी रहा होगा। अगस्त्य आश्रम से अयोध्या की दूरी पर्याप्त है। तो भी सबेरे चार बजे वहाँ से चल श्रीराम जी पुष्पक विमान द्वारा दोपहर को अयोध्या पहुँच गए थे। अतः पुष्पक की तेज चाल का इससे सहज में अनुमान किया जा सकता है।]

ततो विसृज्य रुचिरं पुष्पकं कामगामिनम् ।
विसर्जयित्वा गच्छेति स्वस्ति तेऽस्त्विति च प्रभुः॥१६॥

तब महाराज ने उस श्रेष्ठ एवं इच्छानुगामी विमान (के चालक) को आज्ञा दी कि तुम्हारा मङ्गल हो, अब तुम जाओ ॥१६॥

कक्षान्तरस्थितं क्षिप्रं द्वास्थं रामोब्रवीद्वचः ।
लक्ष्मणं भरतं चैव गत्वा तौ लघुविक्रमौ ।
ममागमनमाख्याय शब्दापयत[1] मा चिरम् ॥२०॥

इति द्व्यशीतितमः सर्गः ॥

पुष्पक को विदा कर श्रीरामचन्द्र जी ने उस ड्योढ़ी के दरबान को सम्बोधन कर या बुला कर कहा—तुम शीघ्र जा कर श्रेष्ठ विक्रमी भरत और लक्ष्मण को मेरे लौट आने की सूचना दो ॥२०॥

उत्तरकाण्ड का बयासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

त्र्यशीतितमः सर्गः

—:०:—

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
द्वास्थः कुमारावाहूय राघवाय न्यवेदयत् ॥१॥

अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा पाकर, द्वारपाल दोनों भाइयों को जा कर बुला लाया और महाराज के सामने उनको उपस्थित कर दिया ॥१॥

दृष्ट्वा तु राघवः प्राप्तावुभौ भरतलक्ष्मणौ ।
परिष्वज्य ततो रामो वाक्यमेतदुवाच ह ॥२॥

दोनों भाई भरत और लक्ष्मण को आया हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी उनसे मिले भेंटे । तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने उन दोनों से कहा ॥२॥

कृतं मया यथा तथ्यं द्विजकार्यमनुत्तमम् ।
[2]धर्मसेतुमथो भूयः कर्तुमिच्छामि राघवौ ॥३॥

---

१ शब्दापयत—दौवारकेणाह्वयस्वेत्यर्थः । (रा०)

२ धर्मसेतुं—राजसूयमित्यर्थः । (गो०)

मैंने ब्राह्मण का काम तो ठीक ठीक कर दिआ। अब मेरी इच्छा एक राजसूययज्ञ करने की है ॥३॥

अक्षयश्चाव्ययश्चैव धर्मसेतुर्मतो मम ।
*धर्मप्रवचनं चैव सर्वपापप्रणाशनम् ॥४॥

क्योंकि मैं तो राजसूययज्ञ को अक्षय्य एवं अविनाशी पुण्यफल प्रदाता और समस्त पापों का नाश करने वाला समझता हूँ ॥४॥

युवाभ्यामात्मभूताभ्यां राजसूयमनुत्तमम् ।
सहितो यष्टुमिच्छामि तत्र धर्मस्तु शाश्वतः ॥५॥

अतः मैं तुम दोनों भाइयों की सहायता से यज्ञों में श्रेष्ठ इस राजसूययज्ञ को करना चाहता हूँ। क्योंकि उसमें स्थायी सनातन धर्म है। अथवा राजसूययज्ञ करने से अक्षय्य धर्म फल या पुण्यफल की प्राप्ति होती है ॥५॥

इष्ट्वा तु राजसूयेन मित्रः शत्रुनिबर्हणः ।
मुहूर्तेन सुयज्ञेन वरुणत्वमुपागमत् ॥६॥
सोमश्च राजसूयेन इष्ट्वा धर्मेण धर्मवित् ।
प्राप्तश्च सर्वलोकेषु कीर्तिस्थानं च शाश्वतम् ॥७॥

देखो, मित्र देवता ने राजसूय यज्ञ कर वरुणत्व पाया था। इसी यज्ञानुष्ठान द्वारा धर्मात्मा सोम ने धर्मपूर्वक राजसूययज्ञ करके लोकों में अमिट कीर्ति और अक्षय्यपद पाया है ॥६॥७॥

अस्मिन्नहनि यच्छ्रेयश्चिन्त्यतां तन्मया सह ।
हितं चायतियुक्तं च प्रयतौ वक्तुमर्हथः ॥८॥

अतएव आज ही तुम दोनों मेरे साथ विचार करके, इस विषय में जो हितकर और उत्तरकाल में सुखकारक हो बतलाओ ॥८॥

---

* पाठान्तरे—"धर्मप्रसाधकंह्येतत् ।"

श्रुत्वा तु राघवस्यैतद्वाक्यं वाक्यविशारदः ।
भरतः प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्यमेतदुवाच ह ॥९॥

बोलने में चतुर भरत जी ने श्रीरामचन्द्र के ये वचन सुन और हाथ जोड़ कर कहा ॥९॥

त्वयि धर्मः परः साधो त्वयि सर्वा वसुन्धरा ।
प्रतिष्ठिता महाबाहो यशश्चामितविक्रम ॥१०॥

हे अमितपराक्रमी महाबाहु श्रीराम ! हे साधो ! तुम्हीं में सर्वोत्कृष्ट धर्म, समस्त पृथवी और यश प्रतिष्ठित हैं ॥१०॥

महीपालाश्च सर्वे त्वां प्रजापतिमिवामराः ।
निरीक्षन्ते महात्मानं लोकनाथं यथा वयम्॥११॥

जितने राजा लोग हैं, वे सब और हम दोनों तुमको वैसा ही मानते हैं जैसा कि, ब्रह्मा को सब देवता लोग मानते हैं। वे तुमको महात्मा और लोकनाथ समझते हैं ॥११॥

*पुत्राश्च पितृवद्राजन् पश्यन्ति त्वां महाबल ।
पृथिव्याः गतिभूतोऽसि प्राणिनामपि राघव ॥१२॥

हे महाबली ! जैसे पुत्र अपने पिता को मानते हैं, वैसे ही वे तुमको मानते हैं। हे राघव ! तुम पृथिवी के गतिरूप और समस्त प्राणियों के आधारभूत हो ॥१२॥

स त्वमेवंविधं यज्ञमाहर्तासि कथं नृप ।
पृथिव्यां राजवंशानां विनाशो यत्र दृश्यते ॥१३॥

---

* पाठान्तरे—"प्रजाश्च ।"

(तिस पर भी) जिस यज्ञ के करने में अनेक पृथिवी के राजवंशों के क्षय होने की सम्भावना है; हे रघुनाथ! तुम उस राजसूययज्ञ का अनुष्ठान क्यों करना चाहते हो? ॥१३॥

पृथिव्यां ये च पुरुषा राजन् पौरुषमागताः ।
सर्वेषां भविता तत्र संक्षयः सर्वकोपजः ॥१४॥

हे राजन्! पृथिवी में जितने पराक्रमी पुरुष हैं, उन सब का तुम्हारे क्रोध से निश्चय ही नाश हो जायगा ॥१४॥

सर्वां पुरुषशार्दूल गुणैरतुलविक्रम ।
पृथिवीं नार्हसे हन्तुं वशे ही तव वर्तते ॥१५॥

अतएव हे पुरुषसिंह! हे अतुल पराक्रमी! आपको पृथिवी के समस्त वीरों का नाश करना उचित नहीं; क्योंकि वे सब तो आपके वश में हैं ही ॥१५॥

भरतस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वाऽमृतमयं यथा ।
प्रहर्षमतुलं लेभे रामः सत्यपराक्रमः ॥१६॥

सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी भरत जी के यह अमृतमय जैसे वचन सुन कर, बहुत प्रसन्न हुए ॥१६॥

उवाच च शुभं वाक्यं कैकेय्यानन्दवर्धनम् ।
प्रीतोस्मि परितुष्टोस्मि तवाद्य वचनेऽनघ ॥१७॥

और कैकेई के आनन्द बढ़ाने वाले भरत जी से यह शुभ वचन बोले—हे पापरहित! तुम्हारे कथन से मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न और सन्तुष्ट हुआ हूँ ॥१७॥

इदं वचनमक्लीबं त्वया धर्मसमाहितम् ।
व्याहृतं पुरुषव्याघ्र पृथिव्याः परिपालनम् ॥१८॥

हे पुरुषसिंह ! ये तुम्हारे वचन, वीरतायुक्त एवं धर्मसम्मत हैं तथा पृथिवी के वीरों की रक्षा करने वाले हैं ॥१८॥

एष्यदस्मदभिप्रायाद्राजसूयात्क्रतूत्तमात् ।
निवर्तयामि धर्मज्ञ तत्र सुव्याहृतेन च ॥१९॥

हे धर्मज्ञ ! तुम्हारे इस कथन को सुन, अब मैं इस सर्वश्रेष्ठ राजसूय यज्ञ करने का विचार त्याग देता हूँ ॥१९॥

लोकपीडाकरं कर्म न कर्तव्यं विचक्षणैः ।
बालानां तु शुभं वाक्यं ग्राह्यं लक्ष्मणपूर्वज ।
तस्माच्छृणोमि ते वाक्यं साधुयुक्तं *महाबल ॥२०॥

इति त्र्यशीतितमः सर्गः

क्योंकि चतुर लोगों को ऐसा कोई काम न करना चाहिए जिससे लोगों को पीड़ा पहुँचे। हे भरत ! युक्तियुक्त वचन तो बालकों के भी मान लेने चाहिए। हे महाबली ! अतः मैं तुम्हारा यह उत्तम कथन मानता हूँ ॥२०॥

उत्तरकाण्ड का चौरासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

चतुरशीतितमः सर्गः

—:o:—

तथोक्तवति रामे तु भरते च महात्मनि ।
लक्ष्मणोऽथ शुभं वाक्यमुवाच रघुनन्दनम् ॥१॥

---

* पाठान्तरे—"महामते ।"

जब महात्मा भरत जी से श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से यह मनोहर वचन कहे ॥१॥

अश्वमेधो महायज्ञः पावनः सर्वपाप्मनाम् ।
पावनस्तव दुर्धर्षो रोचतां रघुनन्दन ॥२॥

हे रघुनन्दन! सम्पूर्ण पापों से पवित्र करने वाला अश्वमेध यज्ञ है। हे दुर्धर्ष! यदि तुम्हारी इच्छा यज्ञ ही करने की है तो यह यज्ञ कीजिए ॥२॥

श्रूयते हि पुरावृत्तं वासवे सुमहात्मनि ।
ब्रह्महत्यावृतः शक्रो हयमेधेन पावितः ॥३॥

एक पुरानी कथा ऐसी सुनी जाती है कि, इन्द्र को जिस समय ब्रह्महत्या लगी थी, उस समय उन्होंने यही यज्ञ किआ था और इसके करने से वे पवित्र हुए थे ॥३॥

पुरा किल महाबाहो देवासुरसमागमे ।
वृत्रो नाम महानासीद्दैतेयो लोकसम्मतः ॥४॥

हे महाबाहो! पूर्वकाल में देवासुरयुद्ध में लोकपूजित वृत्र नाम का एक बड़ा नामी दैत्य था ॥४॥

विस्तीर्णो योजनशतमुच्छ्रितस्त्रिगुणं ततः ।
अनुरागेण लोकांस्त्रीन् स्नेहात् पश्यति सर्वतः ॥५॥

वह सौ योजन चौड़ा और तीन सौ योजन लंबा था। तीनों लोकों पर अपना स्वत्वाधिकार होने का उसे अभिमान था और वह तीनों लोकों को स्नेह की दृष्टि से देखता था ॥५॥

धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च बुद्धया च परिनिष्ठितः ।
शशास पृथिवीं स्फीतां धर्मेण सुसमाहितः ॥६॥

वह बड़ा धर्मज्ञ, कृतज्ञ और बुद्धिमान था। वह भरीपूरी पृथिवी का धर्म से (ईमानदारी से) सावधानतापूर्वक शासन करता था ॥६॥

तस्मिन् प्रशासति तदा सर्वकामदुघा मही ।
रसवन्ति प्रसूनानि मूलानि च फलानि च ॥७॥

उसके राज्य में यह पृथिवी कामधेनु की तरह सम्पूर्ण पदार्थों को यथोचित रीत्या उत्पन्न करती थी और रसीले एवं स्वादिष्ट फल फूल और मूल होते थे ॥७॥

अकृष्टपच्या पृथिवी सुसम्पन्ना महात्मनः ।
स राज्यं तादृशं भुंक्ते स्फीतमद्भुतदर्शनम् ॥८॥

बिना जोते अन्न उत्पन्न होता था। इस प्रकार वह बहुत समय तक भरापूरा और अद्भुत राज्य करता रहा ॥८॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना तपः कुर्यामनुत्तमम् ।
तपो हि परमं श्रेयः संमोहमितरत् सुखम् ॥६॥

एक बार उसके मन में यह बात आई कि, मैं उत्तम तप करूँ। क्योंकि तप ही कल्याणकारक है। संसार के अन्य सुख तो अज्ञान की वृद्धि करने वाले या मोह उत्पन्न करने वाले हैं ॥६॥

स निक्षिप्य सुतं ज्येष्ठं पौरेषु मधुरेश्वरम् ।
तप उग्रं समातिष्ठत्तापयन् सर्वदेवताः ॥१०॥

इस प्रकार विचार कर मधुरेश्वर अपने ज्येष्ठपुत्र को राज्य दे, समस्त देवताओं को भय देनेवाला उग्र तप करने लगा ॥१०॥

तपस्तप्यति वृत्रे तु वासवः परमार्तवत् ।
विष्णुं समुपसंक्रम्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥११॥

उसे ऐसा तप करते देख, इन्द्र बड़े दुःखी हो, विष्णु के पास गए और उनसे बोले ॥११॥

तपस्यता महाबाहो लोकाः *सर्वे विनिर्जिताः ।
बलवान् स हि धर्मात्मा नैनं शक्ष्यामि शासितुम् ॥१२॥

हे महाबाहो ! वृत्र ने तपोबल से सब लोकों को जीत लिया है। एक तो वह बलवान दूसरे वह धर्मात्मा भी है। अतः मैं उसका शासन नहीं कर सकता ॥१२॥

यद्यसौ तप आतिष्ठेद्ध भूय एव सुरेश्वर ।
यावल्लोका धरिष्यन्ति तावदस्य वशानुगाः ॥१३॥

हे सुरेश्वर ! यदि वह फिर तप करना आरम्भ कर देगा, तो जब तक ये सब लोक विद्यमान रहेंगे, तब तक उसीके वश में रहेंगे ॥१३॥

तं चैनं परमोदारमुपेक्षसि महाबल ।
क्षणं हि न भवेद्द वृत्रः क्रुद्धे त्वयि सुरेश्वर ॥१४॥

हे महाबल ! हे सुरेश्वर ! अतएव तुम उस परमोदार की उपेक्षा न करो। तुम यदि क्रोध करोगे तो यह एक क्षण भी जीवित न रह सकेगा ॥१४॥

यदा हि प्रीतिसंयोगं त्वया विष्णो समागतः ।
तदाप्रभृति लोकानां नाथत्वमुपलब्धवान् ॥१५॥

---

*पाठान्तरे—"वृत्रेण निर्जिता ।"

हे विष्णो ! जब से वह तुम्हारा प्रीतिपात्र बना है, तभी से वह लोकों का मालिक हो गया है ॥१५॥

स त्वं प्रसादं *लोकानां कुरुष्व सुसमाहितः ।
त्वत्कृतेन हि सर्वं स्यात् प्रशान्तमरुजं जगत् ॥१६॥

हे भगवन्! अतएव तुम लोकों पर कृपा करो। तुम्हारे किए यह सारा जगत् शान्त और व्यथारहित होगा ॥१६॥

इमे हि सर्वे विष्णो त्वां निरीक्षन्ते दिवौकसः ।
वृत्रघातेन महता तेषां साह्यं कुरुष्व ह ॥१७॥

हे विष्णो ! यह देवता लोग तुम्हारी ही ओर दीनमुख हो देखते हैं। अतएव उस वृत्रासुर को मार कर, उनकी पूरी सहायता करो ॥१७॥

त्वया हि नित्यशः साह्यं कृतमेषां महात्मनाम् ।
असह्यमिदमन्येषामगतीनां गतिर्भवान् ॥१८॥

इति चतुरशीतितमः सर्गः

तुम तो इन देवताओं की सदा से सहायता करते आए हो। तुमको छोड़ और कोई इनकी सहायता नहीं कर सकता। क्योंकि जिसकी कोई गति नहीं उसकी गति आप ही हैं। अथवा अनाथों के नाथ आप ही हैं ॥१८॥

[टिप्पणी—इस श्लोक में आरम्भ में "त्वया" है और अन्त में "भवान्" है।]

उत्तरकाण्ड का चौरासीवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:o:—

* पाठान्तरे—"देवानाम्"।

पञ्चाशीतितमः सर्गः

—:o:—

लक्ष्मणस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वा शत्रुनिबर्हणः ।
वृत्रघातमशेषेण कथयेत्याह सुव्रत ॥१॥

लक्ष्मण जी के ये वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे सुव्रत । वृत्रासुर के बध की पूरी कथा कहो ॥१॥

राघवेणैवमुक्तस्तु सुमित्रानन्दवर्धनः ।
भूय एव कथां दिव्यां कथयामास सुव्रतः ॥२॥

सुमित्रानन्दवर्धन और सुव्रत लक्ष्मण जी, श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन, उस दिव्य कथा को कहने लगे ॥२॥

सहस्राक्षवचः श्रुत्वा सर्वेषां च दिवौकसाम् ।
विष्णुर्देवानुवाचेदं सर्वानिन्द्रपुरोगमान् ॥३॥

हे श्रीराम ! उस समय इन्द्रादि समस्त देवताओं का गिड़गिड़ाना सुन, भगवान् विष्णु इत्यादि देवताओं से बोले ॥३॥

पूर्वं सौहृदबद्धोस्मि वृत्रस्येह महात्मनः ।
तेन युष्मत् प्रित्यार्थं हि नाहं हन्मि महासुरम् ॥४॥

हे देवताओ ! मैं वृत्रासुर के मैत्रीरूपी बन्धन से बहुत काल पूर्व ही से बँधा हुआ हूँ अथवा वृत्रासुर की मुझमें बहुत दिनों से प्रीति है । अतएव तुम लोगों को प्रसन्न करने के लिए, मैं तो उसे मार नहीं सकता ॥४॥

अवश्यं करणीयं च भवतां सुखमुत्तमम् ।
तस्मादुपायमाख्यास्ये सहस्राक्षो वधिष्यति ॥५॥

परन्तु साथ ही आप लोगों के सुख का उपाय भी मुझे अवश्य करना है; अतएव मैं ऐसा उपाय बतला दूँगा, जिससे इन्द्र उस वृत्रासुर को मार डालेंगे ॥५॥

*त्रेधाभूतं करिष्यामि आत्मानं सुरोत्तमाः ।
तेन वृत्रं सहस्राक्षो वधिष्यति न संशयः ॥६॥

हे सुरश्रेष्ठ ! मैं अपने तीन भाग कर वृत्रासुर का वध इन्द्र के हाथ से करवा दूँगा, इसमें सन्देह नहीं है ॥६॥

एकांशो वासवं यातु द्वितीयो वज्रमेव तु ।
तृतीयो भूतलं †यातु तदा वृत्रं हनिष्यति ॥७॥

मेरे तीन भागों में से एक तो इन्द्र में व्याप्त होगा, दूसरा वज्र में रहैगा और तीसरा भूतल में । तब वृत्रासुर का वध होगा ॥७॥

तथा ब्रुवति देवेशे देवा वाक्यमथाब्रुवन् ।
एवमेतन्न सन्देहो यथा वदसि दैत्यहन् ॥८॥
भद्रं तेस्तु गमिष्यामि वृत्रासुरवधैषिणः ।
भजस्व परमोदार वासवं स्वेन तेजसा ॥९॥

भगवान् विष्णु के ऐसा कहने पर देवता कहने लगे—हे दैत्यनिकन्दन ! बहुत अच्छा, तुम निस्सन्देह ऐसा ही करो । तुम्हारा मङ्गल हो । हम तो वृत्रासुर का वध चाहते हैं और अब हम लोग जाते हैं । हे परमोदार ! तुम अपने तेज से इन्द्र में व्याप्त होओ ॥८॥९॥

---

* पाठान्तरे-—"त्रिधाभूतं ।" †पाठान्तरे—"शक्रः ।"

ततः सर्वे महात्मानः सहस्राक्षपुरोगमाः ।
तदारण्यमुपाक्रामन्यत्र वृत्रो महासुरः ॥१०॥

तदनन्तर इन्द्रादि समस्त देवता उस वन में गए, जिसमें महासुर वृत्र तप कर रहा था ॥१०॥

ते पश्यंस्तेजसा भूतं तपन्तमसुरोत्तमम् ।
पिबन्तमिव लोकांस्त्रीन्निर्दहन्तमिवाम्बरम् ॥११॥

वहाँ जा कर देवताओं ने तप करते हुए उस दैत्य को देखा। वह अपने तप के तेज से, तीनों लोकों को जीतता हुआ, आकाश को भस्म सा किए डालता था ॥११॥

दृष्ट्वैव चासुरश्रेष्ठं देवास्त्रासमुपागमन् ।
कथमेनं वधिष्यामः कथं न स्यात् पराजयः ॥१२॥

वृत्रासुर के उस रूप ही को देख कर समस्त देवता भयभीत हो गए और (आपस में) कहने लगे, हम इसे किस प्रकार मारें, जिससे हम लोगों की हार न हो ॥१२॥

तेषां चिन्तयतां तत्र सहस्राक्षः पुरन्दरः ।
वज्रं प्रगृह्य पाणिभ्यां प्राहिणोद्वृत्रमूर्धनि ॥१३॥

उनके इस प्रकार कहने पर सहस्राक्ष इन्द्र ने हाथ में वज्र ले कर वृत्रासुर के सिर में मारा ॥१३॥

कालाग्निनेव घोरेण दीप्तेनेव महार्चिषा ।
पततः वृत्रशिरसा जगत्त्रासमुपागमत् ॥१४॥

कालाग्नि के समान भयङ्कर, प्रदीप्त एवं महाशिखायुक्त उस वज्र के प्रहार से वृत्रासुर का सिर (कट कर) गिर पड़ा। इससे तीनों लोकवासी डर गए ॥१४॥

१असम्भाव्यं वधं तस्य वृत्रस्य विबुधाधिपः।
चिन्तयानो जगामाशु लोकस्यान्तं महायशाः ॥१५॥

महायशस्वी इन्द्र उसके वध को अनुचित विचार कर भागे और लोकाचल नामक पहाड़ के उस पार, घोर अन्धकार में चले गए ॥१५॥

तमिन्द्रं ब्रह्महत्याशु गच्छन्तमनुगच्छति।
अपतच्चास्य गात्रेषु तमिन्द्रं दुःखमाविशत् ॥१६॥

परन्तु ब्रह्महत्या ने वहाँ भी उनका पीछा किया और वह उनके शरीर में घुस गई, जिससे इन्द्र बड़े दुखी हुए ॥१६॥

हतारयः प्रनष्टेन्द्रा देवाः साग्निपुरोगमाः।
विष्णुं त्रिभुवनेशानं मुहुर्मुहुरपूजयन् ॥१७॥

इस प्रकार वृत्रासुर के मारे जाने और इन्द्र के गुप्त हो जाने से अग्नि को साथ ले, समस्त देवता त्रिलोकेश्वर भगवान् विष्णु के शरण में गए और बार बार उनकी स्तुति कर के कहने लगे ॥१७॥

त्वं गतिः परमेशान पूर्वजो जगतः पिता।
रक्षार्थं सर्वभूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ॥१८॥

हे प्रभो! तुम ही इस जगत् की गति हो, तुम ही सब के उत्पन्न करने वाले पिता हो, तुम ही इस दृश्यमान ब्रह्माण्ड के आदि

---

१ असम्भाव्यं—अनुचितं (गो०) १ लोकस्यान्तं—अन्तप्रदेशं लोकालोकात्परंतमःप्रदेशं। (गो०)

कारण हो। सब प्राणियों की रक्षा के लिए तुमने विष्णु रूप धारण किया है ॥१८॥

हतश्चायं त्वया वृत्रो ब्रह्महत्या च वासवम् ।
बाधते सुरशार्दूल मोक्षं तस्य विनिर्दिश ॥१९॥

हे देवताओं में श्रेष्ठ! वृत्रासुर तो मारा गया परन्तु अब इन्द्र को ब्रह्महत्या सता रही है। अब ब्रह्महत्या के छूटने का कोई उपाय बतलावें ॥१९॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा देवानां विष्णुरब्रवीत् ।
मामेव यजतां शक्रः पावयिष्यामि वज्रिणम् ॥२०॥

उन देवताओं का यह कथन सुन कर, भगवान् विष्णु बोले—हे देवताओं! इन्द्र से कहो कि, मेरा आराधन करें तो मैं उनको पवित्र कर दूँगा ॥२०॥

पुण्येन हयमेधेन मामिष्ट्वा पाकशासनः ।
पुनरेष्यति देवानामिन्द्रत्वमकुतोभयः ॥२१॥

अश्वमेध द्वारा मेरा आराधन करने से पवित्र हो कर, इन्द्र पुनः इन्द्रासन पर बैठ तुम्हारे देवलोक अर्थात् स्वर्ग का निर्भय हो राज्य करेंगे ॥२१॥

एवं सन्दिश्य तां वाणीं देवानां चामृतोपमाम् ।
जगाम विष्णुर्देवेशः स्तूयमानस्त्रिविष्टपम् ॥२२॥

इति पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥

इस प्रकार देवताओं को अमृतमयी (मधुर) वाणी से उपदेश दे और देवताओं से पूजित हो, भगवान् विष्णु वैकुण्ठ को चले गए ॥२२॥

उत्तरकाण्ड का पचासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

षडशीतितमः सर्गः

—:o:—

तदा वृत्रवधं सर्वमखिलेन स लक्ष्मणः।
कथयित्वा नरश्रेष्ठः कथाशेषं प्रचक्रमे ॥१॥

इस प्रकार लक्ष्मण जी वृत्रासुर के वध की आदि से कथा कह कर, बची हुई कथा कहने लगे ॥१॥

ततो हते महावीर्ये वृत्रे देवभयङ्करे।
ब्रह्महत्यावृतः शक्रः संज्ञां लेभे न वृत्रहा ॥२॥

सोऽन्तमाश्रित्य लोकानां नष्टसंज्ञो विचेतनः।
कालं तत्रावसत्कश्चिद्वेष्टमान इवोरगः ॥३॥

जब देवताओं को भयभीत करने वाला महाबलवान् वृत्रासुर मारा गया, तब ब्रह्महत्या लगने के कारण इन्द्र अचेत हो अँधेरे में गेंडुरी मारे सर्प की तरह चुपचाप कुछ दिनों तक बैठे रहे ॥२॥३॥

अथ नष्टे सहस्राक्षे उद्विग्नमभवज्जगत्।
भूमिश्च ध्वस्तसङ्काशा निःस्नेहा शुष्ककानना ॥४॥

उनके गुम हो जाने से सारा जगत् घबड़ा उठा। पृथिवी ध्वस्त सी हो रूहारह हो गई। जंगल सूख गए ॥४॥

निःस्रोतसस्ते सर्वे तु ह्रदाश्च सरितस्तथा।
संक्षोभश्चैव सत्वानामनावृष्टिकृतोऽभवत् ॥५॥

बड़े बड़े तालाबों या झीलों में और नदियों में जल ही न रह गया। बिना जलवृष्टि के सारी प्रजा घबड़ा गई ॥५॥

क्षीयमाणे तु लोकेऽस्मिन् संभ्रान्तमनसः सुराः
यदुक्तं विष्णुना पूर्वं तं यज्ञं समुपानयन् ॥६॥

संसार की यह दशा देख और लोकों के नष्ट हो जाने की शङ्का कर, देवता भी घबड़ा उठे। फिर भगवान् विष्णु की आज्ञा को स्मरण कर देवताओं ने यज्ञानुष्ठान आरम्भ किया ॥६॥

ततः सर्वे सुरगणाः सोपाध्यायाः सहर्षिभिः।
तं देशं समुपाजग्मुर्यत्रेन्द्रो भयमोहितः ॥७॥

(सब से प्रथम) समस्त देवता अपने साथ उपाध्यायों और महर्षियों को ले, वहाँ गए जहाँ भय से भीत होने के कारण इन्द्र अचेत हो बैठे हुए थे ॥७॥

ते तु दृष्ट्वा सहस्राक्षमावृतं ब्रह्महत्यया।
तं पुरस्कृत्य देवेशमश्वमेधं प्रचक्रिरे ॥८॥

इन देवताओं ने इन्द्र को ब्रह्महत्या से युक्त देख कर, उनको यज्ञदीक्षा में बिठा, अश्वमेध यज्ञ करना आरम्भ किया ॥८॥

ततोऽश्वमेधः सुमहान् महेन्द्रस्य महात्मनः।
ववृते ब्रह्महत्यायाः पावनार्थं नरेश्वर ॥९॥

हे राजन् ! तब इन्द्र की ब्रह्महत्या छुटाने के लिए, बड़ी धूम-धाम से अश्वमेध यज्ञ होने लगा ॥९॥

ततो यज्ञे समाप्ते तु ब्रह्महत्या महात्मनः ।
अभिगम्याब्रवीद्वाक्यं क मे स्थानं विधास्यथ ॥१०॥

जब यज्ञ समाप्त हुआ, तब वह ब्रह्महत्या इन्द्र के शरीर से निकल (स्त्री का रूप धारण कर) कहने लगी—मेरे रहने के लिए लोग अब मुझे कौन सा स्थान देते हैं ॥१०॥

ते तामूचुस्ततो देवास्तुष्टाः प्रीतिसमन्विताः ।
चतुर्धा विभजात्मानमात्मनैव दुरासदे ॥११॥

ब्रह्महत्या का यह वचन सुन, देवता लोग सन्तुष्ट और प्रसन्न होकर बोले—हे दुरासदे ! तू अपने चार टुकड़े कर डाल ॥११॥

देवानां भाषितं श्रुत्वा ब्रह्महत्या महात्मनाम् ।
संदधौ स्थानमन्यत्र वरयामास दुर्वसा ॥१२॥

देवताओं की बात सुन कर, ब्रह्महत्या ने अपने चार टुकड़े कर डाले और दूसरी जगह रहने के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा ॥१२॥

एकेनांशेन वत्स्यामि पूर्णोदासु नदीषु वै ।
चतुरो वार्षिकान् मासान् दर्पघ्नी कामचारिणी ॥१३॥

हे देवताओं ! मैं अपने एक अंश (टुकड़े) से बरसात में, चार मास तक, जल से पूर्ण नदियों में उनका अहङ्कार का नाश करती हुई यथेष्ट सञ्चार करूंगी ॥१३॥

भूम्यामहं सर्वकालमेकेनांशेन सर्वदा।
वसिष्यामि न सन्देहं सत्येनैतद्ब्रवीमि वः ॥१४॥

दूसरे अंश से मैं सदैव पृथिवी में (ऊसर रूप से) बास करूँगी। मेरे इस कथन में कुछ भी सन्देह नहीं है। मैं यह बात सत्य सत्य ही कहती हूँ ॥१४॥

योऽयमंशस्तृतीयो मे स्त्रीषु यौवनशालिषु।
त्रिरात्रं दर्पपूर्णासु वसिष्ये दर्पघातिनी ॥१५॥

तीसरी अंश से मैं दर्पवती युवती स्त्रियों की योनि में उनका दर्प चूर्ण करने के लिए एक मास में तीन दिन बास करूँगी ॥१५॥

हन्तारो ब्राह्मणान् ये तु मृषापूर्वमदूषकान्।
तांश्चतुर्थेन भागेन संश्रयिष्ये सुरर्षभाः ॥१६॥

तथा चौथे अंश से, हे सुरश्रेष्ठों! मैं उन हत्यारों में रहूँगी, जो निरपराध (अथवा झूठे दोष लगा कर) ब्राह्मणों को मारेंगे ॥१६॥

प्रत्यूचुस्तां ततो देवा यथा वदसि दुर्वसे।
तथा भवतु तत्सर्वं साधयस्व यदीप्सितम् ॥१७॥

ब्रह्महत्या के ये वचन सुन कर, सब देवता कहने लगे कि हे दुष्ट निवासिनी! तू जैसा कह रही है, वैसा ही कर ॥१७॥

ततः प्रीत्यान्विता देवाः सहस्राक्षं ववन्दिरे।
विज्वरः पूतमाप्मा च वासवः समपद्यत ॥१८॥

यह कह कर समस्त देवताओं ने प्रसन्न हो, इन्द्र को प्रणाम किया और इन्द्र भी पवित्र और चिन्तारहित होने के कारण बड़े प्रसन्न हुए ॥१८॥

प्रशान्तं च जगत्सर्वं सहस्राक्षे प्रतिष्ठिते ।
यज्ञं चाद्भुतसङ्काशं तदा शक्रोऽभ्यपूजयत् ॥१६॥

जब इन्द्र अपने इन्द्रासन पर पुनः जा बिराजे ; तब सब जगत् शान्त हो गया और इन्द्र ने उस अद्भुत यज्ञ की बड़ी प्रतिष्ठा की ॥१६॥

ईदृशो ह्यश्वमेधस्य प्रसादो रघुनन्दन ।
यजस्व सुमहाभाग हयमेधेन पार्थिव ॥२०॥

हे राम ! अश्वमेध यज्ञ की ऐसी महिमा है । हे महाभाग ! अतएव आप भी अश्वमेध यज्ञ कीजिए ॥२०॥

इति लक्ष्मणवाक्यमुत्तमं
नृपतिरतीव मनोहरं महात्मा ।
परितोषमवाप हृष्टचेताः
स निशम्येन्द्र समानविक्रमौजाः ॥२१॥

इति षडशीतितमः सर्गः ॥

इन्द्र के समान पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण जी के कहे इन उत्तम और मनोहर वचनों को सुन कर, परम सन्तुष्ट और परम प्रसन्न हुए ॥२१॥

उत्तरकाण्ड का छियासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

सप्ताशीतितमः सर्गः

—:०:—

तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणेनोक्तं वाक्यं वाक्यविशारदः ।
प्रत्युवाच महातेजाः प्रहसन् राघवो वचः ॥१॥

बोलने वालों में श्रेष्ठ, महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी के इन वचनों को सुन कर और मुसक्या कर यह कहा ॥१॥

एवमेव नरश्रेष्ठ यथा वदसि लक्ष्मण ।
वृत्रघातमशेषेण वाजिमेधफलं च यत् ॥२॥

हे नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! तुमने जो यह कथा कही सो ऐसी ही है। वृत्रासुर के वध की कथा और अश्वमेध का फल ऐसा ही है ॥२॥

श्रूयते हि पुरा सौम्य कर्दमस्य प्रजापतेः ।
पुत्रो बाह्लीश्वरः श्रीमानिलो नाम सुधार्मिकः ॥३॥

हे सौम्य ! मैंने सुना है कि, पूर्वकाल में कर्दम प्रजापति के ज्येष्ठ पुत्र, जिसका नाम इल था, बड़े धर्मात्मा थे और बाह्लीक देश में राज्य करते थे ॥३॥

स राजा पृथिवीं सर्वां वशे कृत्वा महायशाः ।
राज्यं चैव नरव्याघ्र पुत्रवत्पर्यपालयत् ॥४॥

हे नरशार्दूल ! वे महायशस्वी राजा इल, (अपने राज्य की) सम्पूर्ण पृथिवी को अपने अधीन कर, पुत्र की तरह उसका पालन करने लगे ॥४॥

सुरैश्च परमोदारैर्दैतेयैश्च महाधनैः ।
नागराक्षसगन्धर्वैर्यक्षैश्च सुमहात्मभिः ॥५॥

पूज्यते नित्यशः सौम्य भयार्तै रघुनन्दन ।
अबिभ्यंश्च त्रयो लोकाः सरोषस्य महात्मनः ॥६॥

हे रघुनन्दन ! बड़े उदार देवता, महाधनी दैत्य, नाग, राक्षस, गन्धर्व और यक्ष उनसे डरते थे और उनका सदा सम्मान करते थे। उनके (राजा इल के) क्रुद्ध होने पर तीनों लोक भयभीत हो जाते थे ॥५॥६॥

स राजा तादृशोऽप्यासीद्धर्मे वीर्ये च निष्ठितः ।
बुद्ध्या च परमोदारो बाह्लीकेशो महायशाः ॥७॥

परमोदार महायशस्वी, धर्मात्मा और वीर्यवान राजा इल, इस प्रकार बड़ी बुद्धिमत्ता से बाह्लीक देश का शासन करते थे ॥७॥

स प्रचक्रे महाबाहुर्मृगयां रुचिरे वने ।
चैत्रे मनोरमे मासे सभृत्यबलवाहनः ॥८॥

एक बार चैत्रमास में वह राजा अपनी सेना आदि ले कर, वन में शिकार खेलने के लिए गया ॥८॥

प्रजघ्ने स नृपोऽरण्ये मृगाञ्शतसहस्रशः ।
हत्वैव तृप्तिर्नाभूच्च राज्ञस्तस्य महात्मनः ॥९॥

राजा ने वन में जा कर सैकड़ों हजारों जंगली जानवरों का शिकार किया। परन्तु इतने पर भी वह न अघाया ॥९॥

नानामृगाणामयुतं वध्यमानं महात्मना ।
यत्र जातो महासेनस्तं देशमुपचक्रमे ॥१०॥

विविध प्रकार के दस हज़ार हिरनों को मार कर, वह राजा शिकार खेलता हुआ उस वन में पहुँचा जहाँ स्वामिकार्तिक का जन्म हुआ था ॥१०॥

तस्मिन् प्रदेशे देवेश शैलराजसुतां हरः ।
रमयामास दुर्धर्षः सर्वैरनुचरैः सह ॥११॥

उस वन में दुधर्ष देवादिदेव महादेव जी पार्वती जी के साथ अपने समस्त अनुचरों सहित विहार कर रहे थे ॥११॥

कृत्वा स्त्रीरूपमात्मानमुमेशो गोपतिध्वजः ।
देव्याः प्रियचिकीर्षुः संस्तस्मिन् पर्वतनिर्झरे ॥१२॥

उस समय वृषध्वज शिव जी ने पार्वती को प्रसन्न करने के लिए अपना रूप स्त्री का बना लिआ था और वे पहाड़ी झरनों के निकट घूम फिर रहे थे ॥१२॥

यत्र यत्र वनोद्देशे सत्त्वाः पुरुषवादिनः ।
वृक्षाः पुरुषनामानस्ते सर्वे स्त्रीजनाभवन् ॥१३॥

उस समय उस वन में जितने पुरुषवाची वृक्ष मृगादिक थे, वे सब (शिव जी के प्रभाव से) स्त्रीवाची हो गए थे ॥१३॥

यच्च किञ्चन तत्सर्वं नारीसंज्ञं बभूव ह ।
एतस्मिन्नन्तरे राजा स इलः कर्दमात्मजः ॥१४॥

अधिक क्या कहा जाय जौन जौन उस समय उस वन में थे वे सब के सब स्त्री रूप हो गए थे। उसी समय कर्दम के पुत्र राजा इल भी ॥१४॥

निघ्नन् मृगसहस्राणि तं देशमुपचक्रमे ।
स दृष्ट्वा स्त्रीकृतं सर्वं सव्यालमृगपक्षिणम् ॥१५॥

मृगों का शिकार कर वे उस बन में पहुँचे और देखा कि, उस वन के समस्त सर्प, मृग और पक्षी स्त्रीरूप हो रहे हैं ॥१५॥

आत्मानं स्त्रीकृतं चैव सानुगं रघुनन्दन ।
तस्य दुःखं महच्चासीद्दृष्ट्वात्मानं तथागतम् ॥१६॥

हे रघुनन्दन! तदनन्तर जब उसने अपनी और अपनी सेना की ओर दृष्टि डाली, तब उसने देखा कि, वह स्वयं और उसकी सेना के सब लोग, स्त्री बन गए हैं। यह देख, वह बड़ा दुःखी हुआ ॥१६॥

उमापतेश्च तत्कर्म ज्ञात्वा त्रासमुपागमत् ।
ततो देवं महात्मानं शितिकण्ठं कपर्दिनम् ॥१७॥
जगाम शरणं राजा सभृत्यबलवाहनः ।
ततः प्रहस्य वरदः सह देव्या महेश्वरः ॥१८॥

जब उसने यह जाना कि, शिव जी के प्रभाव से ऐसा हुआ है, तब वह राजा अत्यन्त भयभीत हो अपने अनुचरों, सैनिकों और वाहनों सहित; शितिकण्ठ, कपर्दी, महात्मा और देवदेव महादेव जी के शरण में गया। तब वरदानी शङ्कर पार्वती सहित हँस कर ॥१७॥१८॥

प्रजापतिसुतं वाक्यमुवाच वरदः स्वयम् ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे कार्दमेय महाबल ॥१६॥

प्रजापति के उस पुत्र से स्वयं बोले—हे राजर्षे ! कर्दम के पुत्र ! हे महाबली ! उठो उठो ॥१६॥

पुरुषत्वमृते सौम्य वरं वरय सुव्रत ।
ततः स राजा शोकार्तः प्रत्याख्यातो महात्मना ॥२०॥

हे सुव्रत ! पुरुषत्व प्राप्ति को छोड़ कर, और जो चाहो सो माँगो । जब भगवान् शिव ने इस प्रकार कहा; तब वह राजा इल बड़ा दुःखी हुआ ॥२०॥

स्त्रीभूतोऽसौ न जग्राह वरमन्यं सुरोत्तमात् ।
ततः शोकेन महता शैलराजसुतां नृपः ॥२१॥
प्रणिपत्य उमां देवीं सर्वेणैवान्तरात्मना ।
ईशे वराणां वरदे लोकानामसि भामिनी ॥२२॥

उसने सुरश्रेष्ठ शिव जी से अन्य कोई वर नहीं माँगा । फिर महादुःखी हो राजा ने शैलराज की बेटी उमा पार्वती को बड़ी भक्ति और नम्रता से प्रणाम कर, उनसे कहा—हे भवानी ! हे वरदायनी ! तुम सब लोकों और देवताओं को भी वर देने वाली हो ॥२१॥२२॥

अमोघदर्शने देवि भज सौम्येन चक्षुषा ।
हृद्गतं तस्य राजर्षेर्विज्ञाय हरसन्निधौ ॥२३॥

हे देवि ! तुम्हारा दर्शन सफल होता है । अब मेरे ऊपर कृपा-दृष्टि करो । राजा की प्रार्थना सुन और उसके मन की बात जान, शिव जी के निकट बैठी हुई ॥२३॥

प्रत्युवाच शुभं वाक्यं देवी रुद्रस्य संमता ।
अर्धस्य देवो वरदो वरार्धस्य तव ह्यहम् ॥२४॥

देवी पार्वती जी, शिव जी की अनुमति से राजा से यह सुन्दर वचन बोलीं—हे राजन् ! तुझे आधा वरदान तो महादेव जी दें और आधा मैं दूँगी ।२४॥

तस्मादर्धं गृहाण त्वं स्त्रीपुंसोर्यावदिच्छसि ।
तदद्भुततरं श्रुत्वा देव्या वरमनुत्तमम् ॥२५॥

अतः स्त्रीत्व और पुरुषत्व के सम्बन्ध में, मैं तुझे आधा वर दे सकती हूँ । जैसा वर चाहो वैसा तुम माँगो । इस प्रकार के पार्वती देवी के अद्भुत वचन सुन कर, ॥२५॥

सम्प्रहृष्टमना भूत्वा राजा वाक्यमथाब्रवीत् ।
यदि देवि प्रसन्ना मे रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥२६॥

राजा अत्यन्त हर्षित हो कहने लगा—हे अलौकिक-गुण रूप-भूषित-भगवति ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे यह वर दीजिए ॥२६॥

मासं स्त्रीत्वमुपासित्वा मासं स्यां पुरुषः पुनः ।
ईप्सितं तस्य विज्ञाय देवी सुरुचिरानना ॥२७॥

कि मैं एक मास तक स्त्री और एक मास तक पुरुष रहा करूँ । सुमुखी पार्वती ने राजा का अभीष्ट जान ॥२७॥

प्रत्युवाच शुभं वाक्यमेवमेव भविष्यति ।
राजन् पुरुषभूतस्त्वं स्त्रीभावं न स्मरिष्यसि ॥२८॥

यह सुन्दर वचन कहे—हे राजन् ! ऐसा ही होगा। जब तुम पुरुष रूप में रहोगे, तब तुम्हें अपने स्त्रीरूप का स्मरण नहीं रहेगा ॥२८॥

स्त्रीभूतश्च परं मासं न स्मरिष्यसि पौरुषम् ।
एवं स राजा पुरुषो मासं भूत्वाथ कार्दमिः ॥२९॥

और जब तुम स्त्री के रूप में रहोगे तब तुम्हें अपने पुरुषरूप का स्मरण न रहेगा। तदनुसार तब से कर्दम के पुत्र एक मास स्त्री और एक मास पुरुष रहने लगे ॥२९॥

त्रैलोक्यसुन्दरी नारी मासमेकमिलाभवत् ॥३०॥

इति सप्ताशीतितमः सर्गः ॥

जब राजा इल (एक मास तक) स्त्री के रूप में होते थे, तब वे ऐसी सुन्दरी युवती हो जाते थे कि, उनकी सुन्दरता की ख्याति तीनों लोकों में फैल जाती थी और उस समय उनका नाम इला हो जाता था ॥३०॥

उत्तरकाण्ड का सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

अष्टाशीतितमः सर्गः

—:o:—

तां कथामैलसम्बद्धां रामेण समुदीरिताम् ।
लक्ष्मणो भरतश्चैव श्रुत्वा परमविस्मितौ ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी के मुख से राजा इल सम्बन्धी कथा को सुन कर, भरत जी और लक्ष्मण जी अति विस्मित हुए ॥१॥

तौ रामं प्राञ्जली भूत्वा तस्य राज्ञो महात्मनः ।
विस्तरं तस्य भावस्य तदा पप्रच्छतुः पुनः ॥२॥

वे दोनों श्रीरामचन्द्र जी से उस महात्मा राजा इल की कथा विस्तार से सुनने की कामना से, हाथ जोड़ कर कहने लगे ॥२॥

कथं स राजा स्त्रीभूतो वर्तयामास दुर्गतिः ।
पुरुषः स यदा भूतः कां वृत्तिं वर्तयत्यसौ ॥३॥

जब राजा स्त्री होता था; तब वह क्या क्या दुर्गति भोगता और पुरुष होने पर क्या किया करता था ? ॥३॥

तयोस्तद्भाषितं श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितम् ।
कथयामास काकुत्स्थस्तस्य राज्ञो यथागमम् ॥४॥

भरत जी और लक्ष्मण जी के इस प्रकार कौतूहलपूर्ण वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उस राजा की (आगे की) कथा कहानी आरम्भ की ॥४॥

तमेव प्रथमं मासं स्त्री भूत्वा लोकसुन्दरी ।
ताभिःपरिवृता स्त्रीभिर्येऽस्य पूर्वं पदानुगाः ॥५॥

(श्री रामचन्द्र जी कहने लगे) प्रथम मास में जब वह लोक-सुन्दरी स्त्री हुआ, तब वह स्त्री बने हुए अपने नौकर चाकरों के साथ ॥५॥

तत्काननं विगाह्याशु विजह्रे लोकसुन्दरी ।
द्रुमगुल्मलताकीर्णं पद्भ्यां पद्मदलेक्षणा ॥६॥

उसी वन में घुस कर वह कमलनयनी स्त्री वन, पैदल हो घूमने फिरने लगा। उस वन में अनेक वृक्ष, लता और गुल्म आदि की मनोहर शोभा हो रही थी ॥६॥

वाहनानि च सर्वाणि संत्यक्त्वा वै समन्ततः।
पर्वताभोगविवरे तस्मिन् रेमे इला तदा ॥७॥

वहाँ वह इला नाम की सुन्दरी अपने समस्त वाहनों का त्याग कर पहाड़ी कन्दराओं में विचरण करने लगी ॥७॥

अथ तस्मिन् वनोद्देशे पर्वतस्याविदूरतः।
सरः सुरुचिरप्रख्यं नानापक्षिगणायुतम् ॥८॥

उस वन में पहाड़ के समीप विविध प्रकार के पशु पक्षियों से युक्त एक तालाब था ॥८॥

ददर्श सा इला तस्मिन् बुधं सोमसुतं तदा।
ज्वलन्तं स्वेन वपुषा पूर्णं सोममिवोदितम् ॥९॥

उस तालाब के समीप पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह प्रकाशमान चन्द्रपुत्र बुध को इला ने देखा ॥९॥

तपन्तं च तपस्तीव्रमंभोमध्ये दुरासदम्।
यशस्करं कामकरं कारुण्ये पर्यवस्थितम् ॥१०॥

वे उसी तालाब के जल के भीतर खड़े हुए उग्र तप कर रहे थे। वे बड़े यशस्वी, परोपकारी और दयालु जान पड़ते थे ॥१०॥

सा तं जलाशयं सर्वं क्षोभयामास विस्मिता।
सह तैः पूर्वपुरुषैः स्त्रीभूतै रघुनन्दन ॥११॥

हे लक्ष्मण! कुछ देर के बाद इला स्त्री ने स्त्रीरूपी अपने साथियों के साथ उस सरोवर पर जा और विस्मित हो, उस सरोवर का जल खलबला डाला ॥११॥

बुधस्तु तां समीक्ष्यैव कामबाणवशंगतः ।
नोपलेभे तदात्मानं स चचाल तदाम्भसि ॥१२॥

इला को देख, बुध कामदेव से पीड़ित हो, अपने को न सम्हाल सके और जल के भीतर चलायमान हो गए ॥१२॥

इलां निरीक्षमाणस्तु त्रैलोक्यादधिकां शुभाम् ।
चित्तं समभ्यतिक्रामत्कान्वियं देवताधिका ॥१३॥

त्रैलोक्यसुन्दरी इला की ओर देख कर, बुध मन ही मन कहने लगे कि, यह देवाङ्गना से भी बढ़ कर सुन्दरी स्त्री कौन है ॥१३॥

न देवीषु न नागीषु नासुरीष्वप्सरःसु च ।
दृष्टपूर्वा मया काचिद्रूपेणानेन शोभिता ॥१४॥

ऐसा सौन्दर्य तो मैंने आज तक किसी देवकन्या, नागकन्या, असुरतनया और अप्सरा में भी नहीं देखा ॥१४॥

सदृशीयं मम भवेद्यदि नान्यपरिग्रहः ।
इति बुद्धिं समास्थाय जलात्कूलमुपागमत् ॥१५॥

यदि इसका विवाह किसी पुरुष के साथ न हुआ, तो यह मेरे योग्य है। यह विचार कर बुध जी जल से निकल तट पर आए ॥१५॥

आश्रमं समुपागम्य ततस्ताः प्रमदोत्तमाः ।
शब्दापयत धर्मात्मा ताश्चैनं च ववन्दिरे ॥१६॥

तदनन्तर अपने आश्रम में जा, उन्होंने उन सुन्दरी स्त्रियों को बुलाया तब उन स्त्रियों ने वहाँ जा बुध को प्रणाम किया ॥१६॥

स ताः पप्रच्छ धर्मात्मा कस्यैषा लोकसुन्दरी ।
किमर्थमागता चैव सर्वमाख्यात मा चिरम् ॥१७॥

तब उनसे धर्मात्मा बुध पूँछने लगे कि, यह त्रैलोक्यसुन्दरी किसकी स्त्री है और किस लिए आई है? मुझे ये सब बातें तुरन्त बतलाओ ॥१७॥

शुभं तु तस्य तद्वाक्यं मधुरं मधुराक्षरम् ।
श्रुत्वा स्त्रियश्च ताः सर्वा ऊचुर्मधुरया गिरा ॥१८॥

बुध जी के ये मधुर सुन्दर वचन सुन कर, वे सब स्त्रियाँ मधुर वाणी से बोलीं ॥१८॥

अस्माकमेषा सुश्रोणी प्रभुत्वे वर्तते सदा ।
अपतिः काननान्तेषु सहास्माभिश्चरत्यसौ ॥१९॥

हे भगवन्! यह स्त्री हम सब की स्वामिनी है। इसका पति नहीं है। यह हमारे साथ इस वन के प्रान्तों में विचरती रहती है ॥१९॥

तद्वाक्यमव्यक्तपदं तासां स्त्रीणां निशम्य च ।
विद्यामावर्तनीं पुण्यामावर्तयत्स म द्विजः[१] ॥२०॥

उन स्त्रियों के ऐसे स्वच्छ वचन सुन कर, क्षत्रिय बुध जी ने अपनी आवर्तनी विद्या का स्मरण किया ॥२०॥

---

१ द्विजः—क्षत्रियोद्विजः। (गो०)

सोऽर्थं विदित्वा सकलं तस्य राज्ञो यथा तथा ।
सर्वा एव स्त्रियस्ताश्च बभाषे मुनिपुङ्गवः ॥२१॥

योगबल से इल राजा का सम्पूर्ण वृत्तान्त जान, बुधजी ने उन सब स्त्रियों से कहा ॥२१॥

अत्र किंपुरुषीभूत्वा शैलरोधसि वत्स्यथ ।
आवासस्तु गिरावस्मिन् शीघ्रमेव विधीयताम् ॥२२॥

अच्छा अब तुम सब किम्पुरुषी हो कर, इस पर्वतप्रान्त में रहा करो। लो अब देर न करो और अपने रहने के लिए घर बना लो ॥२२॥

मूलपत्रफलैः सर्वा वर्तयिष्यथ नित्यदा ।
स्त्रियः किंपुरुषान्नाम भर्तॄन् समुपलप्स्यथ ॥२३॥

यहाँ तुमको भोजन के लिए मूल, पत्र, फल आदि सदा मिल जाया करेंगे और तुम अपने लिए किम्पुरुष नामक पतियों को भी प्राप्त करोगे ॥२३॥

ताः श्रुत्वा सोमपुत्रस्य स्त्रियः किंपुरुषीकृताः ।
उपासांचक्रिरे शैलं बध्वस्ता बहुलास्तदा ॥२४॥

इति अष्टाशीतितमः सर्गः ॥

वे सब स्त्रियाँ यह जान कर कि, बुध ने हमें किम्पुरुषी (देवयोनि विशेष) बना दिया है, उस पर्वत पर सुन्दर स्थान बना रहने लगीं ॥२४॥

उत्तरकाण्ड का अट्ठासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:०:—

एकोननवतितमः सर्गः

—:०:—

श्रुत्वा किंपुरुषोत्पत्तिं लक्ष्मणो भरतस्तथा ।
आश्चर्यमिति च ब्रूतामुभौ रामं जनेश्वरम् ॥१॥

इस प्रकार किम्पुरुषी की उत्पत्ति सुन कर, भरत जी और लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ; यह तो (आपने) बड़ी अद्भुत कथा कही ॥१॥

अथ रामः कथामेतां भूय एव महायशाः ।
कथयामास धर्मात्मा प्रजापतिसुतस्य वै ॥२॥

तदनन्तर महायशस्वी महाराज श्रीरामचन्द्र जी पुनः धर्मात्मा प्रजापति के पुत्र इल की कथा कहने लगे ॥२॥

सर्वास्ता विहृता दृष्ट्वा किन्नरीर्ऋषिसत्तमः ।
उवाच रूपसम्पन्नां तां स्त्रियं प्रहसन्निव ॥३॥

(श्रीरामचन्द्र जी बोले) बुध ने अन्य समस्त किन्नरियों को विचरण करते देख, (एकान्त में इला को पा कर) उस रूप यौवनसम्पन्ना इला से हँस कर कहा, ॥३॥

सोमस्याहं सुदयितः सुतः सुरुचिरानने ।
भजस्व मां वरारोहे भक्त्या स्निग्धेन चक्षुषा ॥४॥

हे वरारोहे ! मैं चन्द्रमा का प्रिय पुत्र हूँ । प्यार की दृष्टि से मेरी ओर निहार कर, तू मुझे प्रीतिपूर्वक सन्तुष्ट कर ॥४॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शून्ये स्वजनवर्जिते ।
इला सुरुचिरप्रख्यं प्रत्युवाच महाप्रभम् ॥५॥

उस निर्जन स्थान में बुध जी के ऐसे प्यारे वचन सुन कर, इला, महाकान्तिसम्पन्न बुध से कहने लगी ॥५॥

अहं कामचरी सौम्य तवास्मि वशवर्तिनी ।
प्रशाधि मां सोमसुत यथेच्छसि तथा कुरु ॥६॥

हे सौम्य ! मैं स्वतंत्र हूँ और तुम्हारे वश में हूँ । हे चन्द्रपुत्र ! मुझे आज्ञा दीजिए और जैसा चाहिए वैसा कीजिए ॥६॥

तस्यास्तदद्भुतप्रख्यं श्रुत्वा हर्षमुपागतः ।
स वै कामी सह तया रेमे चन्द्रमसः सुतः ॥७॥

इला के इन अद्भुत वचनों को सुन, बुध बहुत प्रसन्न हुए और कामी चन्द्रमापुत्र बुध, इला के साथ विहार करने लगे ॥७॥

बुधस्य माधवो मासस्तामिलां रुचिराननाम् ।
गतोरमयतोऽत्यर्थं क्षणवत्तस्य कामिनः ॥८॥

कामासक्त बुध को उस सुन्दरी इला के साथ विहार करते करते वैशाख मास क्षण सा बीत गया ॥८॥

अथ मासे तु सम्पूर्णे पूर्णेन्दुसदृशाननः ।
प्रजापतिसुतः श्रीमान् शयने प्रत्यबुध्यत ॥९॥

सोऽपश्यत्सोमजं तत्र तपन्तं सलिलाशये ।
ऊर्ध्वबाहुं निरालम्बं तं राजा प्रत्यभाषत ॥१०॥

एक मास पूरा होने पर चन्द्रमा के समान मुख वाले प्रजापति के पुत्र इल ने जाग कर देखा कि, चन्द्रमा के पुत्र सरोवर में ऊपर को बाहें उठाए निरालंब तप कर रहे हैं। उस समय राजा इल ने उनसे कहा ॥६॥१०॥

भगवन् पर्वतं दुर्गं प्रविष्टोऽस्मि सहानुगः।
न च पश्यामि तत्सैन्यं क्व नु ते मामका गताः ॥११॥

हे भगवन्! मैं अपनी सेना को साथ लेकर, इस दुर्गम पर्वत पर आया था, किन्तु यहाँ उनमें से मुझे कोई नहीं देख पड़ता। वे मेरे साथी कहाँ चले गए? ॥११॥

तच्छ्रुत्वा तस्य राजर्षेर्नष्टसंज्ञस्य भाषितम्।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं सान्त्वयन् परया गिरा ॥१२॥

राजर्षि इल के, जो अपने स्त्रीभाव को भूल गए थे वचन सुन कर, बुध उनको समझाते हुए उनसे सुन्दर वाणी से बोले ॥१२॥

अश्मवर्षेण महता भृत्यास्ते विनिपातिताः।
त्वं चाश्रमपदे सुप्तो वातवर्षभयार्दितः ॥१३॥

पत्थरों की बड़ी भारी वर्षा हुई थी। उससे तुम्हारे सब सैनिक मरे पड़े हैं। वायु और वृष्टि के भय से पीड़ित हो, तुम इस आश्रम में सो जाने से बच गए ॥१३॥

समाश्वसिहि भद्रं ते निर्भयो विगतज्वरः।
फलमूलाशनो वीर निवसेह यथासुखम् ॥१४॥

हे वीर ! अब तुम सावधान और निर्भय हो जाओ। किसी बात की चिन्ता न करो और फल मूल खा कर, इस आश्रम में रहो ॥१४॥

राजा तेन वाक्येन प्रत्याश्वस्तो महामतिः ।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं दीनो भृत्यजनक्षयात् ॥१५॥

राजा इल अपने नौकरों का नाश होना सुन कर, बहुत दुःखी हुए ; किन्तु बुध की बातों से सावधान हो कर बोले ॥१५॥

त्यक्ष्याम्यहं स्वकं राज्यं नाहं भृत्यैर्विनाकृतः ।
वर्तयेयं क्षणं ब्रह्मन समनुज्ञातुमर्हसि ॥१६॥

हे ब्रह्मन् ! मैं नौकरों का नाश होने के कारण राजपाट त्याग दूँगा। क्योंकि उनके बिना मैं एक क्षण भर भी नहीं रह सकता अतः अब तुम मुझे जाने की आज्ञा दो ॥१६॥

सुतो धर्मपरो ब्रह्मन् ज्येष्ठो मम महायशाः ।
शशबिन्दुरिति ख्यातः स मे राज्यं प्रपत्स्यते ॥१७॥

हे ब्रह्मन् ! मेरा महायशस्वी धर्मात्मा शशबिन्दु नाम का ज्येष्ठ पुत्र राज्य करेगा ॥१७॥

नहि शक्ष्याम्यहं हित्वा भृत्यदारान् सुखान्वितान् ।
प्रतिवक्तुं महातेजः किञ्चिदप्यशुभं वचः ॥१८॥

सुखपूर्वक देश में बसने वाले अपने उन नौकरों की स्त्रियों को छोड़ कर, मैं यहाँ नहीं रह सकता। हे तेजस्वी ! तुम मुझसे यहाँ रहने के लिए अप्रिय वचन मत कहो ॥१८॥

तथा ब्रुवति राजेन्द्रे बुधः परममद्भुतम् ।
सान्त्वपूर्वमथोवाच वासस्त इह रोचताम् ॥१६॥

राजा इल के यह परम अद्भुत वचन सुन कर, बुध जी उनको समझा कर कहने लगे—आप यहाँ (कुछ दिनों) रहिये ॥१६॥

न सन्तापस्त्वया कार्यः कार्दमेय महाबल ।
संवत्सरोषितस्याद्य कारयिष्यामि ते हितम् ॥२०॥

हे कर्दम के पुत्र ! आप सन्ताप न करें । यदि आप एक वर्ष यहाँ रह जयँगे, तो मैं तुम्हारा अभीष्ट पूरा कर दूँगा ॥२०॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा बुधस्याक्लिष्टकर्मणः ।
वासाय विदधे बुद्धिं यदुक्तं ब्रह्मवादिना ॥२१॥

अक्लिष्टकर्मा बुध के ये वचन सुन कर और उन ब्रह्मवादी ऋषि के कथनानुसार राजा वहाँ रहने को राज़ी हो गये ॥२१॥

मासं स स्त्री तदा भूत्वा रमयत्यनिमं सदा ।
मासं पुरुषभावेन धर्मबुद्धिं चकार सः ॥२२॥

वे एक मास स्त्री बन कर बुध के साथ विहार करते और एक मास पुरुष बन कर धर्माचरण करते अथवा धर्मशास्त्र का अनुशीलन करते थे ॥२२॥

ततः सा नवमे मासि इला सोमसुतात्सुतम् ।
जनयामास सुश्रोणी पुरूरवसमूर्जितम् ॥२३॥

इस प्रकार रहते रहते नौ मास बीत गये, तब बुध से सुन्दरी इला ने पुरूरवा नाम का एक पुत्र उत्पन्न किया ॥२३॥

जातमात्रे तु सुश्रोणी पितुर्हस्ते न्यवेशयत् ।
बुधस्य समवर्णं च इला पुत्रं महाबलम् ॥२४॥

उस सुश्रोणि इला ने पत्र उत्पन्न होते ही उसे बुध को सौंप दिया । इला के पुत्र का (अपने पिता) बुध के समान रूप रंग और पराक्रम था ॥२४॥

बुधस्तु पुरुषीभूतं स वै संवत्सरान्तरम् ।
कथाभी रमयामास धर्मयुक्ताभिरात्मवान् ॥२५॥

इति एकोननवतितमः सर्गः ॥

एक वर्ष तक जब जब राजा इल पुरुष होते, तब तब बुध जी, उनको अनेक धर्मयुक्त कथाएँ सुना कर, उनका मन बहलाया करते थे ॥२५॥

उत्तरकाण्ड का नवासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—❀—

नवतितमः सर्गः

—:o:—

तथोक्तवति रामे तु तस्य जन्म तदद्भुतम् ।
उवाच लक्ष्मणो भूयो भरतश्च महायशाः ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी के मुख से इस प्रकार पुरूरवा के जन्म की इस अद्भुत कथा को सुन कर, लक्ष्मण और भरत जी महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी से फिर कहने लगे ॥१॥

इला सा सोमपुत्रस्य संवत्सरमथोषिता ।
अकरोत्किं नरश्रेष्ठ तत्त्वं शंसितुमर्हसि ॥२॥

तथा ब्रुवति राजेन्द्रे बुधः परममद्भुतम् ।
सान्त्वपूर्वमथोवाच वासस्त इह रोचताम् ॥१६॥

राजा इल के यह परम अद्भुत वचन सुन कर, बुध जी उनको समझा कर कहने लगे—आप यहाँ (कुछ दिनों) रहिये ॥१६॥

न सन्तापस्त्वया कार्यः कार्दमेय महाबल ।
संवत्सरोपितस्याद्य कारयिष्यामि ते हितम् ॥२०॥

हे कर्दम के पुत्र ! आप सन्ताप न करें । यदि आप एक वर्ष यहाँ रह जायँगे, तो मैं तुम्हारा अभीष्ट पूरा कर दूँगा ॥२०॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा बुधस्याक्लिष्टकर्मणः ।
वासाय विदधे बुद्धिं यदुक्तं ब्रह्मवादिना ॥२१॥

अक्लिष्टकर्मा बुध के ये वचन सुन कर और उन ब्रह्मवादी ऋषि के कथनानुसार राजा वहाँ रहने को राजी हो गये ॥२१॥

मासं स स्त्री तदा भूत्वा रमयत्यनिमं सदा ।
मासं पुरुषभावेन धर्मबुद्धिं चकार सः ॥२२॥

वे एक मास स्त्री बन कर बुध के साथ विहार करते और एक मास पुरुष बन कर धर्माचरण करते अथवा धर्मशास्त्र का अनुशीलन करते थे ॥२२॥

ततः सा नवमे मासि इला सोमसुतात्सुतम् ।
जनयामास सुश्रोणी पुरूरवसमूर्जितम् ॥२३॥

इस प्रकार रहते रहते नौ मास बीत गये, तब बुध से सुन्दरी इला ने पुरूरवा नाम का एक पुत्र उत्पन्न किया ॥२३॥

जातमात्रे तु सुश्रोणी पितुर्हस्ते न्यवेशयत् ।
बुधस्य समवर्णं च इला पुत्रं महाबलम् ॥२४॥

उस सुश्रोणि इला ने पुत्र उत्पन्न होते ही उसे बुध को सौंप दिया । इला के पुत्र का (अपने पिता) बुध के समान रूप रंग और पराक्रम था ॥२४॥

बुधस्तु पुरुषीभूतं स वै संवत्सरान्तरम् ।
कथाभी रमयामास धर्मयुक्ताभिरात्मवान् ॥२५॥

इति एकोननवतितमः सर्गः ॥

एक वर्ष तक जब जब राजा इल पुरुष होते, तब तब बुध जी, उनको अनेक धर्मयुक्त कथाएँ सुना कर, उनका मन बहलाया करते थे ॥२५॥

उत्तरकाण्ड का नवासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—❀—

नवतितमः सर्गः

—:o:—

तथोक्तवति रामे तु तस्य जन्म तदद्भुतम् ।
उवाच लक्ष्मणो भूयो भरतश्च महायशाः ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी के मुख से इस प्रकार पुरूरवा के जन्म की इस अद्भुत कथा को सुन कर, लक्ष्मण और भरत जी महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी से फिर कहने लगे ॥१॥

इला सा सोमपुत्रस्य संवत्सरमथोषिता ।
अकरोत्किं नरश्रेष्ठ तत्त्वं शंसितुमर्हसि ॥२॥

हे नरश्रेष्ठ ! एक वर्ष तक इला ने चन्द्रपुत्र बुध के आश्रम में रह कर और क्या क्या किआ, सो तुम सुनाओ ॥२॥

तयोस्तद्वाक्यमाधुर्यं निशम्य परिपृच्छतोः ।
रामः पुनरुवाचेदं प्रजापतिसुते कथाम् ॥३॥

भरत जी और लक्ष्मण जी के ये प्यारे वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी ने फिर प्रजापति के पुत्र राजा इल की कथा कहानी आरम्भ की ॥३॥

पुरुषत्वं गते शूरे बुधः परमबुद्धिमान् ।
संवर्तं परमोदारमाजुहाव महायशाः ॥४॥
च्यवनं भृगुपुत्रं च मुनिं चारिष्टनेमिनम् ।
प्रमोदनं मोदकरं ततो दुर्वाससं मुनिम् ॥५॥
एतान् सर्वान् समानीय वाक्यज्ञस्तत्त्वदर्शनः ।
उवाच सर्वान् सुहृदो धैर्येण सुसमाहितान् ॥६॥

(वे बोले) जब बारहवें मास में महाबली राजा इल पुनः पुरुष हुए, तब महायशस्वी सम्वर्त, भृगुपुत्र च्यवन, अरिष्टनेमि प्रमोदन, मोदकर, दुर्वासा आदि ऋषियों को बुला कर, वाक्य जानने वाले एवं तत्त्वदर्शी बुध ने, उन अपने सब मित्रों से धीरतापूर्वक बड़ी सावधानी से कहा ॥४।५॥६॥

अयं राजा महाबाहुः कर्दमस्य इलः सुतः ।
जानीतैनं यथाभूतं श्रेयो ह्यत्र विधीयताम् ॥७॥

भाइयो ! ये कर्दम प्रजापति के पुत्र महाबली राजा इल हैं । इनकी जो दशा है वह आप लोग जानते ही हैं अतः आप लोग कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिससे इनका भला हो ॥७॥

तेषां संवदतामेव द्विजैः सह महात्मभिः ।
कर्दमस्तु महातेजास्तदाश्रममुपागमत् ॥८॥

इस प्रकार वे लोग आपस में बातचीत कर ही रहे थे कि, इतने में महातेजस्वी महात्मा कर्दम जी, बहुत से मुनियों को साथ लिए हुए वहाँ आ पहुँचे ॥८॥

पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव वषट्कारस्तथैव च ।
ओङ्कारश्च महातेजास्तमाश्रममुपागमन् ॥९॥

पुलस्त्य, क्रतु, वषट्कार ओङ्कार (नामक ऋषि) आदि समस्त महातेजस्वी ऋषिगण, बुध जी के आश्रम में एकत्र हुए ॥९॥

ते सव हृष्टमनसः परस्परसमागमे ।
हितैषिणो वाह्लिपतेः पृथग्वाक्यान् यथाब्रुवन् ॥१०॥

वे एक दूसरे को देख प्रसन्न हुए और मिल कर वाह्लीश्वर राजा इल के उद्धार के लिए अलग अलग सम्मतियाँ देने लगे ॥१०॥

कर्दमस्त्वब्रवीद्वाक्यं सुतार्थं परमं हितम् ।
द्विजाः शृणुत मद्वाक्यं यच्छ्रेयः पार्थिवस्य हि ॥११॥

कर्दममुनि ने अपने पुत्र की भलाई के लिए सम्मति देते हुए कहा—हे ब्राह्मणों ! इस राजा की भलाई के लिए जो मैं कहूँ, उसे सुनो ॥११॥

नान्यं पश्यामि भैषज्यमन्तरा वृषभध्वजम् ।
नाश्वमेधात्परो यज्ञः प्रियश्चैव महात्मनः ॥१२॥

मेरी समझ में शिव जी को छोड़ कर, इसकी और कोई दवाई नहीं है और शिव जी को अश्वमेध से बढ़ कर प्यारा अन्य कोई यज्ञ नहीं है ॥१२॥

तस्माद्यजामहे सर्वे पार्थिवार्थे दुरासदम् ।
कर्दमेनैव मुक्तास्तु सर्व एव द्विजर्षभाः ॥१३॥

अतएव इस राजा की भलाई के लिए और शिव जी को प्रसन्न करने के लिए आओ अश्वमेध यज्ञ करें। कर्दम के ये वचन सुन वे सब ब्राह्मणश्रेष्ठ ॥१३॥

रोचयन्ति स्म तं यज्ञं रुद्रस्याराधनं प्रति ।
संवर्तस्य तु राजर्षिः शिष्यः परपुरञ्जयः ॥१४॥

मरुत्त इति विख्यातस्तं यज्ञं समुपाहरत् ।
ततो यज्ञो महानासीद्बुधाश्रमसमीपतः ॥१५॥

शिव जी की प्रसन्नता के लिए अश्वमेध ही को अच्छा मानते हुए वे अश्वमेध करने को राज़ी हुए। राजर्षि सम्वर्त ऋषि के शिष्य शत्रुतापन मरुत ने यज्ञ का भार अपने ऊपर लिया। बुध के आश्रम के समीप ही वह यज्ञ किया गया ॥१४॥१५॥

रुद्रश्च परमं तोषमाजगाम महायशाः ।
अथ यज्ञे समाप्ते तु प्रीतः परमया मुदा ॥१६॥

अश्वमेधयज्ञ से महायशस्वी शिव जी बहुत प्रसन्न हुए और यज्ञ के समाप्त होने पर बड़ी प्रीति के साथ हर्षित हो ॥१६॥

उमापतिर्द्विजान् सर्वानुवाच इलसन्निधौ ।
प्रीतोऽस्मि हयमेधेन भक्त्या च द्विजसत्तमाः ॥१७॥

उन्होंने इल के सामने, समस्त ब्राह्मणो से कहा—हे ब्राह्मणो! इस यज्ञ से और आप लोगों की भक्ति से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ ॥१७॥

अस्य बाह्लिपतेश्चैव किं करोमि प्रियं शुभं ।
तथा वदति देवेशे द्विजास्ते सुसमाहिताः ॥१८॥

आप लोग बतलाइये कि, इस बाह्लीकपति के लिए मैं क्या करूँ? जब शिव जी ने यह कहा; तब उन ब्राह्मणों ने सावधानता पूर्वक ॥१८॥

प्रसादयन्ति देवेशं यथा स्यात्पुरुषस्त्विला ।
ततः प्रीतो महादेवः पुरुषत्वं ददौ पुनः ॥१९॥

शिव जी को प्रसन्न कर यही वर माँगा कि—इल को सदैव काल के लिए पुरुषत्व प्रदान कीजिए। तब शिव जी ने प्रसन्न हो इल को सदा के लिए पुरुषत्व प्रदान कर दिया ॥१९॥

इलायै सुमहातेजा दत्वा चान्तरधीयत ।
निवृत्ते हयमेधे च गते चादर्शनं हरे ॥२०॥

इल को यह वर दे शिव जी अन्तर्धान हो गए। जब शिव अन्तर्धान हो गए और वह यज्ञ भी समाप्त हो चुका ॥२०॥

यथागतं द्विजाः सर्वे ते गच्छन् दीर्घदर्शिनः ।
राजा तु बाह्लिमुत्सृज्य मध्यदेशे ह्यनुत्तमम् ॥२१॥

तब वे सब ज्ञानी ऋषिगण भी अपने अपने आश्रमों को चले गए। राजा इल ने भी वाह्लीक देश को त्याग कर सुन्दर मध्य देश में ॥२१॥

निवेशयामास पुरं प्रतिष्ठानं यशस्करम् ।
शशबिन्दुश्च राजर्षिर्बाह्लिं परपुरञ्जयः ॥२२॥

प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग से पूर्व, गङ्गा पार झूसी) नामक नगर बसाया; जो पीछे बड़ा प्रसिद्ध हुआ उसने बाह्लीक में अपने पुत्र शशबिन्दु को राजा बनाया। शशबिन्दु बड़ा प्रतापी और शत्रु का नाश करनेवाला था ॥२२॥

प्रतिष्ठाने इलो राजा प्रजापतिसुतो बली ।
स काले प्राप्तवाँल्लोकमिलो ब्राह्ममनुत्तमम् ॥२३॥

प्रजापति के पुत्र महाबली राजा इल प्रतिष्ठानपुर में बहुत दिनों तक राज्य कर, अन्त में ब्रह्मलोक सिधारे ।।२३॥

ऐलः पुरूरवा राजा प्रतिष्ठानमवाप्तवान् ।
ईदृशो ह्यश्वमेधस्य प्रभावः पुरुषर्षभ ॥२४॥

इल से उत्पन्न पुरूरवा प्रतिष्ठानपुर के राजा हुए। हे पुरुषश्रेष्ठ ! अश्वमेध यज्ञ का ऐसा प्रभाव है ॥२४॥

स्त्रीपूर्वः पौरुषं लेभे यच्चान्यदपि दुर्लभम् ॥२५॥

इति नवतितमः सर्गः ॥

राजा इल ने स्त्रीत्व त्याग कर, अश्वमेध के प्रभाव ही से सदा के लिए पुरुषत्व प्राप्त किया, जिसका प्राप्त करना अन्य किसी भी उपाय से असम्भव था ॥२५॥

उत्तरकाण्ड का नब्बेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

एकनवतितमः सर्गः

—:o:—

एतदाख्याय काकुत्स्थो भ्रातृभ्याममित प्रभः ।
लक्ष्मणं पुनरेवाह धर्मयुक्तमिदं वचः ॥१॥

अमित पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी अपने भाइयों को यह कथा सुना कर, फिर लक्ष्मण जी से धर्मयुक्त यह बचन बोले ॥१॥

वसिष्ठं वामदेवं च जावालिमथ कश्यपम् ।
द्विजांश्च सर्वप्रवरानश्वमेधपुरस्कृतान् ॥२॥

वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, कश्यप तथा अश्वमेध यज्ञ कराने में चतुर समस्त ब्राह्मणों को ॥२॥

एतान् सर्वान् समानीय मन्त्रयित्वा च लक्ष्मण ।
हयं लक्षणसम्पन्नं विमोक्ष्यामि समाधिना ॥३॥

बुलाओ और इन सब से परामर्श कर, सावधानतापूर्वक अच्छे लक्षणोंवाले घोड़े को उसकी पूजा कर के छोड़ूँगा ॥३॥

तद्वाक्यं राघवेणोक्तं श्रुत्वा त्वरितविक्रमः ।
द्विजान् सर्वान् समाहूय दर्शयामास राघवम् ॥४॥

श्रीराम जी के यह वचन सुन, फुर्तीले लक्ष्मण जी उन सब ब्राह्मणों को बुला लाए और श्रीरघुनाथ जी से उनको मिला दिया ॥४॥

ते दृष्ट्वा देवसङ्काशं कृतपादाभिवन्दम् ।
राघवं सुदुराधर्षमाशीर्भिः समपूजयन् ॥५॥

वे सब ब्राह्मण देवता के समान दुर्धर्ष, रघुनाथ जी को प्रणाम करते देख, उनको आशीर्वाद देने लगे ॥५॥

प्राञ्जलिः स तदा भूत्वा राघवो द्विजसत्तमान् ।
उवाच धर्मसंयुक्तमश्वमेधाश्रितं वचः ॥६॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणों को प्रणाम कर अश्वमेधयज्ञ के सम्बन्ध में धर्मयुक्त वचन कहे ॥६॥

तेऽपि रामस्य तच्छ्रुत्वा नमस्कृत्वा वृषध्वजम् ।
अश्वमेधं द्विजाः सर्वे पूजयन्ति स्म सर्वशः ॥७॥

ब्राह्मणों ने भी श्रीराम जी के उन वचनों को सुन, शिव जी को प्रणाम किया और श्रीरामचन्द्र जी के अश्वमेध सम्बन्धी विचार की प्रशंसा करते हुए, उसका अनुमोदन किया ॥७॥

स तेषां द्विजमुख्यानां वाक्यमद्भुतदर्शनम् ।
अश्वमेधाश्रितं श्रुत्वा भृशं प्रीतोऽभवत्तदा ॥८॥

श्रीरामचन्द्र जी उन श्रेष्ठ ब्राह्मणों से अश्वमेध का अद्भुत माहात्म्य सुन, बहुत प्रसन्न हुए ॥८॥

विज्ञाय कर्म तत्तेषां रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
प्रेषयस्व महाबाहो सुग्रीवाय महात्मने ॥९॥

ब्राह्मणों को अश्वमेधयज्ञ कराने के लिए राजी देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा—हे महाबाहो! दूत भेज कर सुग्रीव को बुला लो ॥९॥

यथा महद्भिर्हरिभिर्बहुभिश्च वनौकसाम् ।
सार्धमागच्छ भद्रं ते अनुभोक्तुं महोत्सवम् ॥१०॥

जिससे वे भी वानरों और भालुओं को साथ ले यज्ञमहोत्सव देखने को आवें ॥१०॥

विभीषणश्च रक्षोभिः कामगैर्बहुभिर्वृतः ।
अश्वमेधं महायज्ञमायात्वतुलविक्रमः ॥११॥

अतुल विक्रमी विभीषण को भी बुलवा लो, जिससे वे भी इच्छाचारी बहुत से राक्षसों को साथ ले अश्वमेध महायज्ञ देखने के लिए आ जाँय ॥११॥

राजानश्च महाभागा ये मे प्रियचिकीर्षवः ।
सानुगाः क्षिप्रमायान्तु यज्ञभूमिनिरीक्षकाः ॥१२॥

इनके अतिरिक्त जो महाभाग राजा लोग मेरे हितैषी हैं, अपने अपने अनुचरों सहित यज्ञभूमि का निरीक्षण करने को बुला लिए जाँय ॥१२॥

देशान्तरगता ये च द्विजा धर्मसमाहिताः ।
आमन्त्रयस्व तान् सर्वानश्वमेधाय लक्ष्मण ॥१३॥

जो ब्राह्मण देश देशान्तर में रहने वाले हैं और अपने धर्मानुष्ठान में सावधान रहते हैं, वे सब भी बुलवा लिए जाँय ॥१३॥

ऋषयश्च महाबाहो आहूयन्तां तपोधनाः ।
देशान्तरगताः सर्वे सदाराश्च द्विजातयः ॥१४॥

हे लक्ष्मण ! ऋषि और तपस्वियों को बुला लो तथा देशान्तर-वासी (गृहस्थ) ब्राह्मणों को उनकी पत्नियों सहित बुलवा लो ॥१४॥

तथैव तालावचरास्तथैव नटनर्तकाः ।
यज्ञवाटश्च सुमहान गोमत्या नैमिषे वने ॥१५॥

गाने बजाने वाले नटों और नर्त्तकों को बुला लो । गोमतीनदी के तट पर नैमिषारण्य में बड़ी भारी यज्ञशाला बनवाई जाय॥१५॥

आज्ञाप्यतां महाबाहो तद्धि पुण्यमनुत्तमम् ।
शान्तयश्च महाबाहो प्रवर्तन्तां समन्तः ॥१६॥

वह बड़ा पुण्यस्थान अर्थात् पवित्र स्थान है । वहाँ यज्ञमण्डप बनाने के लिए नौकरों को आज्ञा दो । तुम सब ओर सावधानी रखो, जिससे किसी प्रकार का विघ्न न होने पावे—सर्वत्र शान्ति बनी रहे ॥१६॥

शतशश्चापि धर्मज्ञाः क्रतुमुख्यमनुत्तमम् ।
अनुभूय महायज्ञं नैमिषे रघुनन्दन ॥१७॥

वे महात्मा धर्मज्ञ लोग नैमिषारण्य में सहस्रों यज्ञ करवा चुके हैं । हे लक्ष्मण ! इससे वे लोग यज्ञ कराने की विधि को भली भाँति जानते हैं ॥१७॥

तुष्टः पुष्टश्च सर्वोऽसौ मानितश्च यथाविधि ।
प्रतियास्यति धर्मज्ञ शीघ्रमामन्त्र्यतां जनः ॥१८॥

उन लोगों को बुलाने के लिए किसी ऐसे जन को भेजो, जो दान मान से सन्तुष्ट कर, यथाविधि सब को आमंत्रित कर आवे ॥१८॥

शतं वाहसहस्राणां तण्डुलानां [१]वपुष्मताम् ।
अयुतं तिलमुद्गस्य प्रयात्वग्रे महाबल ॥१९॥

---

१ वपुष्मतामिति—अखण्डानामित्यर्थः । (गो०)

हे महाबली ! बिना टूटे बढ़िया चाँवलों के एक लाख और मूँग तथा तिल के दस हज़ार बैल अथवा गाड़ियाँ भरवा कर अभी भेज दो ॥१६॥

चणकानां कुलित्थानां माषाणां लवणस्य च ।
अतोऽनुरूपं स्नेहं च गन्धं संक्षिप्तमेव च ॥२०॥

इसीके अनुसार चना, कुलथी, उरद और नोन भेजा जाय । इस हिसाब से घी, तेल और सुगन्धित द्रव्य भेजे जाँय ॥२०॥

सुवर्णकोट्यो बहुला हिरण्यस्य शतोत्तराः ।
अग्रतो भरतः कृत्वा गच्छत्वग्रे समाधिना ॥२१॥

सौ करोड़ सोने की मोहरें और चांदी के रुपये ले कर भरत जी बड़ी सावधानी से पहिले ही से वहाँ जाँय ॥२१॥

अन्तरापणवीथ्यश्च सर्वे च नटनर्तकाः ।
सूदा नार्यश्च बहवो नित्यं यौवनशालिनः ॥२२॥

उनके साथ रास्ते के प्रबन्ध के लिए सौदागरी का सामान ले कर, बनिए व दूकानदार लोग भी जावें । नट, नर्तक, रसोइया, तथा अनेक युवती स्त्रियाँ (अर्थात् वेश्याएँ) भी भरत जी के साथ जाँय ॥२२॥

भरतेन तु सार्धं ते यान्तु सैन्यानि चाग्रतः ।
नैगमान् बालवृद्धांश्च द्विजांश्च सुसमाहिताः ॥२३॥
कर्मान्तिकान् वर्धकिनः कोशाध्यक्षांश्च नैगमान् ।
मम मातृस्तथा सर्वाः कुमारान्तः[१] पुराणि च ॥२४॥

[१] कुमारान्तःपुराणि--भरत लक्ष्मण शत्रुघ्नपत्न्यइत्यर्थः । (गो०)

भरत जी के आगे आगे सेना जाय। महाजन, बालक, वृद्ध, ब्राह्मण, राजगीर, बढ़ई, खजानची, सेठ साहूकार, मेरी माताओं, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की पत्नियों को लेकर भरत जी बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा करते हुए जावें ॥२३॥२४॥

काञ्चनीं मम पत्नीं च दीक्षायां ज्ञांश्च कर्मणि ।
अग्रतो भरतः कृत्वा गच्छत्वग्रे महायशाः ॥२५॥

महायशस्वी भरत जी यज्ञदीक्षा के लिए मेरी पत्नी सीता की सुवर्ण की प्रतिमा बनवा कर, अपने साथ ले कर आगे जाँय ॥२५॥

उपकार्या महार्हाश्च पार्थिवानां महौजसाम् ।
सानुगानां नरश्रेष्ठ व्यादिदेश महाबलः ॥२६॥

इस प्रकार आज्ञा दे, फिर कुटुम्बियों सहित आमंत्रित बड़े बड़े विक्रमी राजाओं के ठहरने के लिए, महाबली श्रीरामचन्द्र जी ने बड़े बड़े तंबू, रावटी, कनातों के भेजने की आज्ञा दी ॥२६॥

अन्नपानानि वस्त्राणि *अनुगानां महात्मनाम् ।
भरतः स तदा यातः शत्रुघ्नसहितस्तदा ॥२७॥

तदनन्तर भरत जी अपने साथ शत्रुघ्न जी को तथा अन्न, पान, वस्त्र और नौकर चाकरों को लिए हुए चले ॥२७॥

वानराश्च महात्मानः सुग्रीवसहितास्तदा ।
विप्राणां प्रवराः सर्वे चक्रुश्च परिवेषणम् ॥२८॥

इतने में यज्ञ का संवाद पाते ही महाबली सुग्रीव सहित वानरगण भी आ पहुँचे और ब्राह्मणश्रेष्ठों की परिचर्या करने लगे ॥२८॥

---

* पाठान्तरे—"सानुगानाम् ।"

विभीषणश्च रक्षोभिः स्त्रीभिश्च बहुभिर्वृतः ।
ऋषीणामुग्रतपसां पूजां चक्रे महात्मनाम् ॥२६॥

इति एकनवतितमः सर्गः ॥

विभीषण जी भी अनेक राक्षसों और राक्षसस्त्रियों को साथ ले कर आ पहुँचे और बड़े बड़े तपस्वी महात्मा ऋषियों की सेवा करने लगे ॥२६॥

उत्तरकाण्ड का इक्यानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—:*:—

द्विनवतितमः सर्गः

—:o:—

तत्सर्वमखिलेनाशु प्रस्थाप्य भरताग्रजः ।
हयं लक्षणसम्पन्नं कृष्णसारं मुमोच ह ॥१॥

इस प्रकार सब सामग्री भिजवा कर; श्रीरामचन्द्र जी ने समस्त अच्छे लक्षणों से युक्त काले रंग का घोड़ा छोड़ा ॥१॥

ऋत्विग्भिर्लक्ष्मणं सार्धमश्वे च विनियुज्य च ।
ततोऽभ्यगच्छत् काकुत्स्थः सह सैन्येन नैमिषम् ॥२॥

घोड़े की रखवाली के लिए उसके साथ लक्ष्मण जी को तथा ऋत्विजों को भेज, पीछे से सेना सहित श्रीरामचन्द्र जी नैमिषारण्य के लिए प्रस्थानित हुए ॥२॥

यज्ञवाटं महाबाहुर्दृष्ट्वा परममद्भुतम् ।
प्रहर्षमतुलं लेभे श्रीमानिति च सोऽब्रवीत् ॥३॥

महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी नैमिषारण्य में पहुँच और वहाँ अद्भुत यज्ञमण्डप देख कर तथा हर्षित हो कहने लगे, यह बहुत ठीक बना है ॥३॥

नैमिषे वसतस्तस्य सर्व एव नराधिपाः ।
आनिन्युरुपहारांश्च तान् रामः प्रत्यपूजयत् ॥४॥

(श्रीरामचन्द्र जी के पहुँचने के पूर्व) जो राजा नैमिषारण्य में (पहुँच चुके थे और) ठहरे हुए थे, उन लोगों ने श्रीरामचन्द्र जी को भेंटें (नज़राने) दिए। श्रीरामचन्द्र जी ने उन (नज़रों) को ले, उनका (भेंट देने वालों का) सत्कार किया ॥४॥

अन्नपानादिवस्त्राणि सर्वोपकरणानि च ।
भरतः सहशत्रुघ्नो नियुक्तो राजपूजने ॥५॥

अन्न, पान, वस्त्रादि सब सामान उन राजाओं के डेरों पर पहुँचवा दिए। भरत और शत्रुघ्न जी राजाओं की सेवा शुश्रूषा (खातिरदारी) में नियुक्त थे ॥५॥

वानराश्च महात्मानः सुग्रीवसहितास्तदा ।
परिवेषणं च विप्राणां प्रयताः सम्प्रचक्रिरे ॥६॥

सुग्रीव सहित बड़े बड़े बली वानर आमंत्रित ब्राह्मणों की सावधानी से परिचर्या में नियत थे ॥६॥

विभीषणश्च रक्षोभिर्बहुभिः सुसमाहितः ।
ऋषीणामुग्रतपसां किङ्करः समपद्यत ॥७॥

विभीषण जी भी अनेक राक्षसों सहित, सावधानी से आमंत्रित तपस्वी ऋषियों की सेवा शुश्रूषा करते थे ॥७॥

उपकार्या महार्हाश्च पार्थिवानां महात्मनाम् ।
सानुगानां नरश्रेष्ठो व्यादिदेश महाबलः ॥८॥

बड़े बड़े राजाओं को उनके परिवार तथा नौकरों चाकरों सहित बढ़िया तंबुओं में ठहरने (तथा उनकी अन्य सुविधाओं) की देख-भाल महाबली श्रीरामचन्द्र जी स्वयं करते थे ॥८॥

एवं सुविहितो यज्ञो ह्यश्वमेधो ह्यवर्तत ।
लक्ष्मणेन सुगुप्ता सा हयचर्या प्रवर्तत ॥९॥

इस प्रकार (बड़ी धूमधाम से) विधिपूर्वक यज्ञ आरम्भ किया गया। लक्ष्मण जी घोड़े की परिचर्या और रक्षा में नियुक्त थे ॥९॥

ईदृशं राजसिंहस्य यज्ञप्रवरमुत्तमम् ।
नान्यः शब्दोऽभवत्तत्र हयमेधे महात्मनः ॥१०॥
छन्दतो देहि विस्रब्धो यावत्तुष्यन्ति याचकाः ।
तावत् सर्वाणि दत्तानि क्रतुमुख्ये महात्मनः ॥११॥

राजसिंह महाराज श्रीरामचन्द्र जी के उस श्रेष्ठ यज्ञ में, जब तक यज्ञ हुआ, तब तक, यही सुन पड़ा कि, माँगने वाले जो माँगें वही उनको दे कर, वे सन्तुष्ट किए जाँय। तदनुसार ही उस यज्ञ में सदा सब को सब वस्तुएँ दी भी जाती थीं ॥१०॥११॥

विविधानि च गौडानि खाण्डवानि तथैव च ।
न निःसृतं भवत्योष्ठाद्वचनं यावदर्थिनाम् ॥१२॥

ढेर की ढेर अनेक प्रकार की गुड़ और खाँड़ की मिठाइयाँ नित्य प्रातःकाल तैयार की जाती थीं (और सन्ध्या होते होते

वे सब की सब बाँट दी जाती थीं) माँगने वाले के मुख से अपेक्षित वस्तु का नाम निकलने की देर थी, किन्तु उस वस्तु के देने में विलम्ब नहीं होता था ॥१२॥

तावद्वानररक्षोभिर्दत्तमेवाभ्यदृश्यत ।
न कश्चिन्मलिनो वापि दीनो वाप्यथवा कृशः ॥१३॥

क्योंकि मुँह से वस्तु का नाम निकलते ही वानर और राक्षस माँगने वाले को वह वस्तु दे देते थे। उस यज्ञ में कोई भी जन मैला कुचैला, दीन हीन अथवा दुबला पतला नहीं देख पड़ता था ॥१३॥

तस्मिन् यज्ञवरे राज्ञो हृष्टपुष्टजनावृते ।
ये च तत्र महात्मानो मुनयश्चिरजीविनः ॥१४॥

बल्कि उस यज्ञ में सब लोग हट्टे कट्टे मोटे ताजे देख पड़ते थे। उस यज्ञ में जो मार्कण्डेयादि बड़े बड़े पुराने अर्थात् बूढ़े बूढ़े मुनिगण थे ॥१४॥

नस्मरंस्तादृशं यज्ञं दानौघसमलंकृतम् ।
यः कृत्यवान् सुवर्णेन सुवर्णं लभते स्म सः ॥१५॥

वे कहते थे कि, हमने (अपनी सारी उम्र में) किसी यज्ञ में भी ऐसा दान नहीं देखा। जो सोना माँगता उसे सोना मिलता ॥१५॥

वित्तार्थी लभते वित्तं रत्नार्थी रत्नमेव च ।
हिरण्यानां सुवर्णानां रत्नानामथ वाससाम् ॥१६॥

अनिशं दीयमानानां राशिः समुपदृश्यते ।
न शक्रस्य न सोमस्य यमस्य वरुणस्य च ॥१७॥

ईदृशो दृष्टपूर्वो न एवमूचुस्तपोधनाः ।
सर्वत्र वानरास्तस्थुः सर्वत्रैव च राक्षसाः ॥१८॥

वित्त माँगने वाले को वित्त, रत्न माँगने वाले को रत्न दिए जाते थे। सोने और कपड़े आदि के ढेर के ढेर दान के लिए लगे हुए थे। न तो इन्द्र ही, न चन्द्र, न यम और न वरुणादि देवताओं के यहाँ हम लोगों ने ऐसा यज्ञ होते कभी देखा। वे सब बूढ़े बूढ़े तपस्वी इस प्रकार कहते थे। जहाँ देखो वहीं वानर और राक्षस ॥१६॥१७॥१८॥

वासोधनान्नकामेभ्यः पूर्णहस्ता ददुर्भृशम्
ईदृशो राजसिंहस्य यज्ञः सर्वगुणान्वितः ।
संवत्सरमथो साग्रं वर्तते न च हीयते ॥१६॥

इति द्विनवतितमः सर्गः ॥

वस्त्र, धन, अन्नादि लिये हुए देने को तैयार खड़े देख पड़ते थे। इस प्रकार सर्व गुण सम्पन्न राजसिंह श्रीरामचन्द्र जीका यज्ञ (कुछ दिनों तक ही नहीं, बल्कि) एक वर्ष से ऊपर कुछ दिनों तक हुआ; किन्तु उस यज्ञ में किसी वस्तु की त्रुटि नहीं हुई अर्थात् कोई वस्तु घटी नहीं ॥१६॥

उत्तरकाण्ड का बानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

त्रिनवतितमः सर्गः

—:o:—

वर्तमाने तथा भूते यज्ञे च परमाद्भुते ।
सशिष्य आजगामाशु वाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥१॥

इस प्रकार वह परमाद्भुत यज्ञ हो ही रहा था कि, इतने में वहाँ अपने शिष्यवर्ग को साथ लिए हुए भगवान् वाल्मीकि जी जा पहुँचे ॥१॥

स दृष्ट्वा दिव्यसङ्काशं यज्ञमद्भुतदर्शनम् ।
एकान्त ऋषिसङ्घातश्चकार उटजान्शुभान् ॥२॥

वे उस परमाद्भुत यज्ञ को देख, जहाँ ऋषि लोग ठहरे हुए थे, वहाँ से पास ही, एकान्त स्थान में कुटियां बनवा ठहर गए ॥२॥

शकटांश्च बहून् पूर्णान् फलमूलांश्च शोभनान् ।
वाल्मीकिवाटे रुचिरे स्थापयन्नविदूरतः ॥३॥

ऋषियों के भोजन योग्य सुन्दर फल मूल आदि भोज्य पदार्थों से भरी बैल गाड़ियाँ वाल्मीकि जी की कुटी के पास खड़ी की गईं ॥३॥

स शिष्यावब्रवीद्धृष्टौ युवां गत्वा समाहितौ ।
कृत्स्नं रामायणं काव्यं गायतां परया मुदा ॥४॥

अब वाल्मीकि मुनि ने अपने दो शिष्यों अर्थात् कुश और लव से कहा कि, तुम लोग यज्ञभूमि में घूम फिर कर, परम प्रसन्नता पूर्वक, समस्त रामायण गा गा कर लोगों को सुनाओ ॥४॥

ऋषिवाटेषु पुण्येषु ब्राह्मणावसथेषु च ।
रथ्यासु राजमार्गेषु पार्थिवानां गृहेषु च ॥५॥
रामस्य भवनद्वारि यत्र कर्म च कुर्वते ।
ऋत्विजामग्रतश्चैव तत्र गेयं विशेषतः ॥६॥

(यज्ञभूमि के स्थान विशेषों का निर्देश करते हुए महर्षि कहते हैं) ऋषियों के पवित्र आश्रमों में, (गृहस्थ) ब्राह्मणों के डेरों में, गलियों में, राजमार्गों में, राजाओं के डेरों में और श्रीरामचन्द्र जी के भवनद्वार पर, जहाँ ब्राह्मण लोग यज्ञानुष्ठान कर रहे हैं, तथा विशेष कर ऋत्विजों की सन्निधि में तुम रामायण काव्य का गान करो ॥५॥६॥

इमानि च फलान्यत्र स्वादूनि विविधानि च ।
जातानि पर्वताग्रेषु आस्वाद्यास्वाद्य गायताम् ॥७॥

ये जो अमृत के समान मीठे स्वादिष्ट पहाड़ी फल हैं, इनको खा खा कर तुम इस काव्य को गाना ॥७॥

न यास्यथः श्रमं वत्सौ भक्षयित्वा फलान्यथ ।
मूलानि च सुमृष्टानि न रागात्परिहास्यथः ॥८॥

क्योंकि हे वत्स ! यदि तुम इन फलों को खा खा कर गान करोगे; तो तुम थकोगे नहीं और तुम्हारा कण्ठस्वर (आवाज़) भी नहीं बिगड़ेगा । क्योंकि मीठे फल मूल खाने से स्वर नहीं बिगड़ता ॥८॥

यदि शब्दापयेद्रामः श्रवणाय महीपतिः ।
ऋषीणामुपविष्टानां यथायोगं प्रवर्तताम् ॥९॥

यदि महाराज श्रीरामचन्द्र तुमको बुला कर, तुम्हारा गान सुनना चाहें, तो तुम उनके पास चले जाना । ऋषियों के सामने जाने पर उनको प्रणामादि कर, गाना आरम्भ करना ॥९॥

दिवसे विंशतिः सर्गा गेया मधुरया गिरा ।
प्रमाणैर्बहुभिस्तत्र यथोद्दिष्टं मया पुरा ॥१०॥

मैंने जिस प्रमाण से सर्ग बना कर तुमको बतला दिए हैं, तदनुसार ही तुम एक दिन में बीस सर्ग मधुर स्वर से गाना ॥१०॥

लोभश्चापि न कर्तव्यः स्वल्पोऽपि धनवांछया ।
किं धनेनाश्रमस्थानां फलमूलाशिनां तदा ॥११॥

यदि कोई तुम्हारा गान सुन, तुम्हें धनादि देने लगे, तो धन के लोभ में जरा भी मत फँस जाना (अर्थात् ले मत लेना) और देने वाले से कह देना कि, हम लोग फलमूलाहारी एवं आश्रम-वासियों को धन से क्या प्रयोजन है। (अर्थात् वन में स्वच्छन्द उत्पन्न होने वाले फल मूलों से हमारा पेट भर जाता है—सो हमें हलुआ पूड़ी लड्डू जलेबी खाने के लिए धन अपेक्षित नहीं है। फिर हम कुटियों में रहते हैं। अतः हमें हवेलियाँ या बड़े बड़े भवन बनवाने के लिए भी धन की आवश्यकता नहीं है) ॥११॥

यदि पृच्छेत् स काकुत्स्थो युवां कस्येतिदारकौ ।
वाल्मीकेरथ शिष्यौ द्वौ ब्रूतमेवं नराधिपम् ॥१२॥

यदि महाराज श्रीरामचन्द्र जी पूँछें कि, तुम कौन हो ? किसके पुत्र हो ? तो उनसे इतना ही कहना कि, हम वाल्मीकि के शिष्य हैं ॥१२॥

इमास्तंत्रीः सुमधुराः स्थानं वाऽपूर्वदर्शनम् ।
मूर्छयित्वा सुमधुरं गायतां विगतज्वरौ ॥१३॥

यह वीणा लेते जाओ। इसके स्थान (परदे) अथवा (आरोह अवरोह) तुम जानते ही हो ! सो अपने स्वर से वीणा का स्वर मिला कर मधुर मधुर बजा कर, अपूर्व लयताल मूर्छना सहित निश्चिन्त हो तुम दोनों गाना ॥१३॥

आदिप्रभृति गेयं स्यान्न चावज्ञाय पार्थिवम् ।
पिता हि सर्वभूतानां राजा भवति धर्मतः ॥१४॥

प्रथम कथा ही से गाना आरम्भ करना। तुम ऐसी नम्रता से व्यवहार करना, जिससे महाराज (या अन्य राजाओं) के सामने तुम अशिष्ट (बदूतमीज़) न समझे जाओ अथवा जिससे महाराज का अपमान न हो। क्योंकि धर्म से राजा समस्त प्राणियों का पिता है ॥१४॥

तद्युवां हृष्टमनसौ श्वः प्रभाते समाहितौ ।
गायतं मधुरं गेयं तंत्रीलयसमन्वितम् ॥१५॥

सो तुम हर्षित हो कल सबेरे से वीणा के ऊपर तालस्वर से इस काव्य का गाना आरम्भ कर देना ॥१५॥

इति सन्दिश्य बहुशो मुनिः प्राचेतसस्तदा ।
वाल्मीकिः परमोदारस्तूष्णीमासीन् महामुनिः ॥१६॥

प्राचेतस मुनि वाल्मीकि जी इस प्रकार उनको अनेक प्रकार के आदेश दे कर, चुप हो गए ॥१६॥

सन्दिष्टौ मुनिना तेन तावुभौ मैथिलीसुतौ ।
तथैव करवावेति निर्जग्मतुररिन्दमौ ॥१७॥

जब वाल्मीकि जी ने इस प्रकार उन शत्रुहन्ता दोनों मैथिली सुतों को उपदेश दिया तब वे दोनों बालक यह कह कि—"बहुत अच्छा जो आज्ञा" (अर्थात् आपके आज्ञानुसार ही हम करेंगे) वहाँ से चले आए ॥१७॥

तामद्भुतां तौ हृदये कुमारौ
निवेश्य वाणीमृषिभाषितां तदा ।
समुत्सुकौ तौ सुखमूषतुर्निशां
यथाश्विनौ भार्गवनीतिसंहिताम् ॥१८॥

इति त्रिनवतितमः सर्गः ॥

वे दोनों अत्यन्त उत्सुक कुमार, महर्षि वाल्मीकि के उस अद्भुत उपदेश को अपने मन में रख, हर्षित हो, उस आश्रम में वैसे ही रात में सोए, जैसे च्यवन के आश्रम में, शुक्र-नीति-संहिता का उपदेश पा कर, दोनों अश्विनीकुमार सोए थे ॥१८॥

उत्तरकाण्ड का तिरानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:❀:—

चतुर्नवतितमः सर्गः

—:❀:—

तौ रजन्यां प्रभातायां स्नातौ हुतहुताशनौ ।
यथोक्तमृषिणा पूर्वं सर्वं तत्रोपगायताम् ॥१॥

जब वह रात बीती और सवेरा हुआ तब मैथिलीनन्दन लव और कुश उठे और स्नानादि (आवश्यक) कृत्यों से निश्चिन्त हो, एवं अग्निहोत्र कर, वाल्मीकि जी के कथनानुसार श्रीमद्रामायण गाने लगे ॥१॥

तां स शुश्राव काकुत्स्थः पूर्वाचार्यविनिर्मिताम् ।
अपूर्वां पाठ्यजातिं च गेयेन समलंकृताम् ॥२॥

प्रमाणैर्बहुभिर्बद्धां तंत्रीलयसमन्विताम् ।
बालाभ्यां राघवः श्रुत्वा कौतूहलपरोऽभवत् ॥३॥

वाल्मीकिनिर्मित पाठ और गान के स्वरों से भूषित; ध्वनि, एवं परिच्छेदादि प्रमाणों से युक्त, बीणा के लय से मिश्रित, वह अपूर्व मनोहर काव्य उन ऋषिकुमारों के मुख से सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी को बड़ा कुतूहल हुआ ॥२॥३॥

[टिप्पणी—रामाभिरामी टीकाकार ने "आचार्येण" का अर्थ "भरतेन" किया है। अर्थात् भरताचार्य की गाने की रीति से।]

अथ कर्मान्तरे राजा समाहूय महामुनीन् ।
पार्थिवांश्च नरव्याघ्रः पण्डितान्नैगमांस्तथा ॥४॥

जब महाराज को यज्ञकार्य से अवकाश (फुरसत) मिला, तब पुरुषसिंह श्रीरघुनाथ जी ने महर्षियों, राजाओं, विद्वानों और सेठ साहूकारों को बुलवाया ॥४॥

पौराणिकाञ्शब्दविदो ये वृद्धाश्च द्विजातयः ।
स्वराणां लक्षणज्ञांश्च उत्सुकान् द्विजसत्तमान् ॥५॥
लक्षणज्ञांश्च गान्धर्वान्नैगमांश्च विशेषतः ।
पादाक्षर समासज्ञांश्छन्दःसु परिनिष्ठितान् ॥६॥
कलामात्राविशेषज्ञान् ज्योतिषे च परं गतान् ।
क्रियाकल्पविदश्चैव तथा कार्यविशारदान् ॥७॥
हेतूपचारकुशलान् हैतुकांश्च बहुश्रुतान् ।
छन्दोविदः पुराणज्ञान् वैदिकान् द्विजसत्तमान् ॥८॥

चित्रज्ञान्वृत्तसूत्रज्ञान्गीतनृत्यविशारदान् ।
एतान्सर्वान्समानीय गातारौ समवेशयत् ॥६॥

इनके अतिरिक्त पौराणिकों को, व्याकरणाचार्यों को तथा बूढ़े बूढ़े ब्राह्मणों को, षड्जादि स्वरों के ज्ञाताओं का, सङ्गीताचार्यों को, अन्य उत्कण्ठित ब्राह्मणश्रेष्ठ श्रोताओं को, सामुद्रिकाचार्यों को, सङ्गीतविद्या के जानने वाले पुरवासियों को, सङ्गीतकलानिधियों को, छन्दविद्या में निपुण ; पाद, अक्षर, समास गुरुलघु प्रयोग के ज्ञाता पिङ्गलशास्त्र के ज्ञाताओं को; कला, मात्रा, प्रस्तार, मेरु, मर्कटादि के ज्ञाताओं को, ज्योतिषाचार्यों को, व्यवहारकुशलों को, क्रिया कल्पसूत्र के ज्ञाताओं को, केवल व्यवहार ज्ञाताओं को, तर्कज्ञाताओं को, बहुश्रुतों को तथा छन्द, वेद और पुराणों के ज्ञाता ब्राह्मणों को, चित्रकाव्यज्ञों को, सूत्रज्ञों को, गान और नृत्य कलाओं मे कुशल लोगों को सभा में एकत्रकर श्रीरामचन्द्र जी ने लव कुश को बुलवाया ॥५॥६॥७॥८॥६॥

तेषां सं वदतां तत्र श्रोतॄणां हर्षवर्धनम् ।
गेयं प्रचक्रतुस्तत्र तावुभौ मुनिदारकौ ॥१०॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा पा कर, वे दोनों मुनि-कुमार सब लोगों के बीच में बैठ और श्रोताओं को हर्षित करते हुए, श्रीमद्रामायण को गाने लगे ॥१०॥

ततः प्रवृत्तं मधुरं गान्धर्वमतिमानुषम् ।
न च तृप्तिं ययुः सर्वे श्रोतारो गेयसम्पदा ॥११॥

जिस समय उन दोनों ने ताल·स्वर से युक्त वह अपूर्व काव्य गा कर सुनाया, उस समय सुनने वालों की तृप्ति ही न हुई, किन्तु वे सब उसे उत्तरोत्तर सुनने के लिए उत्सुक हुए ॥११॥

हृष्टा मुनिगणाः सर्वे पार्थिवाश्च महौजसः ।
पिबन्त इव चक्षुर्भिः पश्यन्ति स्म मुहुर्मुहुः ॥१२॥

वहाँ जितने राजा और ऋषि मुनि उपस्थित थे, वे सब के सब उन दोनों कुमारों की ओर बार बार ऐसे सतृष्ण नेत्रों से देख रहे थे, मानों उनको नेत्रों से पी जायँगे ॥१२॥

ऊचुः परस्परं चेदं सर्व एव समाहिताः ।
उभौ रामस्य सदृशौ बिम्बाद्बिम्बमिवोद्धृतौ ॥१३॥

वे सब एकाग्रचित्त हो आपस में कहने लगे—कि, देखो महाराज श्रीरामचन्द्र और इन दोनों का एक ही सा रूप देख पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है, मानों महाराज ही के ये दोनों छोटे प्रतिबिम्ब हैं ॥१३॥

जटिलौ यदि न स्यातां न वल्कलधरौ यदि ।
विशेषं नाधिगच्छामो गायतो राघवस्य च ॥१४॥

यदि ये दोनों जटा और वल्कल वस्त्र धारण किए हुए न होते तो इनमें और महाराज में कुछ भी भेद न रह जाता ॥१४॥

एवं प्रभाषमाणेषु पौरजानपदेषु च ।
प्रवृत्तमादितः पूर्वं सर्गं नारददर्शितम् ॥१५॥

इस प्रकार वे पुरवासी और देशवासी आपस में कह रहे थे। इधर श्रीनारद-उपदिष्ट बालकाण्ड का प्रथम सर्ग अर्थात् मूल रामायण को दोनों ऋषिकुमारों ने गाना आरम्भ किया ॥१५॥

ततः प्रभृति सर्गांश्च यावद्विंशत्यगायताम् ।
ततोऽपराह्णसमये राघवः समभाषत ॥१६॥

जब दोपहर तक बीस सर्ग गा कर, उन दोनों ने समाप्त कर दिए तब उनको सुन श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥१६॥

श्रुत्वा विंशतिसर्गांस्तान् भ्रातरं भ्रातृवत्सलः ।
अष्टादश सहस्राणि सुवर्णस्य महात्मनोः ॥१७॥

भ्रातृवत्सल श्रीरामचन्द्र जी ने उन बीस सर्गों को सुन कर, अपने भाई से कहा—इनको अठारह अठारह सहस्र अशर्फियाँ ला कर ॥१७॥

प्रयच्छ शीघ्रं काकुत्स्थ यदन्यदभिकांक्षितम् ।
ददौ स शीघ्रं काकुत्स्थो बालयोर्वै पृथक् पृथक् ॥१८॥

शीघ्र दे दो। और जो कुछ ये माँगें वह भी दे दो। यह सुन कर भरत जी उन दोनों कुमारों को अलग अलग अशर्फियाँ देने लगे ॥१८॥

दीयमानं सुवर्णं तु नागृह्णीतां कुशीलवौ ।
ऊचतुश्च महात्मानौ किमनेनेति विस्मितौ ॥१९॥

किन्तु उन दोनों ने अशर्फियाँ न लीं और वे विस्मित हो कहने लगे; इनका क्या होगा ? अथवा इनको ले.कर हम क्या करें ॥१९॥

वन्येन फलमूलेन निरतौ वनवासिनौ ।
सुवर्णेन हिरण्येन किं करिष्यावहे वने ॥२०॥

हम तो वनवासी हैं। कन्दमूल फल खा कर अपना निर्वाह करने वाले हैं, हम वन में इस धन को लेकर करेंगे क्या ? ॥२०॥

तथा तयोः प्रब्रुवतोः कौतूहलसमन्विताः ।
श्रोतारश्चैव रामश्च सर्व एव सुविस्मिताः ॥२१॥

उन दोनों की यह अद्भुत बात सुन कर, समस्त श्रोताओं को तथा श्रीरामचन्द्र जी को बड़ा विस्मय हुआ ॥२१॥

तस्य चैवागमं रामः काव्यस्य श्रोतुमुत्सुकः ।
पप्रच्छ तौ महातेजास्तावुभौ मुनिदारकौ ॥२२॥

अब उस काव्य को सुनने के लिए उत्सुक हो कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे पूँछा ॥२२॥

किं प्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः ।
कर्ता काव्यस्य महतः क चासौ मुनिपुङ्गवः ॥२३॥

यह काव्य कितना बड़ा है ? कितने काल तक इसकी स्थिति रहेगी ? इसके बनाने वाले कौन मुनि हैं ? इस महाकाव्य के रचयिता मुनिश्रेष्ठ कहाँ हैं ? ॥२३॥

पृच्छन्तं राघवं वाक्यमूचतुर्मुनिदारकौ ।
वाल्मीकिर्भगवान् कर्ता सम्प्राप्तो यज्ञसंविधम् ।
येनेदं चरितं तुभ्यमशेषं सम्प्रदर्शितम् ॥२४॥

श्रीरामचन्द्र के इस प्रकार पूँछने पर, उन दोनों ऋषिकुमारों ने कहा—इस महाकाव्य के रचयिता भगवान् वाल्मीकि जी हैं, जो यज्ञ में आए हुए हैं और जिन्होंने इसमें तुम्हारा आद्यन्त चरित भली भाँति प्रदर्शित किया है ॥२४॥

सन्निबद्धं हि श्लोकानां चतुर्विंशत्सहस्रकम् ।
उपाख्यानशतं चैव भार्गवेण तपस्विना ॥२५॥

इस महाकाव्य में इलोपाख्यान तक २४ सहस्र श्लोक हैं, सो उपाख्यान हैं और भृगुवंशीय महर्षि वाल्मीकि जी ने इसे बनाया है ॥२५॥

आदिप्रभृति वै राजन् पञ्चसर्गशतानि च ।
काण्डानि षट् कृतानीह सोत्तराणि महात्मना ॥२६॥

प्रथम काण्ड से ले कर महर्षि ने इसमें ५०० सर्ग, छः काण्ड और सातवाँ उत्तरकाण्ड बनाया है ॥२६॥

कृतानि गुरुणास्माकमृषिणा चरितं तव ।
प्रतिष्ठा जीवितं यावत्तावत् सर्वस्य वर्तते ॥२७॥

हमारे गुरु महर्षि वाल्मीकि जी ने इसमें काव्यनायक के जीवित रहने तक का समस्त वृत्तान्त निरूपण किया है ॥२७॥

यदि बुद्धिः कृता राजञ्छ्रवणाय महारथ ।
कर्मान्तरे क्षक्षीभूतस्तच्छृणुष्व सहानुजः ॥२८॥

हे राजन्! यदि तुम इसे आद्यन्त सुनना चाहो तो जब जब यज्ञकार्य से तुमको अवकाश मिले, तब तब तुम अपने भ्राताओं सहित इसे सुना करो ॥२८॥

बाढमित्यब्रवीद्रामस्तौ चानुज्ञाप्य राघवौ ।
प्रहृष्टौ जग्मतुस्थानं यत्रास्ते मुनिपुङ्गवः ॥२९॥

यह सुन कर श्रीरामचन्द्र जी बोले—मैं इस महाकाव्य को आद्यन्त सुनूँगा। तब वे श्रीरामचन्द्र जी से बिदा माँग महर्षि वाल्मीकि के समीप प्रसन्न होते हुए चले गये ॥२९॥

रामोऽपि मुनिभिः सार्धं पार्थिवैश्च महात्मभिः ।
श्रुत्वा तद्गीतिमाधुर्यं कर्मशालामुपागमत् ॥३०॥

श्रीरामचन्द्र जी भी मुनियों और बलवान राजाओं के साथ इस मधुर काव्य को सुन कर, यज्ञशाला में गए ॥३०॥

शुश्राव तत्तालयोपपन्नं
सर्गान्वितं सुस्वरशब्दयुक्तम् ।
तंत्रीलयव्यञ्जनयोगयुक्तं
कुशीलवाभ्यां परिगीयमानम् ॥३१॥

इति चतुर्नवतितमः सर्गः ॥

इस प्रकार सर्गबन्ध इस महाकाव्य को ताल, लय, सुस्वर सहित बीणा के ऊपर गाये जाने पर कुश और लव के मुख से श्रीरामचन्द्र जी ने सुना ॥३१॥

उत्तरकाण्ड का चौरानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—❀—

पञ्चनवतितमः सर्गः

—:०:—

रामो बहून्यहान्येव तद्गीतं परमं शुभम् ।
शुश्राव मुनिभिः सार्धं पार्थिवैः सह वानरैः ॥१॥

इस प्रकार इस महाकाव्य को, श्रीरघुनाथ जी ने ऋषियों, राजाओं और वानरों सहित दीर्घकाल तक (नित्य) सुना ॥१॥

तस्मिन् गीते तु विज्ञाय सीतापुत्रौ कुशीलवौ ।
तस्याः परिषदो मध्ये रामो वचनमब्रवीत् ॥२॥

जब उत्तरकाण्ड की कथा सुनने से उन्होंने यह जाना कि, यह दनों (लव और कुश) सीता के पुत्र हैं, तब सभा में श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥२॥

दूतान्शुद्ध समाचारानाहूयात्ममनीषया ।
मद्वचो ब्रूत गच्छध्वमितो भगवतोऽन्तिके ॥३॥

और शुद्धाचरण सम्पन्न (ईमानदार) शीघ्रगामी दूतों को बुला कर, उनसे श्रीरामचन्द्र जी ने कहा, मेरे कहने से तुम महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में जा कर, कहो ॥३॥

यदि शुद्धसमाचारा यदि वा वीतकल्मषा ।
करोत्विहात्मनः शुद्धिमनुमान्य महामुनिम् ॥४॥

यदि सीता शुद्धचरित्रा और पापरहिता है, तो आपकी अनुमति से अपने शुद्ध होने का यहाँ आ कर वह विश्वास करावे ॥४॥

छन्दं मुनेश्च विज्ञाय सीतायाश्च मनोगतम् ।
प्रत्ययं दातुकामायास्ततः शंसत मे लघु ॥५॥

तुम मुनि की सम्मति और सीता की इच्छा जान कर, बहुत शीघ्र लौट आओ ॥५॥

श्वः प्रभाते तु शपथं मैथिली जनकात्मजा ।
करोतु परिषन्मध्ये शोधनार्थं ममैव च ॥६॥

कल प्रातःकाल सभा के बीच सीता अपने शुद्धाचरण के सम्बन्ध में और मेरी सफाई के लिए शपथ करें ॥६॥

श्रुत्वा तु राघवस्यैतद्वचः परममद्भुतम् ।
दूताः सम्प्रययुर्बाढं यत्र वै मुनिपुङ्गवः ॥७॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह परम अद्भुत वचन सुन और "जो आज्ञा" कह, तुरन्त दूत वाल्मीकि जी के निकट गए ॥७॥

ते प्रणम्य महात्मानं ज्वलन्तममितप्रभम् ।
ऊचुस्ते रामवाक्यानि मृदूनि मधुराणि च ॥८॥

दूतों ने, अग्नि समान दीप्तिवाले महर्षि वाल्मीकि जी को प्रणाम कर, बड़ी नम्रता से श्रीरामचन्द्र जी की कही हुई सब बातें उनको कह सुनायीं ॥८॥

तेषां तद्भाषितं श्रुत्वा रामस्य च मनोगतम् ।
विज्ञाय सुमहातेजा मुनिर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥९॥

दूतों की बातें सुन कर और श्रीरामचन्द्र जी के मन का अभिप्राय जान, महातेजस्वी वाल्मीकि जी ने दूतों से कहा ॥९॥

एवं भवतु भद्रं वो यथा वदति राघवः ।
तथा करिष्यते सीता दैवतं हि पतिः स्त्रियः ॥१०॥

तुम्हारा कल्याण हो। बहुत अच्छा। श्रीरामचन्द्र जी जैसा कहते हैं, जानकी जी वैसा ही करेंगी, क्योंकि स्त्रियों का पति ही देवता है ॥१०॥

यथोक्ता मुनिना सर्वे राजदूता महौजसः ।
प्रत्येत्य राघवं सर्वं मुनिवाक्यं बभाषिरे ॥११॥

मुनि के यह वचन सुन, दूतों ने तुरन्त लौट कर, मुनि के वचन श्रीरामचन्द्र जी से. कहे ॥११॥

ततः प्रहृष्टः काकुत्स्थः श्रुत्वा वाक्यं महात्मनः ।
ऋषींस्तत्र समेतांश्च राज्ञश्चैवाभ्यभाषत ॥१२॥

महर्षि वाल्मीकि जी के वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए और सभा में उपस्थित राजाओं और ऋषियों से बोले ॥१२॥

भगवन्तः सशिष्या वै सानुगाश्च नराधिपाः ।
पश्यन्तु सीताशपथं यश्चैवान्योऽपि काङ्क्षते ॥१३॥

हे मुनि लोगो ! आप लोग अपने शिष्यों सहित, तथा राजा लोग अपने सब अनुगतों के साथ तथा अन्य लोग भी जो लोग सुनना चाहते हों, एकत्र हो, सीता की शपथ सुनें ॥१३॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
सर्वेषामृषिमुख्यानां साधुवादो महानभूत् ॥१४॥

महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन कर, समस्त ऋषिगण " वाह वाह" कहने लगे. ॥१४॥

राजानश्च महात्मानः प्रशंसन्ति स्म राघवम् ।
उत्पन्नं नरश्रेष्ठ त्वय्येव भुवि नान्यतः ॥१५॥

महात्मा राजा लोग भी श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा करने लगे और कहने लगे—हे नरश्रेष्ठ ! तुमको छोड़, इस भूमण्डल पर ऐसी बातें कोई नहीं कह सकता ॥१५॥

एवं विनिश्चयं कृत्वा श्वोभूत इति राघवः।
विसर्जयामास तदा सर्वांस्ताञ्छत्रुसूदनः ॥१६॥

इस प्रकार शत्रुतापन श्रीरामचन्द्र जी ने (अगले दिन) प्रातःकाल सीता जी के शपथ का निश्चय कर, उन सब को (उस दिन) बिदा किया ॥१६॥

इति सम्प्रविचार्य राजसिंहः
श्वोभूते शपथस्य निश्चयम्।
विससर्ज मुनीन्नृपांश्च सर्वान्
स महात्मा महतो महानुभावः ॥१७॥

इति पञ्चनवतितमः सर्गः ॥

महाप्रतापी महात्मा राजसिंह श्रीरामचन्द्र जी ने' इस प्रकार अगले दिन प्रातःकाल श्रीजानकी से शपथ लेना निश्चित कर, उन समस्त ऋषियों और राजाओं को बिदा किया ॥१७॥

उत्तरकाण्ड का पञ्चानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:o:—

षण्णवतितमः सर्गः

—:o:—

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां यज्ञवाटं गतो नृपः।
ऋषीन् सर्वान् महातेजाः शब्दापयति राघवः ॥१॥

उस रात के बीतने पर, महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने यज्ञशाला में जा कर, समस्त ऋषियों को बुलाया ॥१॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ काश्यपः ।
विश्वामित्रो दीर्घतमा दुर्वासाश्च महातपाः ॥२॥
पुलस्त्योऽपि तथा शक्तिर्भार्गवश्चैव वामनः ।
मार्कण्डेयश्च दीर्घायुर्मौद्गलयश्च महायशाः ॥३॥
गर्गश्च च्यवनश्चैव शतानन्दश्च धर्मवित् ।
भरद्वाजश्च तेजस्वी अग्निपुत्रश्च सुप्रभः ॥४॥
नारदः पर्वतश्चैव गौतमश्च महायशाः ।
एते चान्ये च बहवो मुनयः संशितव्रताः ॥५॥
कौतूहलसमाविष्टाः सर्व एव समागताः ।
राक्षसाश्च महावीर्या वानराश्च महाबलाः ॥६॥
सर्व एव समाजग्मुर्महात्मानः कुतूहलात् ।
क्षत्रिया ये च शूद्राश्च वैश्याश्चैव सहस्रशः ॥७॥
नानादेशगताश्चैव ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
सीताशपथवीक्षार्थं सर्व एव समागताः ॥८॥

वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, कश्यप, विश्वामित्र, दीर्घतमा, महातपस्वी दुर्वासा, पुलस्त्य, शक्ति, भार्गव, वामन, दीर्घायु मार्कण्डेय, महायशस्वी मौद्गल्य, गर्ग, च्यवन, धर्मात्मा शतानन्द तेजस्वी भरद्वाज, अग्निपुत्र सुप्रभ, नारद, पर्वत, महायशस्वी गौतम आदि अनेक महाव्रतधारी मुनि, उस अद्भुत व्यापार को देखने के लिए वहाँ एकत्र हुए। इनके अतिरिक्त बड़े बड़े पराक्रमी राक्षस तथा महाबलवान वानरगण एवं और भी महात्मा लोग बड़ी

उत्कण्ठा से यज्ञशाला में इकट्ठे हुए। इनके सिवाय हज़ारों क्षत्रिय वैश्य और शूद्र तथा अनेक देशों के रहने वाले महाव्रतधारी ब्राह्मण भी सीता जी के शपथ (का दृश्य) देखने को उस सभा में जमा हो गए ॥२॥३॥४॥५॥६॥७॥८॥

तदा समागतं सर्वमश्मभूतमिवाचलम् ।
श्रुत्वा मुनिवरस्तूर्णं ससीतः समुपागमत् ॥९॥

ये सब (दर्शक गण) सभा में आ कर, ऐसे चुपचाप बैठ गए, मानों पत्थर की मूर्तियों रखी हों। सभा में सब लोगों का एकत्र होना सुन, मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि जी श्रीसीता जी को लिये हुए, उस सभा में आए ॥९॥

तमृषिं पृष्ठतः सीता अन्वगच्छदवाङ्मुखी ।
कृताञ्जलिर्बाष्पकला कृत्वा रामं मनोगतम् ॥१०॥

सीता जी महर्षि के पीछे पीछे, नीचे को मुख किए, आँखों में आँसू भरे, हाथ जोड़े और मन ही मन श्रीरामचन्द्र जी का ध्यान करती हुई आईं ॥१०॥

तां दृष्ट्वा श्रुतिमायान्तीं ब्रह्माणमनुगामिनीम् ।
वाल्मीकेः पृष्ठतः सीतां साधुवादो महानभूत् ॥११॥

उस समय महर्षि वाल्मीकि जी के पीछे आती हुई सीता जी ऐसी जान पड़ती थीं, मानों ब्रह्मा जी के पीछे श्रुति चली आती हो। सीता जी को इस प्रकार आते देख कर, सभा में धन्य धन्य की ध्वनि होने लगी ॥११॥

ततो हलहलाशब्दः सर्वेषामेवमाबभौ ।
दुःखजन्मविशालेन शोकेनाकुलितात्मनाम् ॥१२॥

तदनन्तर उस सभा में बड़ा कोलाहल हुआ। क्योंकि सीता देवी को उस दीन दशा में देख, लोगों को बड़ा दुःख हुआ और वे मारे दुःख के विकल हो गए।॥१२॥

साधु रामेति केचित्तु साधु सीतेति चापरे ।
उभावेव च तत्रान्ये प्रेक्षकाः सम्प्रचुक्रुशुः ॥१३॥

उन दर्शकों में से कोई तो श्रीरामचन्द्र जी की, कोई सीता जी की और कोई दोनों की प्रशंसा कर रहे थे ॥१३॥

ततो मध्ये जनौघस्य प्रविश्य मुनिपुङ्गवः ।
सीतासहायो वाल्मीकिरिति होवाच राघवम् ॥१४॥

महर्षि वाल्मीकि जी जानकी जी को अपने साथ लिये हुए उस भीड़ में घुस, श्रीरामचन्द्र जी से बोले।॥१४॥

इयं दाशरथे सीता सुव्रता धर्मचारिणी ।
अपवादात्परित्यक्ता ममाश्रमसमीपतः ॥१५॥

हे दाशरथे ! जिस सीता को आपने अपवाद के भय से मेरे आश्रम के निकट छुड़वा दिया था, यही वह सुव्रता धर्मचारिणी सीता है ॥१५॥

लोकापवादभीतस्य तव राम महाव्रत ।
प्रत्ययं दास्यते सीता तामनुज्ञातुमर्हसि ॥१६॥

हे महाव्रत राम ! तुम लोकापवाद से डरते हो। अतएव सीता अपनी शुद्धता का विश्वास दिलाना चाहती है। तुम आज्ञा दो ॥१६॥

इमौ तु जानकीपुत्रावुभौ च यमजातकौ ।
सुतौ तवैव दुर्धर्षौ सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥१७॥

हे दुर्धर्ष ! ये दोनों बालक सीता जी के हैं और एक साथ ही उत्पन्न हुए हैं । मैं यह बात तुमसे सत्य सत्य कहता हूँ अथवा यह मेरा कथन तुम सत्य मानो ॥१७॥

प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन ।
न स्मराम्यनृतं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ ॥१८॥

हे राम ! मैं वरुण जी का दशवाँ पुत्र हूँ । मैंने आज तक कभी असत्य का स्मरण तक नहीं किआ । यह दोनों तुम्हारे पुत्र हैं ॥१८॥

बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता ।
नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली ॥१९॥

(मैं भी शपथपूर्वक कहता हूँ कि) यदि यह जानकी दुष्ट चरित्रा हो तो मुझे मेरे हजारों वर्षों के किए हुए अपने तप का फल प्राप्त न हो ॥१९॥

मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्बिषम् ।
तस्याहं फलमश्नामि अपापा मैथिली यदि ॥२०॥

मन से, कर्म से और वाणी से भी मैंने कभी पापाचरण नहीं किआ है । यदि यह मैथिली पापरहित हो तो मुझे इस सदनुष्ठान का फल प्राप्त हो ॥२०॥

[टिप्पणी—जनता में यह प्रवाद प्रचलित है कि महर्षि वाल्मीकि आरम्भ में डाकू थे और सप्तर्षियों के उपदेश से राम नाम का उल्टा जप मरा मरा जप कर महर्षि हो गए । किन्तु ऊपर के श्लोक में शपथ-पूर्वक कही महर्षि की उक्ति से इस प्रवाद का खण्डन होता है । महर्षि

कहते हैं मैंने कभी भी मनसा वाचा कर्मणा कोई पापाचरण नहीं किया है। फिर वे डाकू क्यों कर हो सकते हैं?]

अहं पञ्चसु भूतेषु मनःषष्ठेषु राघव।

विचिन्त्य सीता शुद्धेति जग्राह वननिर्झरे ॥२१॥

हे राम! पाँच तत्वों से बनी श्रोत्रादि पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और छठवाँ मन, इन सब से जब सीता को मैंने शुद्ध जाना, तब मैंने उस वन में सीता को ग्रहण किया था अथवा मैं सीता को अपने आश्रम में ले गया था ॥२१॥

इयं शुद्धसमाचारा अपापा पतिदेवता।

लोकापवादभीतस्य प्रत्ययं तव दास्यति ॥२२॥

यह पतिव्रता है शुद्धाचरण वाली है और पापशून्या है। किन्तु तुम लोकापवाद से डर रहे हो, अतः यह तुमको (अपने शुद्धाचरण का) विश्वास दिलावेगी ॥२२॥

तस्मादियं नरवरात्मज शुद्धभावा

दिव्येन दृष्टिविषयेण मया प्रदिष्टा।

लोकापवादकलुषीकृतचेतसा या

त्यक्ता त्वया प्रियतमा विदितापि शुद्धा ॥२३॥

इति षण्णवतितमः सर्गः ॥

हे राम! मैंने दिव्य दृष्टि से देख लिया है कि, जानकी शुद्ध है। यद्यपि तुम स्वयं भी अपनी प्यारी सीता को शुद्ध मानते हो, तथापि (मैं जानता हूँ) लेकापवाद के भय से, तुमने इनको त्यागा है ॥२३॥

उत्तरकाण्ड का छियानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

सप्तनवतितमः सर्गः

—:०:—

वाल्मीकिनैव मुक्तस्तु राघवः प्रत्यभाषत ।
प्राञ्जलिर्जगतो मध्ये दृष्ट्वा तां वरवर्णिनीम् ॥१॥

महर्षि वाल्मीकि के यह वचन सुन कर और बीच सभा में श्रीजानकी जी को हाथ जोड़े खड़ी देख, श्रीरामचन्द्र जी कहने लगे ॥१॥

एवमेतन् महाभाग यथा वदसि धर्मवित् ।
प्रत्ययस्तु मम ब्रह्मंस्तव वाक्यैरकल्मषैः ॥२॥

हे भगवन्! हे धर्मज्ञ! तुम जो कहते हो, वह ठीक है। हे ब्रह्मन्! तुम्हारे दोषरहित वचनों का मुझे (पूर्ण) विश्वास है ॥२॥

प्रत्ययश्च पुरा वृत्तो वैदेह्याः सुरसन्निधौ ।
शपथश्च कृतस्तत्र तेन वेश्म प्रवेशिता ॥३॥

क्योंकि (लङ्का में) देवताओं के सामने वैदेही ने मुझे विश्वास करा दिया था और शपथ खाई थी। तभी मैं इसे घर भी ले आया था ॥३॥

लोकापवादो बलवान्येन त्यक्ता हि मैथिली ।
सेयं लोकभयाद्ब्रह्मन्नपापेत्यभिजानता ।
परित्यक्ता मया सीता तद्भवान् क्षन्तुमर्हति ॥४॥

हे ब्रह्मन्! किन्तु क्या करूँ। लोकापवाद बलवान् है। इसीसे मुझे इसे त्यागना पड़ा। यह जान कर भी कि, सीता में कुछ भी

पाप नहीं है, लोकापवाद के डर से मुझे सीता त्यागनी पड़ी। इस अपराध के लिए आप मुझे क्षमा करें ॥४॥

जानामि चेमौ पुत्रौ मे यमजातौ कुशीलवौ ।
शुद्धायां जगतो मध्ये मैथिल्यां प्रीतिरस्तु मे ॥५॥

मुझे यह भी विदित है कि, यह दोनों लड़के कुश और लव मेरे ही हैं और एक साथ उत्पन्न हुए हैं; किन्तु, इस जनसमूह में यह सीता यदि शुद्धाचरण वाली सिद्ध हो जाय, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होगी। अथवा इस जगत में अति शुद्ध चरित्रा जानकी के यमजपुत्रों को भी मैं जानता हूँ कि ये दोनों मेरे ही पुत्र हैं। इसीसे जानकी में मेरी बड़ी प्रीति है (रा०) ॥५॥

अभिप्रायं तु विज्ञाय रामस्य सुरसत्तमाः ।
सीतायाः शपथे तस्मिन् सर्व एव समागताः ॥६॥

श्रीरामचन्द्र जी का अभिप्राय जान कर, ब्रह्मा आदि समस्त देवता भी उस जनसमूह में जानकी जी के शपथकाण्ड को देखने के लिए उपस्थित हुए थे ॥६॥

पितामहं पुरस्कृत्य सर्व एव समागताः ।
आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः ॥७॥
साध्याश्च देवाः सर्वे ते सर्वे च परमर्षयः ।
नागाः सुपर्णाः सिद्धाश्च ते सर्वे हृष्टमानसाः ॥८॥

ब्रह्मा को आगे कर द्वादश आदित्य, अष्टवसु, एकादश रुद्र, १३ विश्वेदेव, ४६ पवन, साध्यगण आदि समस्त देवता; समस्त देवर्षि, नाग, गरुड़, सिद्ध आदि सभी हर्षित अन्तःकरण से वहाँ जमा हुए थे ॥७॥८॥

दृष्ट्वा देवानृषींश्चैव राघवः पुनरब्रवीत् ।
प्रत्ययो मे नरश्रेष्ठ ऋषिवाक्यैरकल्मषैः ॥९॥

देवताओं और ऋषियों को देख, श्रीरामचन्द्र जी पुनः बोले—हे मुनियों में श्रेष्ठ ! मुझे तो महर्षि वाल्मीकि जी के कथन ही से सीता के पाप रहित होने का विश्वास हो गया है ॥९॥

शुद्धायां जगतो मध्ये वैदेह्यां प्रीतिरस्तु मे ।
सीताशपथसम्भ्रान्ताः सर्व एव समागताः ॥१०॥

किन्तु जगत् में अर्थात् इन सब लोगों के सामने सीता यदि अपनी शुद्धता प्रमाणित करे तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हो। क्योंकि इतने ये सब लोग सीता के शपथकाण्ड को देखने ही को सादर (अर्थात् आग्रहवश) इकट्ठे हुए हैं ॥१०॥

ततो वायुः शुभः पुण्यो दिव्यगन्धो मनोरमः ।
तं जनौघं सुरश्रेष्ठो ह्लादयामास सर्वतः ॥११॥

उस समय मङ्गलकारी, पवित्र, मनोरम और सुगन्धित पवन चलने लगा, जिसके स्पर्श से समस्त मनुष्य और देवता आनन्दित हुए ॥११॥

तदद्भुतमिवाचिन्त्यं निरैक्षन्त समाहिताः ।
मानवाः सर्वराष्ट्रेभ्यः पूर्वं कृतयुगे यथा ॥१२॥

सब लोग उस पवन को अद्भुत और अचिन्त्य वस्तु की तरह देखने (समझने) लगे। उस पवनस्पर्श से सब लोगों के मन वैसे ही हर्षित हो गए, जैसे कि, सतयुग में होते थे। अथवा उस

प्रकार की अद्भुत अचिन्त्य हवा को चलते देख लोग आपस में कहने लगे हमने तो सुना था कि ऐसी हवा तो सतयुग ही में चला करती थी ॥१२॥

सर्वान् समागतान् दृष्ट्वा सीता काषायवासिनी ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यमधोदृष्टिरवाङ्मुखी ॥१३॥

समस्त मनुष्यों, देवता और चतुर्दश भुवनों के प्राणियों को वहाँ एकत्र हुआ देख कर, काषायवस्त्र पहिने हुए, सीता उस जनसमूह में नीचे को सिर झुकाये आँखें नीचे किए और हाथ जोड़े हुए बोली ॥१३॥

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥१४॥

यदि मैं श्रीरामचन्द्र जी को छोड़ कर, अन्य किसी पुरुष का मन में भी कभी चिन्तवन न किया हो, तो पृथिवी फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ ॥१४॥

मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥१५॥

मन कर्म और वाणी से यदि मैं श्रीरामचन्द्र जी ही को अपना पति मानती रही होऊँ, तो पृथिवी देवी मुझे समाने के लिए जगह दे ॥१५॥

यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥१६॥

यदि मेरा यह कथन कि, मैं श्रीरामचन्द्र को छोड़ अन्य किसी को (अपना पति) नहीं मानती, सत्य हो, तो पृथिवी देवी मुझे समा जाने के लिए स्थान दे ॥१६॥

तथा शपन्त्यां वैदेह्यां तु प्रादुरासीत्तदद्भुतम् ।
भूतलादुत्थितं दिव्यं सिंहासनमनुत्तमम् ॥१७॥

सीता जी इस प्रकार कह ही रही थीं कि, इतने में पृथिवी फट गई और उसमें से एक दिव्य सिंहासन प्रकट हुआ ॥१७॥

ध्रियमाणं शिरोभिस्तु नागैरमितविक्रमैः ।
दिव्यं दिव्येन वपुषा दिव्यरत्नविभूषितैः ॥१८॥

उस सिंहासन को अमित विक्रमो और अच्छे अच्छे रत्नों से भूषित अनेक नाग अपने सिरों पर रखे हुए थे ॥१८॥

तस्मिंस्तु धरणी देवी बाहुभ्यां गृह्य मैथिलीम् ।
स्वागतेनाभिनंद्यैनामासने चोपवेशयत् ॥१९॥

(उस सिंहासन के ऊपर धरणी देवी विराजमान थीं) धरणी देवी ने दोनों भुजाओं से सीता को उठा कर और "तुम्हारा स्वागत है" कहते हुए, उस सिंहासन में बिठा लिया ॥१९॥

तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशंतीं रसातलम् ।
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत् ॥२०॥

सिंहासन पर बैठ सीता को रसातल में जाते देख, आकाश से दिव्य फूलों की वर्षा सीता जी के ऊपर हुई ॥२०॥

साधुकारश्च सुमहान् देवानां सहसोत्थितः ।
साधु साध्विति वै सीते यस्यास्ते शीलमीदृशम् ॥२१॥

देवता लोग "धन्य धन्य" कह कर, सोता जी की प्रशंसा करने लगे। वे कहने लगे हे देवि सीते! तुम धन्य हो! जो तुम्हारा ऐसा शील है!! ॥२१॥

एवं बहुविधा वाचो ह्यन्तरिक्षगताः सुराः ।
व्याजहुर्हृष्टमनसो दृष्ट्वा सीताप्रवेशनम् ॥२२॥

इस प्रकार आकाशस्थित देवता बड़े हर्ष के साथ सीता के पृथिवी में समा जाने के बारे में अनेक प्रकार की बातें कहने लगे ॥२२॥

यज्ञवाटगताश्चापि मुनयः सर्व एव ते ।
राजानश्च नरव्याघ्रा विस्मयान्नोपरेमिरे ॥२३॥

उस समय यज्ञभूमि में जितने ऋषि और पुरुषसिंह राजा उपस्थित थे, वे सभी अत्यन्त विस्मित हुए ॥२३॥

अन्तरिक्षे च भूमौ च सर्वे स्थावरजङ्गमाः।
दानवाश्च महाकायाः पाताले पन्नगाधिपाः ॥२४॥
केचिद्विनेदुः संहृष्टाः केचिद्ध्यानपरायणाः ।
केचिद्रामं निरीक्षन्ते केचित्सीतामचेतसः* ॥२५॥

आकाशस्थित और पृथिवीस्थित स्थावर जंगम, विशाल रूप वाले बड़े बड़े दानव और पातालवासी बड़े बड़े नाग आश्चर्य में डूबे हुए थे और (उनमें से अनेक) हर्षनाद कर रहे थे। कोई तो विचारसागर में मग्न थे, कोई श्रीरामचन्द्र जी की ओर

* पाठान्तरे—"अचेतनाः।"

देख रहे थे और कोई सीता का ध्यान कर, अचेत से हो रहे थे ॥२४॥२५॥

सीताप्रवेशनं दृष्ट्वा तेषामासीत् समागमः।
तन् मुहूर्तमिवात्यर्थं समं संमोहितं जगत् ॥२६॥

इति सप्तनवतितमः सर्गः ॥

उन समस्त ऋषियों का समागम और सीता जी का पृथिवी में समाना देख, कुछ देर के लिए सारा संसार स्तब्ध हो गया ॥२६॥

उत्तरकाण्ड का सत्तानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

अष्टनवतितमः सर्गः

—:o:—

रसातलं प्रविष्टायां वैदेह्यां सर्ववानराः ।
चुक्रुशुः साधुसाध्वीति मुनयो रामसन्निधौ ॥१॥

जानकी जी को रसातल में प्रवेश करते देख, श्रीरामचन्द्र जी के सामने ही, वानर और मुनिगण "धन्य धन्य" कहने लगे ॥१॥

दण्डकाष्ठमवष्टभ्य बाष्पव्याकुलितेक्षणः ।
अवाक् शिरा दीनमना रामो ह्यासीत्सुदुःखितः ॥२॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी यज्ञदीक्षा की लकड़ी का सहारा ले, आँखों में आँसू भर तथा नीचे को सिर झुकाए, बड़े उदास और दुखी हो गए ॥२॥

स रुदित्वा चिरं कालं बहुशो बाष्पमुत्सृजन् ।
क्रोधशोकसमाविष्टो रामो वचनमब्रवीत् ॥३॥

वे बहुत देर तक बहुत रोए। फिर वे क्रुद्ध हो शोक में भर यह बोले—॥३॥

अभूतपूर्वं शोकं मे मनः स्प्रष्टुमिवेच्छति ।
पश्यतो मे यथा नष्टा सीता श्रीरिव रूपिणी ॥४॥

देखो, लक्ष्मी के समान रूपवाली सीता मेरी आँखों के सामने पाताल में समा गई। अतएव मुझे आज ऐसा शोक प्राप्त हुआ है, जैसा पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था ॥४॥

साऽदर्शनं पुरा सीता लङ्कापारे महोदधेः ।
ततश्चापि मयानीता किं पुनर्वसुधातलात् ॥५॥

जब मैं इसे समुद्र के पार से, जहाँ इसका पता लगना तक कठिन था और इसे कोई देख भी नहीं पाया था, जा कर ले आया; तब मेरे लिये इसे पाताल से लाना कौन कठिन बात है ॥५॥

वसुधे देवि भवति सीता निर्यात्यतां मम ।
दर्शयिष्यामि वा रोषं यथा मामवगच्छसि ॥६॥

हे पृथिवी देवि ! तू मेरी सीता मुझे लौटा दे, अन्यथा मुझे (विवश हो) तेरे ऊपर इस अपने अपमान के लिए, क्रोध प्रकट करना पड़ेगा ॥६॥

कामं श्वश्रूर्ममैव त्वं त्वत्सकाशाद्धि मैथिली ।
कर्षता फालहस्तेन जनकेनोद्धृता पुरा ॥७॥

तू तो मेरी (एक प्रकार से) सास लगती है। क्योंकि राजर्षि जनक ने जोतते समय तेरे ही भीतर से (गर्भ से) सीता को पाया था ॥७॥

तस्मान्निर्यात्यतां सीता विवरं वा प्रयच्छ मे ।
पाताले नाकपृष्ठे वा वसेयं सहितस्तया ॥८॥

अतएव हे पृथिवी देवि ! या तो तू मुझे मेरी सीता लौटा दे अथवा मुझे भी अपने भीतर ले ले। क्योंकि सीता चाहे पाताल में रहे, चाहे स्वर्ग में, मैं तो उसीके साथ रहूँगा ॥८॥

आनय त्वं हि तां सीतां मत्तोऽहं मैथिलीकृते ।
न मे दास्यसि चेत्सीतां यथारूपां महीतले ॥९॥

हे वसुधे ! जानकी को ला दे। मैं उसके पीछे पागल हो रहा हूँ। यदि तू जानकी को उसी रूप में जैसी कि, वह पूर्व में इस पृथिवीतल पर थी, न लौटा देगी ॥९॥

सपर्वतवनां कृत्स्नां विधमिष्यामि ते स्थितिम् ।
नाशयिष्याम्यहं भूमिं सर्वमापो भवन्त्विह ॥१०॥

तो मैं पर्वतों और वनों सहित तुझको ध्वस्त और नष्ट कर दूँगा। मैं सारी पृथिवी को जल में डुबो दूँगा, अथवा फिर जल ही जल हो जायगा ॥१०॥

एवं ब्रुवाणे काकुत्स्थे क्रोधशोकसमन्विते ।
ब्रह्मा सुरगणैः सार्धमुवाच रघुनन्दनम् ॥११॥

जब क्रोध और शोक से पूर्ण हो, श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब देवताओं के सहित ब्रह्मा जी श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥११॥

राम राम न सन्तापं कर्तुमर्हसि सुव्रत ।
स्मर त्वं [१]पूर्वकं भावं मन्त्रं चामित्रकर्शन ॥१२॥

हे राम ! हे सुव्रत ! तुम सन्ताप करने योग्य नहीं हो । हे शत्रुतापन ! तुम यह तो समझो कि, तुम हो कौन अर्थात् तुम अपने विष्णु होने का स्मरण करो । अथवा तुमने जो पहिले देवताओं से कहा था कि, हम इतने कार्य के लिए पृथिवीतल पर अवतार लेंगे । इस बात को स्मरण करो ॥१२॥

न खलु त्वां महाबाहो स्मारयेयमनुत्तमम् ।
इमं मुहूर्तं दुर्धर्षं स्मर त्वं जन्म वैष्णवम् ॥१३॥

हे महाबाहो ! मैं तुमको स्मरण कराने नहीं आया । मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि, तुम अपने दुर्धर्ष वैष्णव रूप को स्मरण करो ॥१३॥

सीता हि विमला साध्वी तव पूर्वपरायणा ।
नागलोकं सुखं प्रायात्त्वदाश्रयतपोबलात् ॥१४॥

सीता तो स्वभाव ही से शुद्ध और पतिव्रता है । वह सदा तुम्हारी अनुगामिनी है । तुम्हारे आश्रय रूप तपोबल से वह नाग-लोक में पहुँची है ॥१४॥

स्वर्गे ते सङ्गमो भूयो भविष्यति न संशयः ।
अस्यास्तु परिषन्मध्ये यद्ब्रवीमि निबोध तत् ॥१५॥

अब उनसे तुम्हारी भेंट पुनः वैकुण्ठ में होगी । इस सभा के सामने अब मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनो ॥१५॥

---

१ पूर्वकंभावं—पूर्वकं स्वभावं विष्णुत्वमित्यर्थः । (गो०)

एतदेव हि काव्यं ते काव्यानामुत्तमं श्रुतम् ।
सर्वं विस्तरतो राम व्याख्यास्यति न संशयः ॥१६॥

यह काव्य, समस्त काव्यों से उत्तम है। इसके द्वारा तुम्हारे आद्यन्त जीवनचरित्र प्रकट होंगे। इसमें संशय नहीं ॥१६॥

जन्मप्रभृति ते वीर सुखदुःखोपसेवनम् ।
भविष्यत्युत्तरं चेह सर्वं वाल्मीकिना कृतम् ॥१७॥

हे राम ! जन्म से ले कर तुमको जो दुःख सुख मिले हैं, उन सब का महर्षि वाल्मीकिकृत इस महाकाव्य में वर्णन है और जो आगे को होना शेष है, उसका भी इसमें वर्णन है ॥१७॥

आदिकाव्यमिदं राम त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
न ह्यन्योऽर्हति काव्यानां यशोभाग्राघवादृते ॥१८॥

हे राम ! यह आदिकाव्य है। इसमें मुख्यतः तुम्हारे ही चरित का वर्णन है। तुमको छोड़ इस काव्य का यश दूसरा नहीं पा सकता ॥१८॥

श्रुतं ते पूर्वमेतद्धि मया सर्वं सुरैः सह ।
दिव्यमद्भुतरूपं च सत्यवाक्यमनावृतम् ॥१९॥

अद्भुत और सत्य घटनामूलक एवं अज्ञान को दूर करने वाले इस काव्य को देवताओं सहित मैंने तुम्हारे यज्ञ में सुना है ॥१९॥

स त्वं पुरुषशार्दूल धर्मेण सुसमाहितः ।
शेषं भविष्यं काकुत्स्थ काव्यं रामायणं शृणु ॥२०॥

हे पुरुषसिंह राम ! अब तुम सावधान हो कर, इस महाकाव्य रामायण के अवशिष्ट भाग को भी सुनो ॥२०॥

उत्तरं नाम काव्यस्य शेषमत्र महायशः ।
तच्छृणुष्व महातेज ऋषिभिः सार्धमुत्तमम् ॥२१॥

हे महायशस्वी ! हे महातेजस्वी राम ! यह काव्य का उत्तर भाग है। अतएव इसका नाम उत्तर होगा। अब तुम ऋषियों के साथ बैठ कर इसे भी सुनो ॥२१॥

न खल्वन्येन काकुत्स्थ श्रोतव्यमिदमुत्तमम् ।
परमं ऋषिणा वीर त्वयैव रघुनन्दन ॥२२॥

इस उत्तरकाण्ड को आप ही सुन सकते हैं। (अर्थात् भरतादिक न सुनें) हे वीर रघुनन्दन ! ब्रह्मलोक निवासी ऋषियों के साथ तुम ही इसे सुनो ॥२२॥

एतावदुक्त्वा वचनं ब्रह्मा त्रिभुवनेश्वरः ।
जगाम त्रिदिवं देवो देवैः सह सबान्धवैः ॥२३॥

श्रीरामचन्द्र जी से यह कह कर, देवताओं सहित तीनों भुवन के अधीश्वर ब्रह्मा जी ब्रह्मलोक को चले गए ॥२३॥

ये च तत्र महात्मान ऋषयो ब्रह्मलौकिकाः ।
ब्रह्मणा समनुज्ञाता न्यवर्तन्त महौजसः ॥२४॥

शेष ब्रह्मलोकवासी ऋषि और तपस्वी, ब्रह्मा जी के आज्ञानुसार वहीं ठहरे रहे ॥२४॥

उत्तरं श्रोतुमनसो भविष्यं यच्च राघवे ।
ततो रामः शुभां वाणीं देवदेवस्य भाषिताम् ॥२५॥

क्योंकि उन्हें भी श्रीरामचन्द्र जी के भावी चरित को सुनने की अभिलाषा थी। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने देवदेव ब्रह्मा जी की सुन्दर वाणी ॥२५॥

श्रुत्वा परमतेजस्वी वाल्मीकिमिदमब्रवीत् ।
भगवन् श्रोतुमनस ऋषयो ब्राह्मलौकिकाः ॥२६॥

सुन, परम तेजस्वी वाल्मीकि जी से यह कहा—हे भगवन् ! ये समस्त ब्रह्मलोक-निवासी ऋषि, भावी चरित सुनना चाहते हैं ॥२६॥

भविष्यदुत्तरं यन्मे श्वोभूते सम्प्रवर्तताम् ।
एवं विनिश्चयं कृत्वा संप्रगृह्य कुशीलवौ ॥२७॥

मेरे बारे में आगे जो कुछ होने वाला है, वह कल प्रातःकाल से सुनाया जाय। ऐसा निश्चय कर, और कुश लव को साथ ले ॥२७॥

तं जनौघं विसृज्याथ पर्णशालामुपागमत् ।
तामेव शोचतः सीतां सा व्यतीता च शर्वरी ॥२८॥

इति अष्टनवतितमः सर्गः ॥

तथा उन सब लोगों को विदा कर, श्रीरामचन्द्र जी महर्षि वाल्मीकि की पर्णशाला में गए और वहाँ सीता जी ही की चर्चा और चिन्ता करते करते, उन्होंने वह रात बिता दी ॥२८॥

उत्तरकाण्ड का अट्ठानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—❀—

एकोनशततमः सर्गः

—:o:—

रजन्यां तु प्रभातायां समानीय महामुनीन् ।
गीयतामविशङ्काभ्यां रामः पुत्रावुवाच ह ॥१॥

प्रातःकाल होते ही, नित्य कर्म से निवृत्त हो और सम्पूर्ण महामुनियों को बुला कर, श्रीरामचन्द्र जी ने कुश और लव से कहा—तुम निर्भय होकर, भविष्य चरित का गान करो ॥१॥

ततः समुपविष्टेषु महर्षिषु महात्मसु ।
भविष्यदुत्तरं काव्यं जगतुस्तौ कुशीलवौ ॥२॥

जब महात्मा ऋषिगण (यथास्थान) बैठ गए, तब कुश एवं लव ने उत्तरकाण्ड में वर्णित भविष्य में होने वाली घटनाओं के वर्णन से युक्त भाग को गा कर सुनाना आरम्भ किया ॥२॥

प्रविष्टायां तु सीतायां भूतलं सत्यसम्पदा[1] ।
तस्यावसाने यज्ञस्य रामः परमदुर्मनाः ॥३॥

सत्य के प्रभाव से सीता देवी के पृथिवी में समा जाने पर यज्ञ समाप्त हुआ। सीता के वियोग से श्रीरामचन्द्र जी बड़े दुःखी हुए ॥३॥

अपश्यमानो वैदेहीं मेने शून्यमिदं जगत् ।
शोकेन परमायस्तो न शान्तिं मनसागमत् ॥४॥

---

१ सत्य सम्पदा—सत्यवैभवेन । (गो०)

सीता के न रहने से श्रीरामचन्द्र जी को यह संसार सूना सा जान पड़ने लगा। वे ऐसे शोकपीड़ित हुए कि, उनका मन किसी प्रकार भी शान्त न हो सका ॥४॥

विसृज्य पार्थिवान् सर्वानृक्षवानरराक्षसान्।
जनौघं विप्रमुख्यानां वित्तपूर्वं विसृज्य च ॥५॥

श्रीरामचन्द्र जी ने (समागत) समस्त, राजाओं, रीछों, वानरों, राक्षसों, ब्राह्मणों एवं अन्य जनसमूह को, विविध प्रकार के दान मान से सन्तुष्ट किया ॥५॥

ततो विसृज्य तान् सर्वान् रामो राजीवलोचनः।
हृदि कृत्वा सदा सीतामयोध्यां प्रविवेश ह ॥६॥

राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी, उन सब को बिदा कर, जानकी जी का मन ही मन स्मरण करते हुए, अयोध्या में आए ॥६॥

न सीतायाः परां भार्यां वव्रे स रघुनन्दनः।
यज्ञे यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी काञ्चनी भवत् ॥७॥

परन्तु सीता को छोड़ उन्होंने और किसी स्त्री को अपनी पत्नी नहीं बनाया। उन्होंने जितने यज्ञ किए, उनमें पत्नी की जगह सीता की सुवर्णप्रतिमा रखी ॥७॥

दश वर्षसहस्राणि वाजिमेधानथाकरोत्।
वाजपेयान् दशगुणांस्तथा बहुसुवर्णकान् ॥८॥

इस प्रकार दस सहस्र वर्षों तक, प्रति वर्ष अश्वमेध यज्ञ किए और प्रत्येक सहस्र वर्ष बाद, अश्वमेध यज्ञ से दसगुना अधिक

फल देने वाले वाजपेय यज्ञ किए। इन यज्ञों में बहुत सा सुवर्ण-दान किया ॥८॥

अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां गोसवैश्च महाधनैः ।
ईजे क्रतुभिरन्यैश्च स श्रीमानाप्तदक्षिणैः ॥६॥

तदनन्तर अग्निष्टोम, अतिरात्र, गोसव— ये यज्ञ तथा इनके अतिरिक्त और भी बहुत से यज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने किए। इन समस्त यज्ञों में उन्होंने दक्षिणादान में बहुत सा धन व्यय किया ॥६॥

एवं स कालः सुमहान् राज्यस्थस्य महात्मनः ।
धर्मे प्रयतमानस्य व्यतीयाद्राघवस्य तु ॥१०॥

इस प्रकार उन महात्मा श्रीरामचन्द्र जी को धर्मपूर्वक राज्य करते करते बहुत समय बीत गया ॥१०॥

ऋक्षवानररक्षांसि स्थिता रामस्य शासने ।
अनुरञ्जन्ति राजानो ह्यहन्यहनि राघवम् ॥११॥

रीछ, वानर और राक्षस सदा श्रीरामचन्द्र जी के आज्ञानुवर्ती रहे। देशदेशान्तरों के राजाओं का नित्य नित्य श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर अनुराग बढ़ता ही जाता था ॥११॥

काले वर्षति पर्जन्यः सुभिक्षं विमला दिशः ।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णं पुरं जनपदास्तथा ॥१२॥

श्रीरामचन्द्र जी के राज्यकाल में ठीक समय पर जलवृष्टि होती थी। सदा सुभिक्ष बना रहता था। सब दिशाएँ निर्मल रहती थीं। नगरों और देहातों में हृष्टपुष्ट मनुष्य भरे रहते थे ॥१२॥

नाकाले म्रियते कश्चिन्न व्याधिः प्राणिनां तथा ।
नानर्थो विद्यते कश्चिद्रामे राज्यं प्रशासति ॥१३॥

किसी की भी असामयिक मृत्यु नहीं होती थी और न कोई किसी प्रकार की व्याधि से पीड़ित ही होता था । सारांश यह कि, श्रीरामचन्द्र जी के राज्य में कहीं भी किसी प्रकार का अनर्थ नहीं होने पाता था ॥१३॥

[टिप्पणी—यह है रामराज्य का वास्तविक चित्र । किन्तु इस समय लोग रामराज्य के सर्वथा विपरीत शासन काल को रामराज्य वतला रामराज्य की विडंबना करते लज्जित नहीं होते ।]

अथ दीर्घस्य कालस्य राममाता यशस्विनी ।
पुत्रपौत्रैः परिवृता कालधर्ममुपागमत् ॥१४॥

बहुत समय के बाद श्रीरामचन्द्र जी की यशस्विनी माता कौसल्या, पुत्रों पौत्रों का आनन्द देखती हुई, स्वर्ग सिधारी ॥१४॥

अन्वियाय सुमित्रा च कैकेयी च यशस्विनी ।
धर्मं कृत्वा बहुविधं त्रिदिवे पर्यवस्थिता ॥१५॥

उनके पीछे यशस्विनी सुमित्रा और कैकेयी भी विविध प्रकार के धर्माचरण करती स्वर्गवासिनी हुईं ॥१५॥

सर्वाः प्रमुदिताः स्वर्गे राज्ञा दशरथेन च ।
समागता महाभागाः सर्वधर्मं च लेभिरे ॥१६॥

वे सब महाभाग्यवान्, स्वर्ग में पहुँच और हर्षित हो, अपने पति महाराज दशरथ से जा मिलीं और अपने धर्मकृत्यों का फल भोगने लगीं ॥१६॥

तासां रामो महादानं काले काले प्रयच्छति ।
मातॄणामविशेषेण ब्राह्मणेषु तपस्विषु ॥१७॥

समय समय पर श्रीरामचन्द्र जी ने माताओं के कल्याण के लिए तपस्वियों और ब्राह्मणों को अनेक प्रकार के दान दिए ॥१७॥

पित्र्याणि ब्रह्मरत्नानि यज्ञान् परमदुस्तरान् ।
चकार रामो धर्मात्मा पितॄन् देवान् विवर्धयन् ॥१८॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी पितर और देवताओं की अभिवृद्धि के लिए और अपने पिता की अभिवृद्धि के लिए विविध रत्नों के दान और दुस्तर यज्ञानुष्ठान किआ करते थे ॥१८॥

एवं वर्षसहस्राणि बहून्यथ ययुः सुखम् ।
यज्ञैर्बहुविधं धर्मं वर्धयानस्य सर्वदा ॥१९॥

इति एकोनशततमः सर्गः ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने यज्ञानुष्ठान से सदा धर्म की वृद्धि कर, कितने ही हजार वर्षों तक सुखपूर्वक राज्य किआ ॥१९॥

उत्तरकाण्ड का निन्यानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

शततमः सर्गः

—:०:—

कस्यचित्त्वथ कालस्य युधाजित्केकयो नृपः ।
स्वगुरुं प्रेषयामास राघवाय महात्मने ॥१॥

कुछ दिनों बाद, केकयदेश के राजा युधाजित् ने महात्मा श्री-रामचन्द्र जी के पास अपने गुरु को भेजा ॥१॥

गार्ग्यमङ्गिरसः पुत्रं ब्रह्मर्षिममितप्रभम् ।
दश चाश्वसहस्राणि प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥२॥

वे गर्गकुल में उत्पन्न महर्षि अङ्गिरा के पुत्र, एक महातेजस्वी ऋषि थे। (सौगात में युधाजित् ने) श्रीरामचन्द्र जी के लिए दस हजार उत्तम जाति के घोड़े ॥२॥

कम्बलानि च रत्नानि चित्रवस्त्रमथोत्तरम् ।
रामाय प्रददौ राजा शुभान्याभरणानि च ॥३॥

विविध प्रकार के ऊनी वस्त्र (शाल, दुशाले, कम्बल, नमदे, पशमीने आदि) भेजे। इनमें एक वस्त्र बड़ा बढ़िया था। इनके अतिरिक्त विविध प्रकार के रत्न और आभूषण भी युधाजित् ने श्रीरामचन्द्र जी के लिए भेजे थे ॥३॥

श्रुत्वा तु राघवो धीमान् महर्षिं*गार्ग्यमागतम् ।
मातुलस्याश्वपतिनः प्रहितं तन्महाधनम् ॥४॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने सुना कि, महर्षि गार्ग्य बहुत सा सामान लिए हुए मामा अश्वपति के यहाँ से आ रहे हैं ॥४॥

प्रत्युद्गम्य च काकुत्स्थः क्रोशमात्रं सहानुजः ।
गार्ग्यं सम्पूजयामा यथा शक्रो बृहस्पतिम् ॥५॥

तब भाइयों सहित वयं एक कोस आगे उनकी अगवानी के लिए जा कर, श्रीरामचन्द्रजी ने उसी प्रकार उनका स्वागत किया जैसे इन्द्र बृहस्पति जी का करते हैं ॥५॥

तथा सम्पूज्य तमृषिं तद्धनं प्रतिगृह्य च ।
पृष्ट्वा प्रतिपदं सर्वं कुशलं मातुलस्य च ॥६॥

* पाठान्तरे—"ब्रह्मर्षि ।

भली भाँति ऋषि का सत्कार कर और मामा की भेजी सौगात ग्रहण कर तथा मामा और मामा के घर का कुशल समाचार भली भाँति पूँछा ॥६॥

उपविष्टं महाभागं रामः प्रष्टुं प्रचक्रमे ।
किमाह मातुलो वाक्यं यदर्थं भगवानिह ॥७॥

प्राप्तो वाक्यविदां श्रेष्ठः साक्षादिव बृहस्पतिः ।
रामस्य भाषितं श्रुत्वा महर्षिः कार्यविस्तरम् ॥८॥

फिर ऋषि को घर में ले जा कर और आसन पर बिठा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे पूँछा, मेरे मामा ने मेरे लिए क्या संदेसा भेजा है। जिस कारण आपका यहाँ आगमन हुआ है, उसे कहिए। आप बोलने वालों में साक्षात् बृहस्पति के समान हैं। श्रीरामचन्द्र के ऐसे वचन सुन कर, महर्षि ने अपने आने का प्रयोजन ॥७॥८॥

वक्तुमद्भुतसङ्काशं राघवायोपचक्रमे ।
मातुलस्ते महाबाहो वाक्यमाह नरर्षभः ॥९॥

विस्तारपूर्वक श्रीरामचन्द्र जी से कहा। (वे बोले) हे नरश्रेष्ठ हे महाबाहो ! तुम्हारे मामा ने यह सन्देसा भेजा है ॥९॥

युधाजित् प्रीतिसंयुक्तं श्रूयतां यदि रोचते ।
अयं गन्धर्वविषयः फलमूलोपशोभितः ॥१०॥

युधाजित् ने जो कहा है उसे प्रीतिपूर्वक सुनिए और यदि अच्छा लगे तो तदनुसार कीजिए। (वह यह है कि) गन्धर्व देश बहुत से फल और मूलों से शोभित है ॥१०॥

सिन्धोरुभयतः पार्श्वे देशः परमशोभनः ।
तं च रक्षन्ति गन्धर्वाः सायुधा युद्धकोविदाः ॥११॥

यह गन्धर्वदेश सिन्धुनद के दोनों तटों पर बसा हुआ है। युद्धविशारद शस्त्रधारी गन्धर्व लोग इस देश की रक्षा किआ करते हैं ॥११॥

शैलूषस्य सुता वीर तिस्रः कोट्यो महाबलाः ।
तान् विनिर्जित्य काकुत्स्थ गन्धर्वनगरं शुभम् ॥१२॥

ये महाबली तीन करोड़ गन्धर्व शैलूष नामक गन्धर्व के सन्तान । हे काकुत्स्थ ! उनको युद्ध में परास्त कर, उस सुन्दर गन्धर्व नगर को ॥१२॥

निवेशय महाबाहो स्वे पुरे सुसमाहिते ।
अन्यस्य न गतिस्तत्र देशः परमशोभनः ।
रोचतां ते महाबाहो नाहं त्वामहितं वदे ॥१३॥

अपने राज्य में मिला लीजिए। हे महाबाहो ! उस परम सुन्दर देश को सर करने की दूसरे किसी में सामर्थ्य नहीं है। यदि तुम इसे उचित समझो तो करो। हम तुम्हारा अनभल नहीं चाहते ॥१३॥

तच्छ्रुत्वा राघवः प्रीतो महर्षेर्मातुलस्य च ।
उवाच बाढमित्येव भरतं चान्ववैक्षत ॥१४॥

मामा का यह सन्देसा सुन, श्रीरामचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए और बहुत अच्छा कह कर, उन्होंने भरत जी की ओर निहारा ॥१४॥

सोऽब्रवीद्राघवः प्रीतः साञ्जलिप्रग्रहो द्विजम् ।
इमौ कुमारौ तं देशं ब्रह्मर्षे विचरिष्यतः ॥१५॥

फिर वे हाथ जोड़ कर हर्षित हो बोले—हे महर्षे ! तुम्हारा मङ्गल हो। ये दोनों कुमार उस देश में जाँयगे ॥१५॥

भरतस्यात्मजौ वीरौ तक्षः पुष्कल एव च।
मातुलेन सुगुप्तौ तु धर्मेण सुसमाहितौ ॥१६॥

भरत जी के ये दोनों कुमार महाबली तक्ष और पुष्कल, अपने कर्त्तव्य में सावधान रह कर, वहाँ जाँयगे और मामा की रक्षा (देख भाल) में वहाँ रहेंगे ॥१६॥

भरतं चाग्रतः कृत्वा कुमारौ सबलानुगौ।
निहत्य गन्धर्वसुतान् द्वे पुरे विभजिष्यतः ॥१७॥

भरत जी इन दोनों कुमारों के साथ, बहुत सी सेना ले कर जाँयगे और उन गन्धर्वपुत्रों को मार कर, वहाँ दो नगर बसावेंगे ॥१७॥

निवेश्य ते पुरवरे आत्मजौ सन्निवेश्य च।
आगमिष्यति मे भूयः सकाशमतिधार्मिकः ॥१८॥

इन श्रेष्ठ नगरों को बसा (आबाद) कर और अपने पुत्रों को वहाँ का राज्य सौंप, महात्मा भरत शीघ्र मेरे पास लौट आवेंगे ॥१८॥

ब्रह्मर्षिमेवमुक्त्वा तु भरतं स बलानुगम्।
आज्ञापयामास तदा कुमारौ चाभ्यषेचयत् ॥१९॥

इस प्रकार ब्रह्मर्षि से कह, श्रीरामचन्द्र जी ने सेना सहित वहाँ जाने की भरत जी को आज्ञा दी और दोनों कुमारों का अभिषेक किया ॥१९॥

नक्षत्रेण च सौम्येन पुरस्कृत्याङ्गिरःसुतम् ।
भरतः सह सैन्येन कुमाराभ्यां विनिर्ययौ ॥२०॥

अच्छे नक्षत्र एवं योग में अङ्गिरा के पुत्र गार्ग्य ऋषि को आगे कर और दोनों कुमारों को सेना सहित अपने साथ ले, भरत जी रवाना हुए ॥२०॥

सा सेना शक्रयुक्तेव नगरान्निर्ययावथ ।
राघवानुगता दूरं दुराधर्षा सुरैरपि ॥२१॥

भरत की सेना, इन्द्र की सेना की तरह उनके साथ अयोध्या से निकली । देवताओं से भी दुर्धर्ष उस सेना की रक्षा दोनों कुमार करते थे । जब ये लोग कुछ दूर निकल गए ॥२१॥

मांसाशिनश्च ये सत्त्वा रक्षांसि सुमहान्ति च ।
अनुजग्मुर्हि भरतं रुधिरस्य पिपासया ॥२२॥

तब मांसभक्षी जीव और बड़े बड़े राक्षस भी गन्धर्वपुत्रों के रुधिर के प्यासे हो, भरत के पीछे हो लिए ॥२२॥

भूतग्रामाश्च बहवो मांसभक्षाः सुदारुणाः ।
गन्धर्वपुत्रमांसानि भोक्तुकामाः सहस्रशः ॥२३॥

और भी जीव जो बड़े दारुण और मांसभक्षी थे, वे सहस्रों की संख्या में गन्धर्वपुत्रों का मांस खाने को, उनके पीछे हो लिए ॥२३॥

सिंहव्याघ्रवराहाणां खेचराणां च पक्षिणाम् ।
बहूनि वै सहस्राणि सेनाया ययुरग्रतः ॥२४॥

सिंह, व्याघ्र, वराह, तथा आकाशचारी सहस्रों पक्षी सेना के आगे आगे चले ॥२४॥

अध्यर्धमासमुषिता पथि सेना निरामया।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णा केकयं समुपागमत् ॥२५॥

इति शततमः सर्गः ॥

वह सेना नीरोग हो और रास्ते में ठहरती हुई, हृष्टपुष्ट सैनिकों से युक्त डेढ़ मास में केकय देश में पहुँची ॥२५॥

उत्तरकाण्ड का सौवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—❀—

एकोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

श्रुत्वा सेनापतिं प्राप्तं भरतं केकयाधिपः।
युधाजिद्गार्ग्यसहितं परां प्रीतिमुपागमत् ॥१॥

जब केकयदेशाधिपति ने सुना कि, भरत जी सेनापति हो कर आ रहे हैं, तब युधाजित् और गर्ग अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥१॥

स निर्ययौ जनौघेन महता केकयाधिपः।
त्वरमाणोऽभिचक्राम गन्धर्वान् केकयाधिपः ॥२॥

केकयदेशाधिपति युधाजित् बहुत सी सेना साथ ले, गन्धर्वों को जीतने के लिए बड़ी शीघ्रता से चले ॥२॥

भरतश्च युधाजिच्च समेतौ लघुविक्रमैः।
गन्धर्वनगरं प्राप्तौ सबलौ सपदानुगौ ॥३॥

महापराक्रमी भरत और युधाजित् दोनों मिल कर घुड़सवार और पैदल सेना सहित गन्धर्वनगर में पहुँचे ॥३॥

श्रुत्वा तु भरतं प्राप्तं गन्धर्वास्ते समागताः ।
योद्धुकामा महावीर्या व्यनदंस्ते समन्ततः ॥४॥

भरत को लड़ने के लिए आया हुआ सुन, वे महाबली गन्धर्व एकत्र हो, लड़ने की इच्छा से गर्जने लगे ॥४॥

ततः समभवद्युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
सप्तरात्रं महाभीमं न चान्यतरयोर्जयः ॥५॥

तब उन गन्धर्वों के साथ सात दिन और सात रात बड़ा भयङ्कर और रोमहर्षणकारी (रोंगटे खड़े करने वाला) युद्ध होता रहा, परन्तु दोनों पक्षों में से किसी की भी हार जीत न हुई ॥५॥

खड्गशक्तिधनुर्ग्राहा नद्यः शोणितसंस्रवाः ।
नृकलेवरवाहिन्यः प्रवृत्ताः सर्वतो दिशम् ॥६॥

उस युद्ध में लोहू की नदियाँ चारों ओर बह निकलीं । उन लोहू की नदियों में शक्ति और धनुष तो मगर रूपी थे और मनुष्यों की लोथें बही जा रही थीं ॥६॥

ततो रामानुजः क्रुद्धः कालस्यास्त्रं सुदारुणम् ।
संवर्तं नाम भरतो गन्धर्वेष्वभ्यचोदयत् ॥७॥

तब महाक्रोध में भर, श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई भरत जी ने बड़ा भयङ्कर लोहे का बना संवर्त नामक अस्त्र गन्धर्वों पर छोड़ा ॥७॥

ते बद्धाः कालपाशेन संवर्तेन विदारिताः ।
क्षणेनाभिहतास्तेन तिस्रः कोट्यो महात्मना ॥८॥

उससे वे सब गन्धर्व कालपाश में बँध गए। संवर्तास्त्र से विदीर्ण हो, क्षणमात्र में तीन करोड़ गन्धर्व मर कर गिर पड़े ॥८॥

तद्युद्धं तादृशं घोरं न स्मरन्ति दिवौकसः ।
निमेषान्तरमात्रेण तादृशानां महात्मनाम् ॥९॥

यह ऐसा भयङ्कर युद्ध हुआ कि, देवताओं की भी स्मृति में ऐसा युद्ध नहीं हुआ था कि, एक पल में इतने गन्धर्वों का नाश हो गया हो ॥९॥

हतेषु तेषु सर्वेषु भरतः केकयीसुतः ।
निवेशयामास तदा समृद्धे द्वे पुरोत्तमे ॥१०॥

इन गन्धर्वों के मारे जाने पर केकयी-पुत्र भरत जी ने वहाँ दो भरे पूरे नगर बसाए (आबाद किए) ॥१०॥

तक्षं तक्षशिलायां तु पुष्कलं पुष्कलावते ।
गन्धर्वदेशे रुचिरे गान्धारविषये च सः ॥११॥

और उनमें से एक का नाम तक्षशिला और दूसरे का पुष्कलावत रखा। उन्होंने तक्षशिला में तक्ष को और पुष्कलावत में पुष्कल को राजा बनाया ॥११॥

धनरत्नौघसङ्कीर्णे काननैरुपशोभिते ।
अन्योन्यसंघर्षकृते स्पर्धया गुणविस्तरैः ॥१२॥

ये दोनों नगर धन और रत्नों से भरे पूरे और वनों उपवनों से शोभित मानों अपने गुणों से एक दूसरे की स्पर्धा कर रहे थे। अर्थात् अपने गुणों से एक दूसरे को दबा लेना चाहते थे ॥१२॥

उभे सुरुचिरप्रख्ये व्यवहारैरकिल्विषैः ।
उद्यानयानसम्पूर्णे सुविभक्तान्तरापणे ॥१३॥

उन दोनों सुन्दर नगरों में धर्म और न्याय युक्त व्यवहार होता था और क्रय विक्रय में सत्यता से काम लिया जाता था। (ब्लैक मारकेटिंग का पाप नहीं होता था) उनमें अनेक बाग़ बगीचे थे तथा तरह तरह की सवारियाँ और अनेक प्रकार के पदार्थ भरे रहते थे अथवा उन नगरों के चौराहे तथा चौक बड़े रमणीक थे ॥१३॥

उभे पुरवरे रम्ये विस्तरैरुपशोभिते ।
गृहमुख्यैः सुरुचिरैर्विमानैर्बहुभिर्वृते ॥१४॥

उन दोनों रमणीक पुरों में लम्बी और चौड़ी सड़कें थीं तथा बड़े बड़े अटे अटारियों से युक्त विशाल भवनों से वे सुशोभित थे ॥१४॥

शोभिते शोभनीयैश्च देवायतनविस्तरैः ।
तालैस्तमालैस्तिलकैर्बकुलैरुपशोभिते ॥१५॥

बड़े बड़े देवमन्दिरों से उनकी शोभा दुगुनी हो रही थी। ताल, तमाल, तिलक, बकुलादि वृक्षों से वे शोभित हो रहे थे ॥१५॥

निवेश्य पञ्चभिर्वर्षैर्भरतो राघवानुजः ।
पुनरायान् महाबाहुरयोध्यां केकयीसुतः ॥१६॥

इस प्रकार उन दोनों नगरों में अपने दोनों पुत्रों को राजसिंहासन पर बैठा, भरत जी पाँच वर्षों तक वहाँ रहे। तदनन्तर (जब वे दोनों राज्य दृढ़ हो गए तब) महाबाहु केकयीपुत्र भरत जी लौट कर अयोध्या में चले आए ॥१६॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं साक्षाद्धर्ममिवापरम् ।
राघवं भरतः श्रीमान् ब्रह्माणमिव वासवः ॥१७॥

अयोध्या में आ भरत जी ने धर्मात्मा महाबली श्रीरामचन्द्र जी को वैसे ही प्रणाम किया, जैसे इन्द्र ब्रह्मा को प्रणाम करते हैं ॥१७॥

शशंस च यथावृत्तं गन्धर्ववधमुत्तमम् ।
निवेशनं च देशस्य श्रुत्वा प्रीतोऽस्य राघवः ॥१८॥

इति एकोत्तरशततमः सर्गः ॥

भरत जी ने श्रीरामचन्द्र जी से गन्धर्वों के मारे जाने का तथा नये दो नगरों के बसाए जाने का सारा वृत्तान्त कहा; जिसे सुन श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए ॥१८॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ पहिला सर्ग समाप्त हुआ ।

—❀—

द्व्युत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

तच्छ्रुत्वा हर्षमापेदे राघवो भ्रातृभिः सह ।
वाक्यं चाद्भुतसङ्काशं तदा प्रोवाच लक्ष्मणम् ॥१॥

भरत जी की बातें सुन भाइयों सहित श्रीरामचन्द्र जी बहुत प्रसन्न हुए और फिर यह अद्भुत वचन लक्ष्मण जी से बोले ॥१॥

इमौ कुमारौ सौमित्रे तव धर्मविशारदौ ।
अङ्गदश्चन्द्रकेतुश्च राज्यार्थे दृढविक्रमौ ॥२॥

हे लक्ष्मण ! ये जो तुम्हारे अङ्गद और चन्द्रकेतु दो पुत्र हैं, सो इनमें इतना पराक्रम है कि, ये राज्य कर सकते हैं ॥२॥

इमौ राज्येऽभिषेक्ष्यामि देशः साधु विधीयताम् ।
रमणीयो ह्यसम्बाधो रमेतां यत्र धन्विनौ ॥३॥

मेरी इच्छा है कि, किसी देश का राज्य इनको दिया जाय। अतएव कोई ऐसा देश सोचो, जो रमणीय और निरुपद्रव हो। जहाँ ये दोनों धनुषधारी आनन्द से रहें ॥३॥

न राज्ञो यत्र पीडा स्यान्नाश्रमाणां विनाशनम् ।
स देशो दृश्यतां सौम्य नापराध्यामहे यथा ॥४॥

वह देश ऐसा हो जहाँ न तो अन्य किसी राजा का भय हो और न (तपस्वियों के) आश्रमों ही का विनाश हो। हे सौम्य ! तुम कोई देश ढूँढ़ो, जहाँ (का शासन करने पर) किसी प्रकार से हम लोग अपराधी न ठहराए जाँय ॥४॥

तथोक्तवति रामे तु भरतः प्रत्युवाच ह ।
अयं कारुपथो देशो रमणीयो निरामयः ॥५॥

श्रीरामचन्द्र के ऐसा कहने पर भरत जी बोले। महाराज ! कारुपथ देश बड़ा रमणीय और सब प्रकार से निरापद है ॥५॥

निवेश्यतां तत्र पुरमङ्गदस्य महात्मनः ।
चन्द्रकेतोः सुरुचिरं चन्द्रकान्तं निरामयम् ॥६॥

वहाँ का राज्य तो अङ्गद को दीजिए और चन्द्रकान्त नगर का राज्य चन्द्रकेतु को दीजिए ॥६॥

तद्वाक्यं भरतेनोक्तं प्रतिजग्राह राघवः ।
तं च कृत्वा वशे देशमङ्गदस्य न्यवेशयत् ॥७॥

भरत जी के कथन को मान कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उस देश को अपने अधीन कर, वहाँ पर अङ्गद को अभिषिक्त किया ॥७॥

अङ्गदीया पुरी रम्या ह्यङ्गदस्य निवेशिता ।
रमणीया सुगुप्ता च रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥८॥

अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र ने (कामरूप देश में) रमणीय अङ्गदीया नाम पुरी अङ्गद को सौंपी और उस पुरी की रक्षा का भली भाँति प्रबन्ध कर दिया ॥८॥

चन्द्रकेतोश्च मल्लस्य मल्ल[१] भूम्यां निवेशिता ।
चन्द्रकान्तेति विख्याता दिव्या स्वर्गपुरी यथा ॥९॥

मल्लभूमि में स्वर्गपुरी के समान चन्द्रकान्त नाम की नगरी बसा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ का राज्य बलवान चन्द्रकेतु को दिया ॥९॥

ततो रामः परां प्रीतिं लक्ष्मणो भरतस्तथा ।
ययुर्युद्धे दुराधर्षा अभिषेकं च चक्रिरे ॥१०॥

तदनन्तर यह सब प्रबन्ध कर, युद्ध में दुराधर्ष श्रीरामचन्द्र जी, भरत जी और लक्ष्मण जी हर्षित हुए और कुमारों का अभिषेक कर दिया ॥१०॥

---

१ "मल्लोमत्स्यभेदेबलीयसि" इति विश्वः ।

अभिषिच्य कुमारौ द्वौ प्रस्थाप्य सुसमाहितौ ।
अङ्गदं पश्चिमां भूमिं चन्द्रकेतुमुदङ्मुखम् ॥११॥

उन दोनों कुमारों का राज्याभिषेक कर सावधानी से अङ्गद को पश्चिम देश की पुरी में और चन्द्रकेतु को उत्तर ओर की नगरी में भेज दिया ॥११॥

अङ्गदं चापि सौमित्रिर्लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ।
चन्द्रकेतोस्तु भरतः पार्ष्णिग्राहो बभूव ह ॥१२॥

अङ्गद के साथ लक्ष्मण और चन्द्रकेतु के साथ भरत जी उन दोनों की सहायता के लिए गए ॥१२॥

लक्ष्मणस्त्वङ्गदीयायां संवत्सरमथोषितः ।
पुत्रे स्थिते दुराधर्षे अयोध्यां पुनरागमत् ॥१३॥

अङ्गद को अंगदिया पुरी में नियत कर, लक्ष्मण एक वर्ष तक वहाँ का सुप्रबन्ध कर अयोध्या को लौट आए ॥१३॥

भरतोऽपि तथैवोष्य संवत्सरमतोऽधिकम् ।
अयोध्यां पुनरागम्य रामपादावुपास्त सः ॥१४॥

इसी प्रकार भरत जी भी एक वर्ष से कुछ अधिक चन्द्र के साथ रह कर, फिर श्रीरघुनाथ जी की चरणसेवा अथवा शुश्रूषा करने को अयोध्या में लौट कर आ गये ॥१४॥

उभौ सौमित्रिभरतौ रामपादावनुव्रतौ ।
कालं गतमपि स्नेहान्न जज्ञातेऽतिधार्मिकौ ॥१५॥

ये दोनों महात्मा धर्मज्ञ भरत और लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करते थे । स्नेहपूर्वक रहने से बहुत समय का बीत जाना उनको कुछ भी मालूम नहीं पड़ता था ॥१५॥

एवं वर्षसहस्राणि दश तेषां ययुस्तदा ।
धर्मे प्रयतमानानां पौरकार्येषु नित्यदा ॥१६॥

इस प्रकार धर्मपूर्वक प्रजापालन करते करते, श्रीरामचन्द्र जी को दस हज़ार वर्ष बीत गए ॥१६॥

विहृत्य कालं परिपूर्णमानसाः
श्रिया वृता धर्मपुरे च संस्थिताः ।
त्रयः समिद्धाहुतिदीप्ततेजसो
हुताग्नयः साधुमहाध्वरे त्रयः ॥१७॥

इति द्व्युत्तरशततमः सर्गः ॥

अयोध्यापुरी में धन धान्य से परिपूर्ण और सन्तुष्ट हो, आनन्द से रहते हुए तीनों भाइयों को बहुत समय बीत गया । वे तीनों भाई अपने प्रज्वलित अग्नि के समान प्रकाश से यज्ञ के प्रज्वलित तीन अग्नियों के समान शोभायमान हुए ॥१७॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ दूसरा सर्ग पूरा हुआ ।

[टिप्पणी – इस वर्णन में श्रीरामचन्द्र जी का अपने भाइयों के प्रति सौहार्द्र ध्यान देने योग्य है । श्रीरामचन्द्र ने प्रथम अपने छोटे भाइयों के पुत्रों को राज्य सौंपे--अपने पुत्रों को पीछे यह इसलिए कि उनके पीछे चचेरे भाइयों में झगड़े न हों ।]

—:o:—

त्र्युत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

कस्यचित्त्वथ कालस्य रामे धर्मपरे स्थिते ।
कालस्तापसरूपेण राजद्वारमुपागमत् ॥१॥

इस प्रकार धर्मपूर्वक राज्य करते करते कुछ समय और बीतने पर तपस्वी का रूप धारण कर, काल राजद्वार पर आया ॥१॥

दूतो ह्यतिबलस्याहं महर्षेरमितौजसः।
रामं दिदृक्षुरायातः कार्येण हि महाबलः ॥२॥

(उस समय लक्ष्मण जी राजद्वार पर खड़े हुये थे। अतः) उसने लक्ष्मण जी से कहा—महाराज को मेरे आगमन की सूचना दो और कहो कि, अति पराक्रमी महर्षि अतिबल का दूत, किसी कार्यवश आपसे भेंट करने आया है ॥२॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमित्रिस्त्वरयान्वितः।
न्यवेदयत रामाय तापसं तं समागतम् ॥३॥

उसके यह वचन सुन कर, लक्ष्मण जी बड़ी फुर्ती से भीतर गए और श्रीरामचन्द्र जी को उस तपस्वी के आने की सूचना दी ॥३॥

जयस्व राजधर्मेण उभौ लोकौ महाद्युते।
दूतस्त्वां द्रष्टुमायातस्तपसा भास्करप्रभः ॥४॥

(लक्ष्मण जी बोले) हे महाराज! राजधर्मपालन द्वारा तुम्हारी दोनों लोकों में जय हो। हे महाद्युतिमान्! सूर्य के समान कान्ति वाला एक तापसदूत तुमसे मिलने के लिए आया हुआ है ॥४॥

तद्वाक्यं लक्ष्मणोक्तं वै श्रुत्वा राम उवाच ह।
प्रवेश्यतां मुनिस्तात महौजास्तस्य वाक्यधृक् ॥५॥

लक्ष्मण जी के यह वचन सुनते ही श्रीरामचन्द्र जी बोले—हे तात ! उस सन्देसा लाने वाले महातेजस्वी तपस्वी को शीघ्र यहाँ लाओ ॥५॥

सौमित्रिस्तु तथेत्युक्त्वा प्रावेशयत तं मुनिं ।
ज्वलन्तमिव तेजोभिः प्रदहन्तमिवांशुभिः ॥६॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन कर, लक्ष्मण जी, तेज से प्रकाशमान और सूर्य की तरह भस्म सा करने वाले, उस तपस्वी को श्रीरामचन्द्र जी के पास ले गए ॥६॥

सोऽभिगम्य रघुश्रेष्ठं दीप्यमानं स्वतेजसा ।
ऋषिर्मधुरया वाचा वर्धस्वेत्याह राघवम् ॥७॥

तेजस्वी श्रीरामचन्द्र के निकट जा, उस तपस्वी ने कोमल वाणी से कहा—महाराज की जय हो और बढ़ती हो ॥७॥

तस्मै रामो महातेजाः पूजामर्घ्यपुरोगमाम् ।
ददौ कुशलमव्यग्रं प्रष्टुं चैवोपचक्रमे ॥८॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने उस ऋषि को अर्घ्य पाद्य दे आसन पर बिठाया और उससे कुशल प्रश्न किया ॥८॥

पृष्टश्च कुशलं तेन रामेण वदतांवरः ।
आसने काञ्चने दिव्ये निषसाद महायशाः ॥९॥

जब सोने के दिव्य आसन पर वे महायशस्वी मुनि बैठ गए, तब बोलने वालों में चतुर श्रीरामचन्द्र जी उनसे कुशल पूँछते हुए बोले ॥९॥

तमुवाच ततो रामः स्वागतं ते महामते ।
प्रापयास्य च वाक्यानि यतो दूतस्त्वमागतः ॥१०॥

हे मतिमान् ! तुम भले आए। अब तुम उनका संदेसा कहो जिन्होंने तुमको अपना दूत बना कर, यहाँ भेजा है ॥१०॥

चोदितो राजसिंहेन मुनिर्वाक्यमभाषत ।
द्वन्द्वे ह्येतत्प्रवक्तव्यं हितं वै यद्यवेक्षसे ॥११॥

जब राजसिंह श्रीरामचन्द्र जी ने यह कहा, तब मुनि उत्तर देते हुए बोले—हे राजन् ! मैं अपना संदेसा आपसे एकान्त में कहना चाहता हूँ। (हमारी बातचीत होने के समय) हम और आप दो ही जने हों। क्योंकि देवताओं का हित देवताओं की रहस्यमयी बात के छिपाने ही में है (तीर्थी०) ॥११॥

यः शृणोति निरीक्षेद्वा स वध्यो भविता तव ।
भवेद्वै मुनिमुख्यस्य वचनं यद्यवेक्षसे ॥१२॥

अतएव हम दोनों के बातचीत करते समय, यदि तीसरा जन उसे सुने या देखे तो वह तुम्हारे हाथ से मारा जाय ॥१२॥

तथेति च प्रतिज्ञाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
द्वारि तिष्ठ महाबाहो प्रतिहारं विसर्जय ॥१३॥

श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा करना स्वीकार किया और लक्ष्मण से कहा—हे सौमित्रे ! जाओ और तुम द्वार पर खड़े रहो। वहाँ से द्वारपाल को भी हटा दो ॥१३॥

स मे वध्यः खलु भवेद्वाचं द्वन्द्वसमीरितम् ।
ऋषेर्मम च सौमित्रे पश्येद्वा शृणुयाच्च यः ॥१४॥

जब तक हम दोनों बातचीत करते रहें ; तब तक हमारे पास हमें देखने या हमसे बातचीत करने कोई न आवे। यदि किसी ने ऐसा किया तो उसे मैं अपने हाथ से मार डालूंगा ॥१४॥

ततो निक्षिप्य काकुत्स्थो लक्ष्मणं द्वारि संग्रहम् ।
तमुवाच मुने वाक्यं कथयस्वेति राघवः ॥१५॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी को द्वार पर नियुक्त कर, उन तपस्वी से कहा कि, अब तुम कहो ॥१५॥

यत्ते मनीषितं वाक्यं येन वाऽसि समाहितः ।
कथयस्वाविशङ्कस्त्वं ममापि हृदि वर्तते ॥१६॥

इति त्र्युत्तरशततमः सर्गः ॥

तुम्हारा जो कुछ अभीष्ट हो अथवा जिन्होंने तुमको भेजा हो, उनका मनोरथ तुम निःसङ्कोच भाव से कहो। क्योंकि उसे सुनने की मुझे उत्कण्ठा है (अथवा तुम जो कहने आए हो, वह मुझे मालूम है) ॥१६॥

उत्तरकाण्ड एकसौ तीसरा सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

चतुरुत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

शृणु राजन् महासत्त्व यदर्थमहमागतः ।
पितामहेन देवेन प्रेषितोस्मि महाबल ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी का यह कथन सुन कर, ऋषि बोले—हे महा-पराक्रमी ! सुनिए ! मैं वह कारण बतलाता हूँ, जिसके लिए मैं यहाँ आया हूँ। हे महाबली ! मुझको पितामह ब्रह्मा जी ने भेजा है ॥१॥

तवाहं पूर्वके भावे पुत्रः परपुरञ्जय ।
मायासम्भावितो वीर कालः सर्वसमाहरः ॥२॥

हे परपुरञ्जय ! जिस समय पूर्वकाल में सृष्टि की उत्पत्ति हुई, उस समय तुम्हारी माया से मेरी उत्पत्ति हुई। अतएव मैं (एक प्रकार से) तुम्हारा पुत्र ही हूँ। हे वीर ! मेरा नाम काल है और मैं सब का संहार करने वाला हूँ ॥२॥

पितामहश्च भगवानाह लोकपतिः प्रभुः ।
समयस्ते कृतः सौम्य लोकान् संपरिरक्षितुम् ॥३॥

लोकस्वामी भगवान् पितामह ब्रह्मा जी ने कहा है कि, हे सौम्य ! इन लोकों की रक्षा के लिए तुम्हीं ने जो (मृत्युलोक में अपने रहने की) अवधि बाँधी थी, वह अब पूरी हो चुकी ॥३॥

संक्षिप्य हि पुरा लोकान् मायया स्वयमेव हि ।
महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः ॥४॥

तुम्हीं पूर्वकाल में माया द्वारा लोक का संहार कर महा-सागर में सोए थे। उसी समय मैं उत्पन्न किया गया ॥४॥

भोगवन्तं ततो नागमनन्तमुदकेशयम् ।
मायया जनयित्वा त्वं द्वौ च सत्वौ महाबली ॥५॥

तदनन्तर उसी समय तुमने जलचारी बड़े शरीर वाले अनन्त नाग को उत्पन्न किया। इसके अतिरिक्त तुमने और भी महाबली दो जीवों को उत्पन्न किया ॥५॥

मधुं च कैटभं चैव ययोरस्थिचयैर्वृता ।
इयं पर्वतसम्बाधा मेदिनी चाभवत्तदा ॥६॥

उन दोनों के नाम थे मधु और कैटभ। इनकी हड्डियों से पर्वतों सहित सारी पृथिवी ढक गई और उनकी मेदा से तर होने के कारण यह पृथिवी 'मेदिनी कहलाई। (दूसरा अर्थ) मधु और कैटभ के मारने से मधु की चर्बी जल में मिली, तब जल गाढ़ा हुआ और उसके सूखने पर यह पृथिवी बनी। कैठभ के शरीर में हड्डियाँ ही हड्डियाँ थीं। अतः जब वह मारा गया, तब उसके शरीर की हड्डियों से पर्वत बन गए जिनसे यह पृथिवी घिरी हुई है। इस प्रकार पर्वतों सहित पृथिवी की उत्पत्ति हुई ॥६॥

पद्मे दिव्येऽर्कसङ्काशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि ।
प्राजापत्यं त्वया कर्म मयि सर्वं निवेशितम् ॥७॥

फिर तुमने अपनी नाभि से सूर्य समान, एक कमल उत्पन्न किया। उससे मुझे उत्पन्न किया और मुझे प्रजा की उत्पत्ति का कार्य सौंपा ॥७॥

सोऽहं संन्यस्तभारो हि त्वामुपास्य जगत्पतिम् ।
रक्षां विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान् ॥८॥

इस प्रकार तुमसे प्रजा उत्पत्ति करने का अधिकार प्राप्त कर, तुम्हारी उपासना कर, तुमसे यह प्रार्थना की—हे भगवन्! सृष्टि

की रचना का भार तो तुमने मेरे ऊपर रख दिया, किन्तु अब इसकी रक्षा तुम करो। क्योंकि मुझमें सृष्टि को उत्पन्न करने की शक्ति उत्पन्न करने वाले तो तुम्हीं हो।८॥

तस्त्वमसि दुर्धर्षात्तस्माद्भावात्सनातनात्।
रक्षां विधास्यन् भूतानां विष्णुत्वमपजग्मिवान्॥९॥

यह वचन सुन कर, उस समय तुमने उस सनातन एवं दुर्धर्ष भाव को त्याग कर, जगत की रक्षा के लिए विष्णु रूप धारण किया॥९॥

अदित्यां वीर्यवान् पुत्रो भ्रातॄणां वीर्यवर्धनः।
समुत्पन्नेषु कृत्येषु तेषां साह्याय कल्पसे॥१०॥

(कश्यप से) अदिति के गर्भ में बलवान पुत्र के रूप में (उपेन्द्र नाम धारण कर) उत्पन्न हो, तुम अपने भाइयों का आनन्द बढ़ाते हुए उनकी सहायता करते थे॥१०॥

स त्वमुज्जास्यमानासु प्रजासु जगतांवर।
रावणस्य वधाकाङ्क्षी मानुषेषु मनो दधाः॥११॥

हे जगत् में श्रेष्ठ! इसी प्रकार तुमने इस समय भी प्रजा को महादुःखी देख, रावण का वध करने के लिए मनुष्य रूप धारण किया॥११॥

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च।
कृत्वा वासस्य नियमं स्वयमेवात्मना पुरा॥१२॥

उस समय तुमने स्वयं ही ग्यारह सहस्र वर्षों तक मनुष्यलोक में रहने की अवधि बाँधी थी॥१२॥

स त्वं मनोमयः पुत्रः पूर्णायुर्मानुषेष्विह ।
कालो नरवरश्रेष्ठ समीपमुपवर्तितुम् ॥१३॥

हे नरवरश्रेष्ठ ! तुम केवल अपने सङ्कल्प से महाराज दशरथ के पुत्र हुए। सो अब वह तुम्हारी निर्दिष्ट की हुई ग्यारह सहस्र वर्ष की अवधि समाप्त होने वाली है ॥१३॥

यदि भूयो महाराज प्रजा इच्छस्युपासितुम् ।
वस वा बीर भद्रं ते एवमाह पितामहः ॥१४॥

हे वीर ! तुम्हारा मंगल हो। यदि अभी और प्रजा का पालन करने की तुम्हारी इच्छा हो तो तुम और यहाँ वास करो। बस ब्रह्मा जी ने यही सँदेसा भेजा है ॥१४॥

अथवा विजिगीषा ते सुरलोकाय राघव ।
सनाथा विष्णुना देवा भवन्तु विगतज्वराः ॥१५॥

यदि देवलोक के शासन करने की तुम्हारी इच्छा हो, तो चल कर अपने विष्णु रूप से समस्त देवताओं को सनाथ और निर्भय करो ॥१५॥

श्रुत्वा पितामहेनोक्तं वाक्यं कालसमीरितम् ।
राघवः प्रहसन् वाक्यं सर्वसंहारमब्रवीत् ॥१६॥

काल के मुख से ब्रह्मा जी का यह सँदेसा सुन, श्रीरामचन्द्र ने हँस कर सर्वसंहारकारी काल से कहा ॥१६॥

श्रुत्वा मे देवदेवस्य वाक्यं परममद्भुतम् ।
प्रीतिर्हि महती जाता तवागमनसम्भवा ॥१७॥

देवों के देव ब्रह्मा जी के यह वचन सुन कर और तुम्हारे आगमन से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ ॥१७॥

त्रयाणामपि लोकानां कार्यार्थं मम सम्भवः ।
भद्रं तेऽस्तु गमिष्यामि यत एवाहमागतः ॥१८॥

तीनों लोकों का कार्य सिद्ध करने ही के लिए मेरा यह अवतार है। तुम्हरा मङ्गल हो। मैं जहाँ से आया हूँ वहाँ ही चला जाऊँगा ॥१८॥

हृद्गतो ह्यसि सम्प्राप्तो न मे तत्र विचारणा ।
मया हि सर्वकृत्येषु देवानां वशवर्तिना ।
स्थातव्यं सर्वसंहार यथा ह्याह पितामहः ॥१९॥

इति चतुरुत्तरशततमः सर्गः ॥

हे काल ! मैं तो यहाँ से चलने का विचार अपने मन में पहिले ही कर चुका था। अतएव अब इसके बारे में कुछ सोचना विचारना नहीं है। मुझे अपने पक्ष के अथवा अपने भक्त देवताओं के सब कार्यों को करना ही चाहिए। अतएव ब्रह्मा जी ने जो कुछ कहा है, वह शीघ्र होगा ॥१९॥

उत्तरकाण्ड का एकसौ चौथा सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

पञ्चोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

तथा तयोः संवदतोर्दुर्वासा भगवानृषिः ।
रामस्य दर्शनाकांक्षी राजद्वारमुपागमत् ॥१॥

जिस समय श्रीरामचन्द्र जी की काल से बातचीत हो रही थी, उसी समय श्रीरामचन्द्र जी से मिलने के लिए महर्षि दुर्वासा राज-द्वार पर आए ॥१॥

सोभिगम्य तु सौमित्रिमुवाच ऋषिसत्तमः।
रामं दर्शय मे शीघ्रं पुरा मेऽर्थोति वर्तते ॥२॥

वे ऋषिश्रेष्ठ, लक्ष्मण जी से बोले मुझे श्रीरामचन्द्र जी से शीघ्र मिलाओ नहीं तो मेरा काम नष्ट हुआ जाता है ॥२॥

मुनेस्तु भाषितं श्रुत्वा लक्ष्मणः परवीरहा।
अभिवाद्य महात्मानं वाक्यमेतदुवाच ह ॥३॥

शत्रुघाती लक्ष्मण जी मुनि के यह वचन सुन कर, उन महात्मा को प्रणाम कर, यह बोले ॥३॥

किं कार्यं ब्रूहि भगवन्को ह्यर्थः किं करोम्यहम्।
व्यग्रो हि राघवो ब्रह्मन् मुहूर्तं प्रतिपाल्यताम् ॥४॥

भगवन्! आपका क्या काम है। आप किस काम के लिए उनसे मिलना चाहते हैं? मुझे बतलाइए। मैं उसे तुरंत कर दूँगा। श्रीरामचन्द्र जी इस समय किसी कार्य में व्यग्र हैं। अतएव आप एक मुहूर्त्त भर ठहर जाइए ॥४॥

तच्छ्रुत्वा ऋषिशार्दूलः क्रोधेन कलुषीकृतः।
उवाच लक्ष्मणं वाक्यं निर्दहन्निव चक्षुषा ॥५॥

यह सुनते ही ऋषिश्रेष्ठ दुर्वासा, क्रोध में भर नेत्रों से भस्म करते हुए से लक्ष्मण जी से बोले ॥५॥

अस्मिन्क्षणे मां सौमित्रे रामाय प्रतिवेदत ।
विषयं त्वा पुरं चैव शपिष्ये राघवं तथा ॥६॥

हे लक्ष्मण ! तुम तुरन्त मेरे आगमन की सूचना श्रीरामचन्द्र जी को दो, नहीं तो मैं तुम्हें, तुम्हारे देश को, तुम्हारे नगर को और राम को शाप देता हूँ ॥६॥

भरतं चैव सौमित्रे युष्माकं या च सन्ततिः ।
न हि शक्ष्याम्यहं भूयो मन्युं धारयितुं हृदि ॥७॥

हे लक्ष्मण ! इतना ही नहीं, किन्तु मैं भरत को और तुम्हारी सन्तानों को भी शाप देता हूँ। क्योंकि मैं अब अपने क्रोध को अपने हृदय में सम्हाल नहीं सकता ॥७॥

तच्छ्रुत्वा घोरसङ्काशं वाक्यं तस्य महात्मनः ।
चिन्तयामास मनसा तस्य वाक्यस्य निश्चयम् ॥८॥

दुर्वासा के इन भयङ्कर वचनों को सुन, लक्ष्मण जी ने अपने मन में परिणाम को विचारा ॥८॥

एकस्य मरणं मेऽस्तु मा भूत्सर्वविनाशनम् ।
इति बुद्ध्या विनिश्चित्य राघवाय न्यवेदयत् ॥९॥

उन्होंने सोचा कि, यदि मैं अभी श्रीरामचन्द्र जी के पास चला जाता हूँ तो (अकेला) मैं ही मारा जाऊँगा। यदि नहीं जाता तो सब को ऋषि के शाप से नष्ट होना पड़ेगा। अतएव मेरा ही मारा जाना ठीक है। सब का नाश होना ठीक नहीं। यह निश्चय कर, लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के पास गए और दुर्वासा के आगमन की उनको सूचना दी ॥९॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा रामः कालं विसृज्य च ।
निसृत्य त्वरितं राजा अत्रेः पुत्रं ददर्श ह ॥१०॥

लक्ष्मण के वचन सुनते ही श्रीरामचन्द्र जी ने काल को बिदा कर दिया और तुरन्त द्वार पर आ कर, वे अत्रिपुत्र दुर्वासा से मिले ॥१०॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
किं कार्यमिति काकुत्स्थः कृताञ्जलिरभाषत ॥११॥

श्रीरामचन्द्र जी तेजस्वी महात्मा दुर्वासा जी को प्रणाम कर और हाथ जोड़ कर बोले—कहिए क्या आज्ञा है ॥११॥

तद्वाक्यं राघवेणोक्तं श्रुत्वा मुनिवरः प्रभुः ।
प्रत्याह रामं दुर्वासाः श्रूयतां धर्मवत्सल ॥१२॥

मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा, श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन कर बोले हे धर्मवत्सल ! सुनिए ॥१२॥

अद्य वर्षसहस्रस्य समाप्तिर्मम राघव ।
सोऽहं भोजनमिच्छामि तथासिद्धं तवानघ ॥१३॥

हे पापरहित ! मैंने एक हजार वर्षों तक भोजन न करने का व्रत धारण किया था। वह आज पूरा हो गया। अतः तुम्हारे यहाँ इस समय जो कुछ तैयार हो, वह मुझे भोजन कराओ ॥१३॥

[टिप्पणी—दुर्वासा जी ने यह जो कहा, वह ऐसी बात न थी। जिसे वे लक्ष्मण जी से न कह सकते थे। लक्ष्मण जी की शक्ति के बाहर यह बात न थी कि वे दुर्वासा जी को भोजन करवा सकते; किन्तु क्रोधी पुरुष हठी भी होते हैं। और कभी कभी अर्थ का अनर्थ भी कर बैठते हैं।]

तच्छ्रुत्वा वचनं राजा राघवः प्रीतमानसः ।
भोजनं मुनिमुख्याय यथासिद्धमुपाहरत् ॥१४॥

दुर्वासा के यह वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त हर्षित हुए और अमृत के समान स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ मुनिराज को जिमाए ॥१४॥

स तु भुक्त्वा मुनिश्रेष्ठस्तदन्नममृतोपमम् ।
साधु रामेति सम्भाष्य स्वमाश्रममुपागमत् ॥१५॥

मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा जी, अमृत के समान भोज्य पदार्थों को खा कर और श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा करते हुए, अपने आश्रम को चले गए ॥१५॥

संस्मृत्य कालवाक्यानि ततो दुःखमुपागमत् ।
दुःखेन च सुसन्तप्तः स्मृत्वा तद्घोरदर्शनम् ॥१६॥

ऋषि दुर्वासा के चले जाने पर, काल के साथ की हुई अपनी विकट प्रतिज्ञा का स्मरण कर, श्रीरामचन्द्र जी मन में बड़े दुःखी हुए ॥१६॥

अवाङ्मुखो दीनमना व्याहर्तुं न शशाक ह ।
ततो बुद्ध्या विनिश्चित्य कालवाक्यानि राघवः ॥१७॥

और नीचे को मुख कर लिआ। उनसे कुछ बोला न गया। वे चुपचाप सोचने लगे। उन्होंने काल की बात पर अपनी बुद्धि से निश्चय किआ कि, बस हो चुका ॥१७॥

नैतदस्तीति निश्चित्य तूष्णीमासीन्महायशाः ॥१८॥

इति पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥

अब मेरे नौकरों चाकरों और कुटुम्बियों की समाप्ति का समय आ पहुँचा। यह निश्चय कर यशस्वी श्रीरामचन्द्र जी मौन हो गए ॥१८॥

उत्तरकाण्ड का एकसौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

षडुत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

अवाङ्मुखमथो दीनं दृष्ट्वा सोममिवाप्लुतम् ।
राघवं लक्ष्मणो वाक्यं हृष्टो मधुरमब्रवीत् ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी को नीचे मुख किए और उदास देख कर, लक्ष्मण जी हर्षित हो उनसे बोले ॥१॥

न सन्तापं महाबाहो मदर्थं कर्तुमर्हसि ।
पूर्वनिर्माणबद्धा हि कालस्य गतिरीदृशी ॥२॥

हे महाबाहो ! मेरे लिए तुम सन्तप्त न हो । क्योंकि काल की गति ही ऐसी है । जो कुछ होने को होता है, उसकी रचना पहिले ही हो चुकती है ॥२॥

जहि मां सौम्य विस्रब्धं प्रतिज्ञां परिपालय ।
हीनप्रतिज्ञाः काकुत्स्थ प्रयान्ति नरकं नराः ॥३॥

हे राम ! तुम निस्सङ्कोच हो मुझे मार कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो । क्योंकि हे काकुत्स्थ ! प्रतिज्ञा त्यागनेवाले पुरुष नरकगामी होते हैं ॥३॥

यदि प्रीतिर्महाराज यद्यनुग्राह्यता मयि ।
जहि मां निर्विशङ्कस्त्वं धर्मं वर्धय राघव ॥४॥

हे महाराज ! यदि तुम्हारी मुझमें प्रीति है, यदि तुम्हारे मेरे ऊपर कृपादृष्टि है, तो तुम मुझे मार कर, निस्सन्देह (सत्य) धर्म की रक्षा करो ॥४॥

—:o:—

लक्ष्मणेन तथोक्तस्तु रामः प्रचलितेन्द्रियः ।
मंत्रिणः समुपानीय तथैव च पुरोधसम् ॥५॥

लक्ष्मण जी के इन वचनों को सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी ने बिकल हो, अपने कुलपुरोहित और मंत्रियों को बुलाया ॥५॥

अब्रवीच्च तदा वृत्तं तेषां मध्ये स राघवः ।
दुर्वासोऽभिगमं चैव प्रतिज्ञां तापसस्य च ॥६॥

उन सब से श्रीरामचन्द्र जी ने तपस्वी के साथ की हुई प्रतिज्ञा और लक्ष्मण जी का दुर्वासा के वचन से अपने निकट चला आना सुनाया ॥६॥

तच्छ्रुत्वा मन्त्रिणः सर्वे सोपाध्यायाः [1]समासत ।
वसिष्ठस्तु महातेजा वाक्यमेतदुवाच ह ॥७॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन सब मंत्री सन्न हो गए । तब महातपस्वी वसिष्ठ जी यह बोले ॥७॥

दृष्टमेतन् महाबाहो क्षयं ते रोमहर्षणम् ।
लक्ष्मणेन वियोगश्च तव राम महायशः ॥८॥

हे महायशस्वी राम ! मुझे (योगबल से) यह रोमहर्षण नाशकारी वृत्तांत अवगत हो चुका है । लक्ष्मण से अब तुम्हारा वियोग निश्चित है ॥८॥

त्यजैनं बलवान् कालो मा प्रतिज्ञां वृथा कृथाः ।
प्रतिज्ञायां विनष्टायां धर्मो हि विलयं व्रजेत् ॥९॥

---

१ समासत—तूष्णींस्थिताः । (तीर्था०)

हे राजन् ! काल बलवान है । तुम अपनी प्रतिज्ञा को न त्याग कर, लक्ष्मण जी का त्याग करो । क्योंकि प्रतिज्ञा त्यागने से धर्म नष्ट होता है ॥९॥

ततो धर्मे विनष्टे तु त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
सदेवर्षिगणं सर्वं विनश्येत्तु न संशयः ॥१०॥

और धर्म नष्ट होने से तीनों लोक, और चर अचर सहित समस्त देवता तथा ऋषि नष्ट होते हैं । इसमें संशय नहीं है ॥१०॥

स त्वं पुरुषशार्दूल त्रैलोक्यस्याभिपालनात् ।
लक्ष्मणेन विना चाद्य जगत्स्वस्थं कुरुष्व ह ॥११॥

हे राम ! त्रैलोक्य का पालन करने के लिए (अर्थात् प्रतिज्ञा पालन कर, धर्म की मर्यादा रखने के लिए) लक्ष्मण को त्यागो और जगत् को स्वस्थ करो अर्थात् जनता के सामने अपनी प्रतिज्ञा पालन का आदर्श रख जनता का कल्याण करो ॥११॥

तेषां तत्समवेतानां वाक्यं धर्मार्थसंहितम् ।
श्रुत्वा परिषदो मध्ये रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥१२॥

उन एकत्रित लोगों के धर्म और युक्तियुक्त वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी भरी सभा में लक्ष्मण जी से बोले ॥१२॥

विसर्जये त्वां सौमित्रे मा भूद्धर्मविपर्ययः ।
त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम् ॥१३॥

हे सौमित्रे ! धर्म में बाधा न पड़े ; इसलिए मैं तुमको त्यागता हूँ या बिदा करता हूँ । साधुजनों के मतानुसार त्याग और वध समान ही है ॥१३॥

रामेण भाषिते वाक्ये बाष्पव्याकुलितेन्द्रियः ।
लक्ष्मणस्त्वरितं प्रायात् स्वगृहं न विवेश ह ॥१४॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, लक्ष्मण जी विकल हुए और आँखों में आँसू भरे हुए, वे श्रीरामचन्द्र जी की सभा को त्याग झट बाहिर निकल आए। वे अपने घर भी न जा कर ॥१४॥

स गत्वा सरयूतीरमुपस्पृश्य कृताञ्जलिः ।
निगृह्य सर्वस्रोतांसि निःश्वासं न मुमोच ह ॥१५॥

तुरन्त सीधे सरयू नदी के तट पर पहुँचे। फिर आचमन कर और हाथ जोड़ और समस्त इन्द्रियों का निग्रह कर, श्वास रोक (योगाभ्यास करने लगे) ॥१५॥

अनिःश्वसन्तं युक्तं तं सशक्राः साप्सरोगणाः ।
देवाः सर्षिगणाः सर्वे पुष्पैरभ्यकिरंस्तदा ॥१६॥

इस प्रकार लक्ष्मण को (योगाभ्यास करते) देख इन्द्र, अप्सराएँ देवता और ब्रह्मर्षि उन पर फूलों की वर्षा करने लगे ॥१६॥

अदृश्यं सर्वमनुजैः सशरीरं महाबलम् ।
प्रगृह्य लक्ष्मणं शक्रस्त्रिदिवं संविवेश ह ॥१७॥

मनुष्यों को न दिखलाई दे कर, इन्द्र आए और महाबलवान लक्ष्मण जी को शरीर सहित उठा कर, स्वर्ग को चले गए ॥१७॥

ततो विष्णोश्चतुर्भागमागतं सुरसत्तमाः ।
हृष्टाः प्रमुदिताः सर्वे पूजयन्ति स्म राघवम् ॥१८॥

इति षडुत्तरशततमः सर्गः ॥

सम्पूर्ण देवता विष्णु के चतुर्थ भाग रूपी लक्ष्मण को स्वर्ग में आया हुआ देख, बहुत प्रसन्न हुए और उनकी प्रशंसा करने लगे ॥१८॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—०—

सप्तोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

विसृज्य लक्ष्मणं रामो दुःखशोकसमन्वितः ।
पुरोधसं मन्त्रिणश्च नैगमांश्चेदमब्रवीत् ॥१॥

लक्ष्मण का त्याग करने के कारण दुःख और शोक से सन्तप्त श्रीरामचन्द्र जी पुरोहित, मंत्री और पुरवासियों को बुला कर कहने लगे ॥१॥

अद्य राज्येऽभिषेक्ष्यामि भरतं धर्मवत्सलम् ।
अयोध्यायाः पतिं वीरं ततो यास्याम्यहं वनम् ॥२॥

देखो, अब मैं अयोध्या के राजसिंहासन पर भरत को बिठा स्वयं वन को जाऊँगा ॥२॥

[टिप्पणी—लोक व्यवहार में दक्षता का यह उदाहरण है । श्रीराम ने अपने पुत्रों के नहीं प्रत्युत भरत के राजतिलक करने का भाव प्रकट किया ।]

प्रवेशय तसम्भारान् मा भूत्कालात्ययो यथा ।
अद्यैवाहं गमिष्यामि लक्ष्मणेन गतां गतिम् ॥३॥

अतएव अभिषेक का सारा सामान शीघ्र एकत्र करो, जिससे देर न होने पावे । क्योंकि मैं आज ही लक्ष्मण के पीछे जाना चाहता हूँ ॥३॥

तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं सर्वाः प्रकृतयो भृशम् ।
मूर्धभिः प्रणता भूमौ गतसत्त्वा इवाभवन् ॥४॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन कर सभा में उपस्थित सुमंत्रादि समस्त जन सिर के बल ज़मीन पर गिर कर, अर्थात् प्रणाम करते हुए निर्जीव से हो गए ॥४॥

भरतश्च विसंज्ञोऽभूच्छ्रुत्वा राघवभाषितम् ।
राज्यं विगर्हयामास वचनं चेदमब्रवीत् ॥५॥

श्रीरामचन्द्र जी के विचार को सुन, भरत जी भी मूर्छित हो गए। कुछ देर बाद सचेत होने पर, वे राज्य की निन्दा करते हुए श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥५॥

सत्येनाहं शपे राजन् स्वर्गलोके न चैव हि ।
न कामये यथा राज्यं त्वां विना रघुनन्दन ॥६॥

हे राजन्! हे राम! मैं सत्य की शपथ खा कर कहता हूँ कि, तुम्हारे विना यह राज्य तो क्या, स्वर्गलोक भी मैं नहीं चाहता ॥६॥

इमौ कुशीलवौ राजन्नभिषिच्य नराधिप ।
कोसलेषु कुशं वीरमुत्तरेषु तथा लवम् ॥७॥

हे वीर! हे नरेश्वर आप अपने दोनों पुत्रों-कुश और लव का अभिषेक कर दीजिए; कौशल देशों का राजा कुश को और उत्तर कोशल के देशों का राजा लव को बनाइए ॥७॥

[टिप्पणी—भरत ने जो कुछ कहा, वह उन्हीं के सर्वथा योग्य था। श्रीराम के सामने जब भरत ने राज्य लिप्सा को अपने मन में स्थान न दिआ, तब उनकी अनुपस्थिति में वे राज्य करने को कैसे सम्मत होते!]

शत्रुघ्नस्य तु गच्छन्तु दूतास्त्वरितविक्रमाः ।
इदं गमनमस्माकं शीघ्रमाख्यातु मा चिरम् ॥८॥

शत्रुघ्न के पास भी दूत बड़ी फुर्ती से जा कर और हमारे प्रस्थान का सन्देसा सुना कर, उन्हें शीघ्र यहाँ लिवा लावे ॥८॥

तच्छ्रुत्वा भरतेनोक्तं दृष्ट्वा चापि ह्यधोमुखान्।
पौरान् दुःखेन सन्तप्तान् वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥९॥

भरत के यह वचन सुन और पुरवासियों को अत्यन्त दुःखी और नीचे को मुख किए हुए देख, वसिष्ठ जी बोले ॥९॥

वत्स राम इमाः पश्य धरणीं प्रकृतीर्गताः ।
ज्ञात्वैषामीप्सितं कार्यं मा चैषां विप्रियं कृथाः ॥१०॥

हे वत्स राम! अपनी इस प्रजा की ओर तो देखो। यह मारे शोक के पृथिवी पर लोट रही है। इनका मनोरथ जान कर, तुमको तदनुसार कार्य करना उचित है। इनकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम करना ठीक नहीं ॥१०॥

वसिष्ठस्य तु वाक्येन उत्थाप्य प्रकृतीजनम् ।
किं करोमीति काकुत्स्थः सर्वान् वचनमब्रवीत् ॥११॥

वसिष्ठ जी के वचन सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उन सब को उठाया और उन सब से पूँछा। बतलाओ मैं तुम लोगों के लिए क्या करूँ ॥११॥

ततः सर्वाः प्रकृतयो रामं वचनमब्रुवन् ।
गच्छन्तमनुगच्छामो यत्र राम गमिष्यसि ॥१२॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रश्न के उत्तर में वे सब लोग एक साथ (यही) बोले—हे राम! जहाँ श्रीराम जाँयगे वहीं उनके पीछे पीछे हम सब लोग भी चलेंगे ॥१२॥

पौरेषु यदि ते प्रीतिर्यदि स्नेहो ह्यनुत्तमः ।
सपुत्रदाराः काकुत्स्थ समागच्छाम सत्पथम् ॥१३॥

हे राम ! यदि पुरवासियों में आपकी प्रीति और उत्तम स्नेह है, तो पुत्र स्त्री सहित हम सबको भी तुम अपने साथ चलने की अनुमति दो ॥१३॥

तपोवनं वा दुर्गं वा नदीमम्भोनिधिं तथा ।
वयं ते यदि न त्याज्याः सर्वान्नो नय ईश्वर ॥१४॥

हे प्रभो ! यदि तुम हमको छोड़ना नहीं चाहते तो तुम चाहे तपोवन में, चाहे दुर्गम स्थान में चाहे समुद्र में जहाँ कहीं जाओ वहाँ हम लोगों को भी अपने साथ लेतेचलो ॥१४॥

एषा नः परमा प्रीतिरेष नः परमो वरः ।
हृद्गता नः सदा प्रीतिस्तवानुगमने नृप ॥१५॥

बस इसीसे हम लोग परम प्रसन्न होंगे । यही हम लोगों के लिए परम वर है। तुम्हारे पीछे पीछे चलने में हम लोगों को बड़ी प्रसन्नता है ॥१५॥

पौराणां दृढभक्तिं च बाढमित्येव सोऽब्रवीत् ।
स्वकृतान्तं चान्ववेक्ष्य तस्मिन्नहनि राघवः ॥१६॥

पुरवासियों की अपने में ऐसी दृढ़ भक्ति देख कर और अपना कर्त्तव्य विचार कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उनको अपने साथ चलने की अनुमति दे दी और उसी दिन ॥१६॥

कोसलेषु कुशं वीरमुत्तरेषु तथा लवम् ।
अभिषिच्य महात्मानावुभौ रामः कुशीलवौ ॥१७॥

श्रीरामचन्द्र जी ने (दक्षिण) कोशल देश में कुश को और उत्तर कोशल में लव को अभिषिक्त कर दिया ॥१७॥

अभिषिक्तौ सुतावङ्के प्रतिष्ठाप्य पुरे ततः ।
रथानां तु सहस्राणि नागानामयुतानि च ।
दशचाश्वसहस्राणि एकैकस्य धनं ददौ ॥१८॥

बहुरत्नौ बहुधनौ हृष्टपुष्टजनाश्रयौ ।
स्वे पुरे प्रेषयामास भ्रातरौ तौ कुशीलवौ ॥१९॥

इस प्रकार दोनों पुत्रों का अभिषेक कर और उनको अपनी गोद में बिठा, उनका सिर सूँघा । तदनन्तर सहस्र रथ, दस सहस्र हाथी, एक लाख घोड़े तथा अनेक धन रत्न पृथक् पृथक् अपने दोनों पुत्रों को दिए । उनके साथ में बहुत से हृष्टपुष्ट मनुष्य कर तथा उनको सावधान कर, दोनों भाइयों अर्थात् कुश और लव को उन देशों में भेज दिया ॥१८॥१९॥

अभिषिच्य ततो वीरौ प्रस्थाप्य स्वपुरे तदा ।
दूतान् सम्प्रेषयामास शत्रुघ्नाय महात्मने ॥२०॥

इति सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥

इस प्रकार उन दोनों वीरों का राज्याभिषेक कर और उनको उन पुरियों में नियत कर, महाबली महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने शत्रुघ्न को बुलाने के लिए दूत भेजे ॥२०॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

अष्टोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

ते दूता रामवाक्येन चोदिता लघुविक्रमाः ।
प्रजग्मुर्मधुरां शीघ्रं चक्रुर्वासं न चाध्वनि ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से वे शीघ्रगामी दूत बड़ी फुर्ती से मधुरापुरी की ओर प्रस्थानित हुए और चलते ही चले गए, रास्ते में कहीं टिके भी नहीं ॥१॥

ततस्त्रिभिरहोरात्रैः सम्प्राप्य मधुरामथ ।
शत्रुघ्नाय यथातत्त्वमाचख्युः सर्वमेव तत् ॥२॥

इस प्रकार तीन दिन रात बराबर चल कर वे दूत मधुरापुरी में पहुँचे और शत्रुघ्न जी को समस्त वृत्तान्त सुनाया ॥२॥

लक्ष्मणस्य परित्यागं प्रतिज्ञां राघवस्य च ।
पुत्रयोरभिषेकं च पौरानुगमनं तथा ॥३॥

लक्ष्मण का त्याग, श्रीरामचन्द्र जी की प्रतिज्ञा, कुश लव का राज्याभिषेक, पुरवासियों का श्रीरामचन्द्र जी के साथ जाने का (दृढ़) विचार ॥३॥

कुशस्य नगरी रम्या विन्ध्यपर्वतरोधसि ।
कुशावतीति नाम्ना सा कृता रामेण धीमता ॥४॥

विन्ध्यपर्वत की तलहटी में दक्षिण कुशावती नगरी बसा कर, उसमें कुश का बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्र द्वारा राज्याभिषेक किया जाना ॥४॥

श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य ह ।
अयोध्यां विजनां कृत्वा राघवो भरतस्तथा ॥५॥

स्वर्गस्य गमनोद्योग कृतवन्तौ महारथौ ।
एवं सर्वं निवेद्याशु शत्रुघ्नाय महात्मने ॥६॥

और लव को श्रावस्ती नाम की एक सुन्दर पुरी का देना, तथा महारथी श्रीरामचन्द्र एवं भरत का अयोध्या को निर्जन कर स्वर्ग में जाने की तैयारियाँ करना आदि अयोध्या के ये समस्त वृत्तान्त उन दूतों ने शत्रुघ्न को सुना कर, उनसे कहा ॥५॥६॥

विरेमुस्ते ततो दूतास्त्वर राजेति चाब्रुवन् ।
तच्छ्रुत्वा घोरसङ्काशं कुलक्षयमुपस्थितम् ॥७॥

तुम शीघ्र चलो। यह कह दूत तो चुप हो गए, किन्तु शत्रुघ्न जी ने इस प्रकार का कुलक्षयकारी घोर वृत्तांत सुन कर, ॥७॥

प्रकृतीस्तु समानीय काञ्चनं च पुरोधसम् ।
तेषां सर्वं यथावृत्तमब्रवीद्रघुनन्दनः ॥८॥

अपने समस्त मंत्री, पुरजन और काँचन नामक पुरोहित को बुला कर, उन सब को शत्रुघ्न जी ने अयोध्या के समाचर सुनाए ॥८॥

आत्मनश्च विपर्यासं भविष्यं भ्रातृभिः सह ।
ततः पुत्रद्वयं वीरः सोऽभ्यषिञ्चन्नराधिपः ॥९॥

साथ ही यह भी कहा कि, अब हम अपने भाइयों के साथ स्वर्ग जाँयगे। तदनन्तर अपने दोनों पराक्रमी पुत्रों का राज्याभिषेक किआ ॥९॥

सुबाहुर्मधुरां लेभे शत्रुघाती च वैदिशम् ।
द्विधा कृत्वा तु तां सेनां माधुरीं पुत्रयोर्द्वयोः ।
धनं च युक्तं कृत्वा वै स्थापयामास पार्थिवः ॥१०॥

सुबाहु को मथुरा नगरी का और शत्रुघाती को वैदिश नगर का राजा बना दिया। मथुरा में उपस्थित सेना और धन के दो भाग कर अपने दोनों पुत्रों में बाँट दिए। तदनन्तर शत्रुघ्न जी ॥१०॥

सुबाहुं मधुरायां च वैदिशे शत्रुघातिनम् ।
ययौ स्थाप्य तदायोध्यां रथेनैकेन राघवः ॥११॥

सुबाहु को मधुरा में और शत्रुघाती को वैदिश में स्थापित कर, स्वयं एक रथ में बैठ अकेले ही अयोध्या को रवाना हुए ॥११॥

स ददर्श महात्मानं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
सूक्ष्मक्षौमाम्बरधरं मुनिभिः सार्धमक्षयैः ॥१२॥

अयोध्या में पहुँच कर, शत्रुघ्न ने अग्निदेव की तरह तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन किए। उस समय श्रीरामचन्द्र जी बारीक रेशमी वस्त्र पहिने हुए थे और मुनियों के साथ बैठे हुए थे ॥१२॥

सोऽभिवाद्य ततो रामं प्राञ्जलिः प्रयतेन्द्रियः ।
उवाच वाक्यं धर्मज्ञ धर्ममेवानुचिन्तयन् ॥१३॥

शत्रुघ्न जी ने झुक कर प्रणाम किया और अपने कर्त्तव्य को विचार कर वे धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी से हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहने लगे ॥१३॥

कृत्वाऽभिषेकं सुतयोर्द्वयो राघवनन्दन ।
तवानुगमने राजन विद्धि मां कृतनिश्चयम् ॥१४॥

हे राम ! मैं अपने दोनों पुत्रों को राज्य दे कर, आपके साथ चलने को तैयार हो कर आया हूँ ॥१४॥

न चान्यदपि वक्तव्यमतो वीर न शासनम् ।
विहन्यमानमिच्छामि मद्विधेन विशेषतः ॥१५॥

अतएव हे वीर ! इसके बारे में आप अब कोई दूसरी (विपरीत) आज्ञा न दीजियेगा । क्योंकि मैं आपकी आज्ञा को उल्लङ्घन करना नहीं चाहता और आपके साथ चलना चाहता हूँ ॥१५॥

तस्य तां बुद्धिमक्लीबां विज्ञाय रघुनन्दनः ।
बाढमित्येव शत्रुघ्नं रामो वाक्यमुवाच ह ॥१६॥

श्रीरामचन्द्र जी ने शत्रुघ्न जी का इस प्रकार का दृढ़ निश्चय जान कर, उनसे कहा कि, अच्छी बात है, तुम जैसा चाहते हो वैसा ही होगा ॥१६॥

तस्य वाक्यस्य वाक्यान्ते वानराः कामरूपिणः ।
ऋक्षराक्षससङ्घाश्च समापेतुरनेकशः ॥१७॥

श्रीरामचन्द्र जी यह कह ही रहे थे कि, इतने में असंख्य यथेच्छरूप-धारी वानर, रीछ और राक्षस अयोध्या में आ पहुँचे ॥१७॥

सुग्रीवं ते पुरस्कृत्य सर्व एव समागताः ।
ते रामं द्रष्टुमनसः स्वर्गायाभिमुखं स्थितम् ॥१८॥

सुग्रीव के नेतृत्व में वे सब वानर स्वर्ग जाने के लिए तैयार, श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन करने को आए थे ॥१८॥

देवपुत्रा ऋषिसुता गन्धर्वाणां सुतास्तथा ।
रामक्षयं विदित्वा ते सर्व एव समागताः ॥१९॥

देवता, ऋषि और गंधर्वों से उत्पन्न वे सब वानर श्रीरामचन्द्र जी के परलोक जाने का हाल सुन कर वहाँ आए ॥१९॥

तवानुगमने राजन् सम्प्राप्ताः स्म समागताः ।
यदि राम विनाऽस्माभिर्गच्छेस्त्वं पुरुषोत्तम ॥२०॥

वे कहने लगे—हे राजन् ! हम लोग तुम्हारे साथ चलने को आए हैं। पुरुषोत्तम राम ! यदि तुम हम लोगों को अपने साथ लिए बिना ही चले गए तो ॥२०॥

यमदण्डमिवोद्यम्य त्वयास्म विनिपातिताः ।
एतस्मिन्नन्तरे रामं सुग्रीवोपि महाबलः ॥२१॥
प्रणम्य विधिवद्वीरं विज्ञापयितुमुद्यतः ॥२२॥

मानों तुमने यमदण्ड से हमारा घात किआ। इतने ही में महाबली सुग्रीव जी वीर्यवान श्रीराम जी को प्रणाम कर, बड़ी नम्रता से बोले ॥२१॥२२॥

अभिषिच्याङ्गदं वीरमागतोस्मि नरेश्वर ।
तवानुगमने राजन् विद्धि मां कृतनिश्चयम् ॥२३॥

हे नरनाथ ! मैं अंगद को राज्य दे कर तुम्हारे पीछे पीछे चलने का निश्चय कर, तुम्हारे पास आया हूँ ॥२३॥

तैरेवमुक्तः काकुत्स्थो बाढमित्यब्रवीत्स्मयन् ।
विभीषणमथोवाच राक्षसेन्द्रं महायशाः ॥२४॥

सुग्रीव के यह वचन सुन, महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने मुसक्या कर कहा—"बहुत अच्छा"। तदनन्तर वे राक्षसराज विभीषण से बोले ॥२४॥

यावत्प्रजा धरिष्यन्ति तावत्त्वं वै विभीषण ।
राक्षसेन्द्र महावीर्य लङ्कास्थः त्वं धरिष्यसि ॥२५॥

हे विभीषण ! हे महाबलवान ! जब तक प्रजा रहै, तब तक तुम लङ्कापुरी में राज्य करते रहना ॥२५॥

यावच्चन्द्रश्च सूर्यश्च यावत्तिष्ठति मेदिनी ।
यावच्च मत्कथा लोके तावद्राज्यं तवास्त्विह ॥२६॥

जब तक चन्द्र सूर्य विद्यमान रहैं, जब तक यह पृथिवी मौजूद रहे, जब तक मेरी कथा लोक में प्रचलित रहै, तब तक तुम्हारा राज्य स्थिर हो ॥२६॥

शासितस्त्वं सखित्वेन कार्यं ते मम शासनम् ।
प्रजाः संरक्ष धर्मेण नोत्तरं वक्तुमर्हसि ॥२७॥

हे मित्र ! मैं मित्रभाव से तुमको यह आज्ञा देता हूँ । अतः तुम्हें मेरी आज्ञा माननी चाहिए । तुम धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो। (मेरे कथन के बाद) तुम मुझे कुछ भी उत्तर न देना ॥२७॥

किंचान्यवक्तुमिच्छामि राक्षसेन्द्र महाबल ।
आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकुलदैवतम् ॥२८॥

हे राक्षसेन्द्र ! हे महाबली ! मैं तुमसे और भी कुछ कहना चाहता हूँ । उसे सुनो । इस इक्ष्वाकुकुल के इष्टदेव जगन्नाथ हैं । सो तुम इनकी आराधना करते रहना ॥२८॥

तथेति प्रतिजग्राह रामवाक्यं विभीषणः ।
राजा राक्षसमुख्यानां राघवाज्ञामनुस्मरन् ॥२९॥

क्योंकि ये इंद्रादि देवताओं के भी पूज्य और सदा आराध्य हैं। यह सुन कर, विभीषण ने श्रीरामचन्द्र की बात मान ली। राक्षसराज विभीषण ने श्रीरामचन्द्र जी की इस आज्ञा को सदा याद रखा ॥२६॥

["श्री जगन्नाथ" जी से अभिप्राय श्रीरंगनाथ से जान पड़ता है। क्योंकि श्रीजगन्नाथ (जो पुरी में हैं) सुभद्रा, श्रीकृष्ण और बलभद्र के अर्धावतार हैं। अतएव इनका प्रादुर्भाव श्रीकृष्णावतार के पश्चात् मानना पड़ेगा। श्रीरामावतार श्रीकृष्णावतार के बहुत पूर्व का है। अतः (पुरीस्थ) श्रीजगन्नाथ जी का इक्ष्वाकुवंश के आराध्यदेव होना संगत नहीं जान पड़ता। इक्ष्वाकुवंश के आराध्य कुलदेव श्रीरंगनाथ थे, इसका प्रमाण पद्मपुराणान्तर्गत निम्न उद्धृत श्लोकों में पाया भी जाता है:—

तावद्रमस्व राज्यस्थः काले मम पदं व्रज।
इत्युक्त्वा प्रददो तस्मै स्वविश्लेषासहिष्णवे ॥
श्रीरंगशायिनं स्वार्चामिक्ष्वाकु कुलदैवतम्।
रंगं विमानमादाय लंकां प्रायाद्विभीषणः ॥

विभीषण को अपने साथ न लेने का कारण यह भी था कि, ब्रह्मा जी विभीषण को अमर होने का वर दे चुके थे।]

तमेवमुक्त्वा काकुत्स्थो हनुमन्तमथाब्रवीत्।
जीविते कृतबुद्धिस्त्वं मा प्रतिज्ञां वृथा कृथाः ॥३०॥

विभीषण से यह कह कर, श्रीरामचन्द्र जी ने हनुमान जी से कहा—हे हनुमान! तुम तो अपने जीवन के लिए पूर्व ही में निश्चय कर चुके हो, सो देखना, अपनी उस प्रतिज्ञा को कहीं वृथा मत कर डालना ॥३०॥

मत्कथाः प्रचरिष्यन्ति यावल्लोके हरीश्वर ।
तावद्रमस्व सुप्रीतो मद्वाक्यमनुपालयन् ॥३१॥

हे वानरराज ! जब तक इस लोक में मेरी कथा का प्रचार रहैगा, तब तक तुम हर्षित हो मर्त्यलोक में वास करना ॥३१॥

एवमुक्तस्तु हनुमान् राघवेण महात्मना ।
वाक्यं विज्ञापयामास परं हर्षमवाप च ॥३२॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब हर्षित हो हनुमान जी ने उनसे कहा ॥३२॥

यावत्तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी ।
तावत्स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयम् ॥३३॥

हे भगवन् ! जब तक इस पृथिवीतल पर पवित्र करने वाली तुम्हारी कथा का प्रचार रहैगा, तब तक मैं आपकी आज्ञा का पालन करता हुआ जीता रहूँगा। तदनन्तर ब्रह्मा के पुत्र वृद्ध जाम्बवान से ॥३३॥

जाम्बवन्तं तथोक्त्वा तु वृद्धं ब्रह्मसुतं तदा ।
मैन्दं च द्विविदं चैव पञ्च जाम्बवता सह ।
यावत्कलिश्च सम्प्राप्तस्तावज्जीवत सर्वदा ॥३४॥

तथा मैंद एवं द्विविद से भी श्रीरामचंद्र जी ने कहा कि तुम कलियुग प्रवृत्त होने तक जीवित रहो । इस प्रकार महावीर हनुमान, विभीषण, ब्रह्मा के पुत्र वृद्ध जाम्बवान, मैंद और द्विविद इन पाँचों को श्रीरामचंद्र जी ने आज्ञा दी ॥३४॥

तदेवमुक्त्वा काकुत्स्थः सर्वांस्तानृक्षवानरान् ।
उवाच बाढं गच्छध्वं मया सार्धं यथोदितम् ॥३५॥

इति अष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥

इस प्रकार उन पाँचों को आज्ञा दे, श्रीरामचन्द्र जी ने अन्य समस्त बानरों और भालुओं से कहा कि अपनी इच्छा के अनुसार तुम सब मेरे साथ चलो ॥३५॥

उत्तरकाण्ड का एक सौ आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

नवाधिकशततमः सर्गः

—:०:—

प्रभातायां तु शर्वर्यां पृथुवक्षा महायशाः ।
रामः कमलपत्राक्षः पुरोधसमथाब्रवीत् ॥१॥

जब रात बीती और सवेरा हुआ, तब विशालवक्षःस्थल वाले यशस्वी एवं कमललोचन श्रीरामचन्द्र जी अपने (कुल) पुरोहित वसिष्ठ जी से बोले ॥१॥

अग्निहोत्रं व्रजत्वग्रे दीप्यमानं सह द्विजैः ।
वाजपेयातपत्रं च शोभमानं महापथे ॥२॥

ब्राह्मणों द्वारा मेरा प्रज्वलित अग्निहोत्र और वाजपेय का अत्यंत शोभायमान छत्र महापथ की शोभा बढ़ाते हुए आगे आगे चलें ॥२॥

ततो वसिष्ठस्तेजस्वी सर्वं निरवशेषतः ।
चकार विधिवद्धर्मं महाप्रास्थानिकं विधिम् ॥३॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन तेजस्वी वसिष्ठ जी ने महाप्रस्थानोचित विधि के अनुसार सब धर्मकृत्य किए ॥३॥

ततः सूक्ष्माम्बरधरो ब्रह्ममावर्तयन् परम् ।
कुशान् गृहीत्वा पाणिभ्यां सरयूं प्रययावथ ॥४॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी महीन रेशमी वस्त्र पहिने हुए वैदिक मंत्रों का उच्चारण करते हुए और हाथ में कुश लिए हुए, सरयू नदी की ओर चले ॥४॥

अव्याहरन् क्वचित्किंचिन्निश्चेष्टो निःसुखः[१] पथि ।
निर्जगाम गृहात्तस्माद्दीप्यमानो यथांऽशुमान् ॥५॥

वे चलते समय वेदमंत्रों के सिवाय न तो कुछ और बोलते थे और न किसी प्रकार की कोई चेष्टा ही करते थे, वे कंकड़ों और काँटों की कुछ भी परवाह न कर, उघारे पैर प्रकाशमान सूर्य की तरह अपने घर से निकले थे ॥५॥

रामस्य दक्षिणे पार्श्वे पद्मा श्रीः समुपश्रिता ।
सव्येपि च महीदेवी [२]व्यवसायस्तथाऽग्रतः ॥६॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी की दाहिनी ओर साक्षात् लक्ष्मी और वामभाग में भूदेवी तथा उनके आगे संहारशक्ति चलीं ॥६॥

शरा नानाविधाश्चापि धनुरायत्तमुत्तमम् ।
तथाऽऽयुधाश्च ते सर्वे ययुः पुरुषविग्रहाः ॥७॥

विविध प्रकार के बाण, उत्तम धनुष और श्रीरामचन्द्र जी के समस्त आयुध, पुरुष का रूप धारण कर, उनके साथ साथ जा रहे थे ॥७॥

वेदा ब्राह्मणरूपेण गायत्री सर्वरक्षिणी ।
ओंकारोऽथ वषट्कारः सर्वे राममनुव्रताः ॥८॥

---

१ निःसुखः पथि—पादुकादिसुखमुपेक्ष्यशर्कराकण्टकाद्बाधां सोढुमुद्युक्तः । (गो०) २ व्यवसायो—व्यवसायशक्तिः-संहारशक्तिः । (रा०)

ऋषयश्च महात्मानः सर्वं एव महीसुराः ।
अन्वगच्छन् महात्मानं स्वर्गद्वारमपावृतम् ॥६॥

ब्राह्मण का रूप धारण किए सब वेद तथा सब की रक्षा करने वाली गायत्री, ओंकार, वषट्कार तथा अन्य बड़े बड़े ऋषि तथा समस्त ब्राह्मणों की मण्डली—ये सब के सब स्वर्ग का द्वार खुला हुआ देख कर श्रीरामचन्द्र जी के साथ चले जाते थे ॥८॥९॥

तं यान्तमनुगच्छति ह्यन्तःपुरचराः स्त्रियः ।
सवृद्धबलदासीकाः सवर्षवरकिङ्कराः ॥१०॥

श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे रनवास की सब स्त्रियाँ, बूढ़े बालक, हिजड़े, दासियाँ नौकरों के साथ चली जाती थीं ॥१०॥

सान्तःपुरश्च भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ ।
रामं गतिमुपागम्य साग्निहोत्रमनुव्रतः ॥११॥

अपने अपने रनवासों के साथ भरत और शत्रुघ्न भी अग्निहोत्र सहित श्रीरामचन्द्र जी के साथ जा रहे थे ॥११॥

ते च सर्वे महात्मानः साग्निहोत्राः समागताः ।
सपुत्रदाराः काकुत्स्थमनुजग्मुर्महामतिम् ॥१२॥

महात्मा ब्राह्मण, अपने अपने अग्निहोत्रों सहित तथा स्त्रियों और पुत्रों को साथ लिए हुए महामतिमान श्रीरामचन्द्र के पीछे पीछे जा रहे थे ॥१२॥

मन्त्रिणो भृत्यवर्गाश्च सपुत्रपशुबान्धवाः ।
सर्वे सहानुगा राममन्वगच्छन् प्रहृष्टवत् ॥१३॥

सब मंत्री तथा अन्य नौकर चाकर, पशु, बालक और भाई बन्दों को साथ लिये हुए, बड़े आनन्द के साथ चले ॥१३॥

---

१ वर्षवराः—नपुंसकाः । (गो०)

ततः सर्वाः प्रकृतयो हृष्टपुष्टजनावृताः ।
गच्छन्तमनुगच्छन्ति राघवं गुणरञ्जिताः ॥१४॥

समस्त प्रजाजन हृष्टपुष्ट हो, श्रीरामचन्द्र जी के गुणों पर मोहित हो कर, उनके पीछे पीछे चल रहे थे ॥१४॥

ततः सस्त्रीपुमांसस्ते सपक्षिपशुबान्धवाः* ।
राघवस्यानुगाः सर्वे हृष्टा विगतकल्मषाः ॥१५॥

वे स्त्री और पुरुष अपने भाई बंदों सहित तथा पशु पक्षियों को साथ लिए हुए, हर्षित अन्तःकरण से एवं निष्पाप हो, श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे चले ॥१५॥

स्नाताः प्रमुदिताः सर्वे हृष्टाः पुष्टाश्च वानराः ।
दृढं किलकिलाशब्दैः सर्वं राममनुव्रतम् ॥१६॥

सब वानर स्नान कर प्रसन्न और हृष्टपुष्ट हो किलकारियाँ मारते, श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे दौड़ते चले जाते थे ॥१६॥

न तत्र कश्चिद्दीनो वा व्रीडितो वापि दुःखितः ।
हृष्टं प्रमुदितं सर्वं बभूव परमाद्भुतम् ॥१७॥

उस समुदाय में उस समय कोई भी दुःखी या उदास अथवा लज्जित नहीं देख पड़ता था। प्रत्युत सब प्रसन्नवदन देख पड़ते थे। यह एक विलक्षण बात थी ॥१७॥

द्रष्टुकामोथ निर्यान्तं रामं जानपदो जनः ।
यः प्राप्तः सोपि दृष्ट्वैव स्वर्गायानुगतो मुदा ॥१८॥

उस समय जो लोग देशान्तरों से श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन करने को आए थे, वे भी उनके पीछे हो लिये थे ॥१८॥

---

* पाठान्तरे—"वाहनाः ।"

ऋक्षवानररक्षांसि जनाश्च पुरवासिनः ।
आगच्छन् परया भक्त्या पृष्ठतः सुसमाहिताः ॥१६॥

जितने रीछ वानर, राक्षस और पुरवासी मनुष्य थे, वे सब के सब बड़े अनुराग से और सावधानता पूर्वक श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे चले जाते थे ॥१६॥

यानि भूतानि नगरेष्यन्तर्धानगतानि च ।
राघवं तान्यनुययुः स्वर्गाय समुपस्थितम् ॥२०॥

यही नहीं; बल्कि अयोध्या में रहने वाले अदृश्य आत्माएँ भी, स्वर्गप्राप्ति की कामना से श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे गईं ॥२०॥

[टिप्पणी—इस प्रमाण से पता चलता है कि रामायण काल में भी ऐसी आत्मा थी जो भूलोक (Earthboundspirits) में रहकर समय बिताते थे ।]

यानि पश्यन्ति काकुत्स्थं स्थावराणि चराणि च ।
सर्वाणि रामगमने अनुजग्मुर्हि तान्यपि ॥२१॥

जो जो स्थावर और जङ्गम जीव श्रीरामचन्द्र जी को जाते देखते, वे सब भी उनके पीछे लग लेते थे ॥२१॥

नोच्छ्वसत्तदयोध्यायां सुसूक्ष्ममपि दृश्यते ।
तिर्यग्योनिगताश्चैव सर्वे राममनुव्रताः ॥२२॥

इति नवाधिकशततमः सर्गः ॥

उस समय अयोध्या में जितने श्वास लेने वाले कीट पतंग और तिर्यायोनि वाले जीव थे, वे सब ही श्रीरामचन्द्र के साथ हो लिये थे ॥२२॥

उत्तरकाण्ड का एकसौ नवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

दशाधिकशततमः सर्गः

अध्यर्धयोजनं गत्वा नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम् ।
सरयूं पुण्यसलिलां ददर्श रघुनन्दनः ॥१॥

इस प्रकार चलते चलते जब वे अयोध्या से लगभग दो कोस निकल गए, तब श्रीरामचन्द्र जी ने पवित्र प्रवाह से पश्चिम की ओर बहने वाली सरयू नदी को देखा ॥१॥

[टिप्पणी—उस समय की अयोध्या वर्तमान उजाड़ अयोध्या की तरह सरयू के तट पर बसी हुई नहीं थी, इससे यह न समझना चाहिए। उस समय की अयोध्या का विस्तार लंदन की तरह कितने ही मीलों में था राजभवन से, उस समय, सरयू का फासला दो कोस—चार मील था।]

तां नदीमाकुलावर्तां सर्वत्रानुसरन्नृपः ।
आगतः सप्रजो रामस्तं देशं रघुनन्दनः ॥२॥

श्रीरामचन्द्र जी सब लोगों को साथ लिये हुए भँवरों और तरङ्गों से सुशोभित सरयू के तट (गोप्रतारक—गुप्तार घाट) पर पहुँचे ॥२॥

अथ तस्मिन् मुहूर्ते तु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
सर्वैः परिवृतो देवैर्भूषितैश्च महात्मभिः ॥३॥

इतने में लोकपितामह ब्रह्मा जी समस्त देवताओं और महात्मा ऋषियों को अपने साथ लिये हुए ॥३॥

आययौ यत्र काकुत्स्थः स्वर्गाय समुपस्थितः ।
विमान शतकोटीभिर्दिव्याभिरभिसंवृतः ॥४॥

सौ करोड़ बिमानों सहित वहाँ आए, जहाँ श्रीरामचन्द्र जी स्वर्ग जाने के लिए उद्यत थे ॥४॥

दिव्यतेजोवृतं व्योम ज्योतिर्भूतमनुत्तमम् ।
स्वयंप्रभैः स्वतेजोभिः स्वर्गिभिः पुण्यकर्मभिः ॥५॥

उस समय आकाशमण्डल (देवताओं के) दिव्य तेज से पूर्ण हो, चमक रहा था। क्योंकि बड़े बड़े तेजस्वी और पवित्र कीर्त्ति सम्पन्न स्वर्गवासी जीवगण (ब्रह्मा जी के साथ वहाँ आए हुए थे) ॥५॥

पुण्या वाता ववुश्चैव गन्धवन्तः सुखप्रदाः ।
पपात पुष्पवृष्टिश्च देवैर्मुक्ता महौघवत् ॥६॥

उस समय सुगन्धित एवं सुखद पवन चलने लगा। देवता लोग पुष्पों की भरपूर वृष्टि करने लगे ॥६॥

तस्मिंस्तूर्यशतैः कीर्णे गन्धर्वाप्सरसां कुले ।
सरयूसलिलं रामः पद्भ्यां समुपचक्रमे ॥७॥

सैकड़ों दुन्दुभियाँ बजाते हुए गन्धर्वों और अप्सराओं से वह स्थान भर गया, तब श्रीरामचन्द्र जी पैदल ही सरयू के जल में घुसे ॥७॥

ततः पितामहो वाणीमन्तरिक्षादभाषत ।
आगच्छ विष्णो भद्रं ते दिष्ट्या प्राप्तोसि राघव ॥८॥

उस समय आकाश से ब्रह्माजी बोले—हे विष्णो ! हे राघव ! आइये। तुम्हारा मंगल हो। तुम हम लोगों के सौभाग्य ही से अपने लोक में आ रहे हो ॥८॥

भ्रातृभिः सह देवाभैः प्रविशस्व स्विकां तनुम् ।
यामिच्छसि महाबाहो तां तनुं प्रविश स्विकाम् ॥९॥

देवताओं के समान कान्तिवाले भाइयों सहित तुम अपने प्रियलोक में पधारो । हे महाबाहो ! जिस शरीर में तुम प्रवेश करना चाहते हो, उसमें प्रवेश करो ॥९॥

वैष्णवीं तां महातेजो यद्वाऽऽकाशं सनातनम् ।
त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित्प्रजानते ॥१०॥

तुम चाहे विष्णु के शरीर में अथवा इस सनातन (अनादि) आकाशरूपी निज शरीर में प्रवेश करो। हे देव ! तुम ही समस्त लोकों की गति हो । तुमको कोई नहीं जानता ॥१०॥

ऋते मायां विशालाक्षीं तव पूर्वपरिग्रहाम् ।
त्वामचिन्त्यं महद्भूतमक्षयं * चाजरं तथा ।
यामिच्छसि महातेजस्तां तनुं प्रविश स्वयम् ॥११॥

हे भगवन् ! वे विशालनेत्री ज्ञानशक्तिरूपिणी तुम्हारी माया जानकी ही तुमको जानती हैं, जो तुम्हारी पहिली पत्नी आदि-शक्ति हैं । तुम अचिन्त्य, महाभूत, अक्षय और अजर हो । हे महा-तेजस्वी ! तुम जिस शरीर में चाहो उसमें स्वयं प्रवेश करो ॥११॥

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः ।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः ॥१२॥

महामतिमान् श्रीरामचन्द्र जी ब्रह्मा जी की इस स्तुति को सुन, और (उनकी बातों पर) विचार कर, वैष्णवी तेज में प्रवेश कर गए ॥१२॥

ततो विष्णुमयं देवं पूजयन्ति स्म देवताः ।
साध्या मरुद्गणाश्चैव सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ॥१३॥

---

* पाठान्तरे—"सर्वसंग्रहम् ।"

उस समय विष्णुमय भगवान् श्रीरामचन्द्र का सब देवता, साध्य, मरुद्गण, इन्द्र और अग्निदेव, पूजन करने लगे ॥१३॥

ये च दिव्या ऋषिगणा गन्धर्वाप्सरसश्च याः ।
सुपर्णनागयक्षाश्च दैत्यदानवराक्षसाः ॥१४॥

तथा जो अन्य ब्रह्मर्षि, अप्सराएँ, नाग, सुपर्ण, यक्ष, दैत्य, दानव और राक्षस थे ॥१४॥

सर्वं पुष्टं प्रमुदितं सुसम्पूर्णमनोरथम् ।
साधु साध्विति तैर्देवैस्त्रिदिवं गतकल्मषम् ॥१५॥

वे सब अत्यन्त हर्षित हुए। उन सब की मनोभिलाषाएँ पूरी हुईं। वे साधु साधु कह कर, उनकी स्तुति करने लगे। सारा स्वर्ग पवित्र हो गया ॥१५॥

अथ विष्णुर्महातेजाः पितामहमुवाच ह ।
एषां लोकं जनौघानां दातुमर्हसि सुव्रत ॥१६॥

तब महातेजस्वी भगवान् विष्णु ब्रह्मा जी से बोले—हे सुव्रत। ये जितने जीव मेरे साथ आए हैं, इन सब को स्वर्ग में रहने के लिए तुम उत्तम स्थान बतलाओ ॥१६॥

इमे हि सर्वे स्नेहान् मामनुयाता *यशस्विनः ।
भक्ता हि भजितव्याश्च त्यक्तात्मानश्च मत्कृते ॥१७॥

ये सब लोग मेरे स्नेह के वशवर्ती हो मेरे साथ चले आए हैं। ये यशस्वी हैं और मेरे भक्त हैं। मेरे पीछे इन लोगों ने अपने शरीर तक त्याग दिए हैं। अतः इन पर कृपा करना मेरा कर्त्तव्य है ॥१७॥

तच्छ्रुत्वा विष्णुवचनं ब्रह्मा लोकगुरुः प्रभुः ।
लोकान् सान्तानिकान्नाम यास्यन्तीमे समागताः ॥१८॥

---

* पाठान्तरे—"मनस्विनः ।"

विष्णु भगवान् के वचन सुन कर लोकपितामह ब्रह्मा जी कहने लगे कि, यह सब तुम्हारे भक्त सन्तानक नामक लोक में जा कर सुख से रहेंगे ॥१८॥

यच्च तिर्यग्गतं किञ्चित्त्वामेवमनुचिन्तयत् ।
प्राणांस्त्यक्ष्यति भक्त्या वै तत् सन्ताने निवत्स्यति ॥१९॥

(ये तो तुम्हारे साथ आए हैं इनकी तो बात ही न्यारी है) हे प्रभो ! जो तिर्यग्योनि वाले जीव भी तुम्हारा ध्यान करते हुए शरीर त्याग करेंगे, वे भी इन्हीं सन्तानक लोकों में निवास करेंगे ॥१९॥

सर्वैः ब्रह्मगुणैर्युक्ते ब्रह्मलोकादनन्तरे ।
वानराश्च स्विकां योनिमृक्षश्चैव तथा ययुः ॥२०॥
येभ्यो विनिःसृताः सर्वे सुरेभ्यः सुरसम्भवाः ।
तेषु प्रविविशे चैव सुग्रीवः सूर्यमण्डलम् ॥२१॥

यह सन्तानक लोक ब्रह्मलोक से मिले हुए हैं और ब्रह्मलोक के समान ही (अर्थात् इन लोकों में भी सब प्रकार के सुख हैं। इन लोकों के रहने वालों की ब्रह्मा के साथ ही मुक्ति होती है) वानर और रीछ जिन जिन देवताओं के अंशों से उत्पन्न हुये थे, वे उन्हीं उन्हीं देवताओं में लीन हो गए। सुग्रीव सूर्यमण्डल में प्रवेश कर गए ॥२०॥२१॥

पश्यतां सर्वदेवानां स्वान् पितॄन् प्रतिपेदिरे ।
तथा ब्रुवति देवेशे गोप्रतारमुपागताः ॥२२॥

अन्य सब रीछ वानर (ब्रह्मा जी के इन वचनों को सुन गोप्रतारघाट में जा और शरीर त्याग कर अपने अपने पूर्वजों से) सब देवताओं के सामने ही जा मिले ॥२२॥

भेजिरे सरयूं सर्वे हर्षपूर्णाश्रु विक्लवाः ।
अवगाह्याप्सु यो यो वै प्राणांस्त्यक्त्वा प्रहृष्टवत् ॥२३॥

अन्य लोगों ने भी हर्षित हो आँखों से (आनन्द के) आँसू बहाते हुए, सरयू में स्नान कर अपने शरीर त्याग दिए ॥२३॥

मानुषं देहमुत्सृज्य विमानं सोऽध्यरोहत ।
तिर्यग्योनिगतानां च शतानि सरयूजलम् ॥२४॥

उसी क्षण वे सब मनुष्य शरीर त्याग कर और दिव्य शरीर पा कर, विमानों में जा बैठे। कहाँ तक कहें, सैकड़ों तिर्यग्योनि वाले (पशु पक्षी) भी सरयू में स्नान कर और शरीर त्याग, ॥२४॥

संप्राप्य त्रिदिवं जग्मुः प्रभासुरवपूंषि च ।
दिव्या दिव्येन वपुषा देवा दीप्ता इवाभवन् ॥२५॥

बड़े उज्ज्वल शरीरों को पाकर और विमानों में बैठ स्वर्ग को गए और वहाँ वे सब देवताओं की तरह शोभायमान होने लगे ॥२५॥

गत्वा तु सरयूतोयं स्थावराणि चराणि च ।
प्राप्य तत्तोयविक्लेदं देवलोकमुपागमन् ॥२६॥

क्या चर, क्या अचर, जितने प्राणी थे; वे उस समय सरयू में स्नान कर और शरीर त्याग कर, स्वर्गगामी हुए ॥२६॥

तस्मिन्नपि समापन्ना ऋक्षवानरराक्षसाः ।
तेऽपि स्वर्गं प्रविविशुर्देहान्निक्षिप्य चाम्भसि ॥२७॥

रीछ, वानर और राक्षसों में से जिस जिस ने उस समय सरयू के जल में स्नान किए, वे सरयू के जल में अपना शरीर त्याग, स्वर्ग सिधारे ॥२७॥

ततः समागतान् सर्वान् स्थाप्य लोकगुरुर्दिवि ।
हृष्टैः प्रमुदितैर्देवैर्जगाम त्रिदिवं महत् ॥२८॥

इति दशाधिकशततमः सर्गः ॥

इस प्रकार लोकपति ब्रह्मा जी सब जीवों को उत्तम लोकों में टिका, हर्षित होते हुए सब देवताओं सहित स्वर्ग को चले गए ॥२८॥

उत्तरकाण्ड का एकसौ दशवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

एकादशोत्तरशततमः सर्गः

—❀—

एतावदेतदाख्यानं सोत्तरं ब्रह्मपूजितम् ।
रामायणमिति ख्यातं मुख्यं वाल्मीकिना कृतम् ॥१॥

महर्षि वाल्मीकि जी की बनाई यह इतनी ही उत्तरकाण्ड युक्त रामायण है, जो रामायण के नाम से प्रसिद्ध है और ब्रह्मा जी द्वारा प्रशंसित है ॥१॥

ततः प्रतिष्ठितो विष्णुः स्वर्गलोके यथा पुरा ।
येन व्याप्तमिदं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥२॥

जो भगवान् विष्णु चराचरमय तीनों लोकों में व्याप्त है, वे भगवान् विष्णु, पूर्ववत् स्वर्ग में जा विराजे ॥२॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
नित्यं शृण्वन्ति संहृष्टाः काव्यं रामायणं दिवि ॥३॥

तब से स्वर्ग में देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि इस रामायण काव्य को नित्य हर्षित हो सुनने लगे ॥३॥

इदमाख्यानमायुष्यं सौभाग्यं पापनाशनम् ।
रामायणं वेदसमं श्राद्धेषु श्रावयेद्‌ बुधः ॥४॥

यह उपाख्यान (कथा) आयुष्य और सौभाग्य का बढ़ाने वाला और पाप का नाश करने वाला है। यह काव्य वेद के समान है। पण्डितों को श्राद्धकाल में इसे सुनाना चाहिए ॥४॥

अपुत्रो लभते पुत्रमधनो लभते धनम् ।
सर्वपापैः प्रमुच्येत पादमप्यस्य यः पठेत् ॥५॥

इसके पढ़ने और सुनने से अपुत्रक को पुत्र और निर्धनी को धन मिलता है। जो इस काव्य के किसी एक श्लोक का एक पाद भी पढ़ता है, वह समस्त पापों से छूट जाता है ॥५॥

पापान्यपि च यः कुर्यादहन्यहनि मानवः ।
पठत्येकमपि श्लोकं पापात् स परिमुच्यते ॥६॥

जो जन नित्य विविध प्रकार के पाप करता है, वह (भी) इस काव्य का एक ही श्लोक पढ़ने से सब पापों से छूट जाता है ॥६॥

वाचकाय च दातव्यं वस्त्रं धेनुं हिरण्यकम् ।
वाचके परितुष्टे तु तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥७॥

इस काव्य के सुनाने वाले को कपड़े गौ और सुवर्ण देना चाहिए। क्योंकि उसके सन्तुष्ट होने से समस्त देवता सन्तुष्ट होते हैं ॥७॥

एतदाख्यानमायुष्यं पठन् रामायणं नरः ।
सपुत्रपौत्रो लोकेस्मिन् प्रेत्य चेह महीयते ॥८॥

इस आयुर्वर्द्धक रामायण नामक आख्यान का पाठ करने से, मनुष्य इस लोक में पुत्र पौत्रों को पाता है और अन्त में स्वर्ग में भी उसकी प्रतिष्ठा (सम्मान) होती है ॥८॥

रामायणं गोविसर्गे मध्याह्ने वा समाहितः ।
सायाह्ने वाऽपराह्णे च वाचयन्नावसीदति ॥६॥

जो नर, श्रीमद्रामायण को सबेरे (गौ चरने के लिए छोड़ने के समय) दोपहर पीछे अथवा सायङ्काल के समय, सावधानता पूर्वक पढ़ता है, वह कभी दुःख नहीं पाता ॥६॥

अयोध्याऽपि पुरी रम्या शून्या वर्षगणान् बहून् ।
ऋषभं प्राप्य राजानं निवासमुपयास्यति ॥१०॥

अयोध्या नगरी भी बहुत दिनों तक खाली पड़ी रहेगी तदनन्तर उसे ऋषभ नामक राजा फिर से बसावेंगे ॥१०॥

एतदाख्यानमायुष्यं सभाविष्यं सहोत्तरम् ।
कृतवान् प्रचेतसः पुत्रस्तद्ब्रह्माप्यन्वमन्यत ॥११॥

इति एकदशोत्तर शततमः सर्गः ॥

भविष्योत्तर सहित यह आयुष्य का बढ़ाने वाला आख्यान प्रचेता के पुत्र श्रीवाल्मीकि जी का रचा हुआ है और (सर्वथा वेदार्थ प्रतिपादक होने के कारण) ब्रह्मा जी ने भी इसे माना है ॥११॥

उत्तरकाण्ड का एकसौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ इति ॥ हरि ओं तत्सत् ॥

रामं रामानुजं सीतां भरतं भरतानुजं ।
सुग्रीवं वायुसूनुं च प्रणमामि पुनः पुनः ॥
रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥
मङ्गलं लेखकानां च पाठकानां च मङ्गलं ।
मङ्गलं सर्वलोकानां भूमौ भूपतिमङ्गलम् ॥

[ता० १-१-२६ से आरम्भ कर ३१-१२-१६२६ को अर्थ लिखना समाप्त किआ]

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥१॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥२॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥३॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥४॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥५॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥६॥
वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥७॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥८॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥९॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥१०॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥११॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥१२॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥१३॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥१४॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥१५॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥१६॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥१७॥

—•—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्ताम्
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः !
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥१॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥२॥
लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥३॥
मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥४॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥५॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥१॥
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥२॥
अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥३॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥४॥

शृण्वन् रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥५॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥६॥

यन् मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥७॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥८॥

यन् मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत् पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥९॥

अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥१०॥

त्रीन् विक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन् मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥११॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥१२॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥१३॥

—:०:—

श्रीमद्रामायण अनुष्ठानविधि

(१)

"बालो" वंशकरः प्रोक्तो
"अयोध्या" व्याधिनाशनः ।
"अरण्योह्यभयं" कर्त्ता
"किष्किन्धा" मित्रदायकः ॥

(२)

"सुन्दर" शोकहर्त्ता च
"युद्ध" शत्रुप्रणाशकः ।
"उत्तर" श्रवणात् पुंसां
नोत्तरं विद्यते फलम् ॥

पाठक्रम—कार्तिक, माघ और चैत्र मासों के शुक्ल पक्ष-पञ्चमी को पुनर्वसु होने पर उस दिन से श्री मद्रामायण का पाठ आरम्भ करना चाहिए। प्रति दिन २० सर्ग के हिसाब से पाठ कर के और पुष्य नक्षत्र में राज्याभिषेक कर पारायण समाप्त करे। प्रायः भावुकजन उत्तरकाण्ड का पारायण घर में बैठ कर नहीं करते। और सर्व प्रथम उत्तरकाण्ड का पाठ कर अन्त में बालकाण्ड से युद्धकाण्ड तक पाठकर पारायण समाप्त करते हैं।

विशेष—पाठ करने के पूर्व हनुमान जी सहित भगवान् सीता राम का षोडशोपचार पूजन करे और जब तक पाठ करे तब तक (अपनी दाहिनी ओर) एक घृत का दीपक, केसर-मिश्रित चन्दन से किसी ताम्रपात्र पर षट्कोण यंत्र बनावे और उस पर चावल बिछा कर, उन चावलों पर रख दे। पाठ समाप्त होने पर प्रतिदिन उस पाठफल को सीतारामार्पण कर दे। जिस दिन

पट्टाभिषेक हो, उस दिन यथाशक्ति ब्राह्मणभोजन करावे और श्रीहनुमत्प्रीत्यर्थ वानरों को *गुरधानी खिलावे।

पाठ करते समय उत्तर या पूर्वाभिमुख बैठे और जितने दिनों पाठ करे, उतने दिनों पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य से रहे। अपामार्ग की दतबन करे। स्नान कर सफेद वस्त्र धारण करे। भूमि पर शयन करे। एक बार हविष्यान्न यथाविधि भोजन करे। मलमूत्र विसर्जन कर, शरीर शुद्धि करे। स्त्रीप्रसङ्ग न करे। जूते न पहिने। बाल न बनवावे। मिथ्याभाषण न करे। क्रोध न करे। म्लेच्छों एवं अस्पृश्यों का न तो स्पर्श करे और न उनसे बातचीत करे। पवित्रता से रहे।)

[—टिप्पणी—यह साधारण पारायण विधि है। विशेष विधि उपयुक्त पात्र मिलने पर बतलाई जा सकती है।]

---

* भुँजे हुए गेहुओं में गुड़ मिलाने से गुरधानी बनती है।

अथ श्रीमद्रामायणमाहात्म्यं लिख्यते

[स्कन्द पुराणान्तर्गत]

प्रथमोध्यायः

॥ श्रीमतेरामचन्द्राय नमः ॥

श्रीरामः शरणं समस्तजगतां रामं विना का गतिः
रामेण प्रतिहन्यते कलिमलं रामाय कार्यं नमः ।
रामात् त्रस्यति कालभीमभुजगो रामस्य सर्वं वशे
रामे भक्तिरखण्डिता भवतु मे राम त्वमेवाश्रयः ॥१॥

चित्रकूटालयं राममिन्दिरानन्दमन्दिरम् ।
वन्दे च परमानन्दं भक्तानामभयप्रदम् ॥२॥

ब्रह्मविष्णुमहेशाद्या यस्यांशा लोकसाधकाः ।
तमादिदेवं श्रीरामं विशुद्धं परमं भजे ॥३॥

॥ ऋषय उचुः ॥

भगवन् सर्वमाख्यातं यत्पृष्टं विदुषा त्वया ।
संसारपाशबद्धानां दुःखानि सुबहूनि च ॥४॥

एतत्संसारपाशस्य छेदकः कतमः स्मृतः ।
कलौ वेदोक्तमार्गाश्च नश्यन्तीति त्वयोदितम् ॥५॥

अधर्मनिरतानां च यातनाश्च प्रकीर्तिताः ।
घोरे कलियुगे प्राप्ते वेदमार्गबहिष्कृते ॥६॥

पाषण्डत्वं प्रसिद्धं वै तत्सर्वं परिकीर्तितम् ।
कामार्ता ह्रस्वदेहाश्च लुब्धा अन्योन्यतत्पराः ॥७॥

कलौ सर्वे भविष्यन्ति स्वल्परायो बहुप्रजाः ।
स्त्रियः स्वपोषणपरा वेश्यालावण्यशोभिताः ॥८॥

पतिवाक्यमनादृत्य सदान्यगृहतत्पराः ।
दुःशीला दुष्टशीलेषु करिष्यन्ति सदा स्पृहाम् ॥९॥

असंवृत्ता भविष्यन्ति पुरुषेषु कुलाङ्गनाः ।
परुषानृतभाषिण्यो देहसंस्कारवर्जिताः ॥१०॥

वाचालाश्च भविष्यन्ति कलौ प्राप्ते च योषितः ।
भिक्षवश्चापि मित्रादिस्नेहसंबन्धयन्त्रिताः ॥११॥

अन्योपाधिनिमित्तेन शिष्यानुग्रहलोलुपाः ।
पाखण्डालापनिरताः पाषण्डजनसङ्गिनः ।
यदा द्विजा भविष्यन्ति तदा वृद्धिं गतः कलिः ॥१२॥

विप्रवंशोद्भवश्रेष्ठ उपवीतं शिखां त्यजेत् ।
कथं तन्निष्कृतिं याति वद सूत महामते ॥१३॥

राक्षसाः कलिमाश्रित्य जायन्ते ब्रह्मयोनिषु ।
परस्परं विरुध्यन्ति भगवद्धर्मबन्धकाः ॥१४॥

द्विजानुष्ठानरहिताः भगवद्धर्मवर्जिताः ।
कलौ विप्रा भविष्यन्ति कञ्चुकोष्णीषधारिणः ॥१५॥

घोरे कलियुगे ब्रह्मञ्जनानां पापकर्मणाम् ।
मनःशुद्धिविहीनानां निष्कृतिश्च कथं भवेत् ॥१६॥

शूद्रहस्तोदकं पक्वं शूद्रैश्च सह भोजनम् ।
शौद्रमन्नं तथाश्नीयात्कथं शुद्धिमवाप्नुयात् ॥१७॥

तथा तुष्यति देवेशो देवदेवो जगद्गुरुः ।
तन्नो वदस्व सर्वज्ञ सूत कारुण्यवारिधे ॥१८॥

वद सूत मुनिश्रेष्ठ सर्वमेतदशेषतः ।
कथं न जायते तुष्टिः सूत त्वद्वचनामृतात् ॥१९॥

॥ सूतउवाच ॥

शृणुध्वमृषयः सर्वे यदिष्टं वो वदाम्यहम् ।
गीतं सनत्कुमाराय नारदेन महात्मना ॥२०॥

रामायणमहाकाव्यं सर्ववेदार्थसंमतम् ।
सर्वपापप्रशमनं दुष्टग्रहनिवारणम् ॥२१॥

दुःस्वप्ननाशनं धन्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
रामचन्द्रगुणोपेतं सर्वकल्याणसिद्धिदम् ॥२२॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां हेतुभूतं महाफलम् ।
अपूर्वपुण्यफलदं शृणुध्वं सुसमाहिताः ॥२३॥

महापातकयुक्तो वा युक्तो वा सर्वपातकैः ।
श्रुत्वैतदार्षं दिव्यं हि काव्यं शुद्धिमवाप्नुयात् ॥२४॥

रामायणे प्रवर्तन्ते सज्जना ये जगद्धिताः ।
त एव कृतकृत्याश्च सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ॥२५॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां साधनं च द्विजोत्तमाः ।
श्रोतव्यं च सदा भक्त्या रामाख्यानं तदा नृभिः ॥२६॥

पुरार्जितानि पापानि नाशमायान्ति यस्य वै ।
रामायणे महाप्रीतिस्तस्य वै भवति ध्रुवम् ॥२७॥

रामायणे वर्तमाने पापपाशेन यन्त्रिताः ।
अनादृत्यान्यथागाथासक्तबुद्धिः प्रवर्तते ॥२८॥

तस्मात्तु रामायणनामधेयं
परं तु काव्यं शृणुत द्विजेन्द्राः ।

यस्मिञ्छ्रुते जन्मजरादिनाशो
भवत्यदोषः स नरोऽच्युतः स्यात् ॥२९॥

वरं वरेण्यं वरदं च श्राव्यं निजप्रभाभासितसर्वलोकम् ।
सङ्कलिपतार्थप्रमदादिकाव्यं श्रुत्वा व्रजेत् मोक्षपदं मनुष्यः ॥३०॥

ब्रह्मेशविष्णवाख्यशरीरभेदैर्विश्वं सृजत्यत्ति च पाति यश्च ।
तमादिदेवं परमं परेशमाधाय चेतस्युपयाति मुक्तिम् ॥३१॥

योनामजात्यादिविकल्पहीनः परः पराणां परमः परः स्यात् ।
वेदान्तवेद्यः स्वरुचा प्रकाशः स वीक्ष्यते सर्वपुराणवेदैः ॥३२॥

ऊर्जे माघे सिते पक्षे चैत्रे च द्विजसत्तमाः ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥३३॥

इत्येवं शृणुयाद्यस्तु श्रीरामचरितं शुभम् ।
सर्वान् कामानवाप्नोति परत्रामुत्र चोत्तमान् ॥३४॥

त्रिसप्तकुलसंयुक्तः सर्वपापविवर्जितः ।
प्रयाति रामभवनं यत्र गत्वा न शोच्यते ॥३५॥

चैत्रे माघे कार्तिके च सिते पक्षे च वाचयेत् ।
नवम्यहनि तस्मात्तु श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥३६॥
रामायणं चादिकाव्यं स्वर्गमोक्षप्रदायकम् ॥३७॥

तस्मात्कलियुगे घोरे सर्वधर्मबहिष्कृते ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥३८॥

रामायणपरा ये तु घोरे कलियुगे द्विजाः ।
ते नराः कृतकृत्याश्च न कलिर्बाधते हि तान् ॥३९॥

कथा रामायणस्याहि नित्यं भवति यद्गृहे ।
तद्गृहं तीर्थरूपं हि दुष्टानां पापनाशनम् ॥४०॥

तावत्पापानि देहेऽस्मिन् निवसन्ति तपोधनाः ।
यावन्न श्रूयते सम्यक् श्रीमद्रामायणं नरैः ॥४१॥

दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्रामायणोद्भवा ।
कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते ॥४२॥

ऊर्जे माघे सिते पक्षे चैत्रे च द्विजसत्तमाः ।
यस्य श्रवणमात्रेण सौदासोऽपि विमोचितः ॥४३॥

गौतमशापतः प्राप्तः सौदासो राक्षसीं तनुम् ।
रामायणप्रभावेन विमुक्तिं प्राप्तवान् पुनः ॥४४॥

यस्त्वेतच्छृणुयाद्भक्त्या रामभक्तिपरायणः ।
स मुच्यते महापापैरुपपातकराशिभिः ॥४५॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसम्वादे
रामायणमाहात्म्ये प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ ऋषय ऊचुः ॥

कथं सनत्कुमाराय देवर्षिर्नारदो मुनिः ।
प्रोक्तवान् सकलान् धर्मान् कथं च मिलिताबुभौ ॥१॥

कस्मिन् क्षेत्रे स्थितौ तात तावुभौ ब्रह्मवादिनौ ।
यदुक्तं नारदेनास्मै तन्नो ब्रूहि महामुने ॥२॥

॥ सूत उवाच ॥

सनकाद्या महात्मानो ब्रह्मणस्तनयः स्मृताः ।
निर्ममा निरहङ्काराः सर्वे ते ह्यूर्ध्वरेतसः ॥३॥

तेषां नामानि वक्ष्यामि सनकश्च सनन्दनः ।
सनत्कुमारश्च तथा सनातन इति स्मृताः ॥४॥

विष्णुभक्ता महात्मानो ब्रह्मध्यानपरायणाः ।
सहस्रसूर्यसङ्काशाः सत्यवन्तो मुमुक्षवः ॥५॥

एकदा ब्रह्मणः पुत्रा सनकाद्या महौजसः
मेरुश्रृङ्गं समाजग्मुर्वीक्षितुं ब्रह्मणः सभाम् ॥६॥

तत्र गङ्गां महापुण्यां विष्णुपादोद्भवां नदीम् ।
निरीक्ष्य स्नातुमुद्युक्ताः सीताख्यां प्रथितौजसः ॥७॥

एतस्मिन्नन्तरे विप्रा देवर्षिर्नारदो मुनिः ।
आजगामोच्चरन्नाम हरेर्नारायणादिकम् ॥८॥

नारायणाच्युतानन्त वासुदेव जनार्दन ।
यज्ञेश यज्ञपुरुष राम विष्णो नमोऽस्तु ते ॥९॥

इत्युच्चरन्हरेर्नाम पावयन्निखिलं जगत् ।
आजगाम स्तुवन् गङ्गां मुनिर्लोकैकपावनीम् ॥१०॥

अथायान्तं समुद्वीक्ष्य सनकाद्या महौजसः ।
यथार्हामर्हणां चक्रुर्ववन्दे सोऽपि तान् मुनीन् ॥११॥

अथ तत्र सभामध्ये नारायणपरायणम् ।
सनत्कुमारः प्रोवाच नारदं मुनिपुङ्गवम् ॥१२॥

॥ श्रीसनत्कुमार उवाच ॥

सर्वज्ञोऽसि महाप्राज्ञ मुनिमानद नारद ।
हरिभक्तिपरो यस्मात्त्वत्तो नास्त्यपरोऽधिकः ॥१३॥

येनेदमखिलं जातं जगत्स्थावरजंगमम् ।
गङ्गा पादोद्भवा यस्य कथं स ज्ञायते हरिः ।
अनुग्राह्योऽस्मि यदि ते तत्त्वतो वक्तुमर्हसि ॥१४॥

॥ श्रीनारद उवाच ॥

नमः पराय देवाय परात्परतराय च ।
परात्परनिवासाय सगुणायागुणाय च ॥१५॥

ज्ञानाज्ञानस्वरूपाय धर्माधर्मस्वरूपिणे ।
विद्याविद्यास्वरूपाय स्वस्वरूपाय ते नमः ॥१६॥

यो दैत्यहन्ता नरकान्तकश्च भुजाग्रमात्रेण दधार गोत्रम् ।
भूभारविच्छेदविनोदकामं नमामि देवं रघुवंशदीपम् ॥१७॥

आविर्भूतश्चतुर्धा यः कपिभिः परिवारितः ।
हतवान् राक्षसानीकं रामं दाशरथिं भजे ॥१८॥

एवमादीन्यनेकानि चरितानि महात्मनः ।
तेषां नामानि संख्यातुं शक्यन्ते नाब्दकोटिभिः ॥१९॥

महिमानं तु यन्नाम्नः पारं गन्तुं न शक्यते ।
मानवोपि मुनीन्द्राश्च कथं तं क्षुल्लको भजे ॥२०॥

यन्नामश्रवणेनापि महापातकिनोऽपि ये ।
पावनत्वं प्रपद्यन्ते कथं तोष्यामि तुच्छधीः ॥२१॥

रामायणपरा ये तु घोरे कलियुगे द्विजाः ।
त एव कृतकृत्याश्च तेषां नित्यं नमो नमः ॥२२॥

ऊर्जे मासे सिते पक्षे चैत्रे माघे तथैव च ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥२३॥

गौतमशापतः प्राप्तः सौदामा राक्षसीं तनुम् !
रामायणप्रभावेण विमुक्तिं प्राप्तवान् पुनः ॥२४॥

॥ श्रीसनत्कुमार उवाच ॥

रामायणं केन प्रोक्तं सर्वधर्मफलप्रदम् ।
शप्तः कथं गौतमेन सौदामो मुनिसत्तमः ।
रामायणप्रभावेन कथं भूयो विमोचितः ॥२५॥

अनुग्राह्योऽस्मि यदि ते चेदस्ति करुणा मयि ।
सर्वमेतदशेषेण मुने नो वक्तुमर्हसि ।
शृण्वतां वदतां चैव कथा पापप्रणाशिनी ॥२६॥

॥ श्रीनारद उवाच ॥

शृणु रामायणं विप्र यद्वाल्मीकिमुखोद्गतम् ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं रायायणकथामृतम् ॥२७॥

आस्ते कृतयुगे विप्रो धर्मकर्मविशारदः ।
सोमदत्त इति ख्यातो नाम्ना धर्मपरायणः ॥२८॥

विप्रस्तु गौतमाख्येन मुनिना ब्रह्मवादिना ।
श्रुतवान्सर्वधर्मान्वै गङ्गातीरे मनोरमे ॥२९॥

पुराणशास्त्रकथनैस्तेनासौ बोधितोऽपि च ।
श्रुतवान् सर्वधर्मान् वै तेनोक्तानखिलानपि ॥३०॥

कदाचित् परमेशस्य परिचर्यापरोऽभवत् ।
उपस्थितायापि तस्मै प्रणामं नह्यकारि च ॥३१॥
स तु शान्तो महाबुद्धिर्गौतमस्तेजसां निधिः ।

मयोदितानि कर्माणि करोतीति मुदं ययौ ॥३२॥
यत्स्वर्चितो महादेवः शिवः सर्वजगद्गुरुः ।

गौतमश्चागतस्तत्र न चोत्तस्थौ ततो द्विजः ।
गुर्वज्ञाकृतं पापं राक्षसत्वेन चोक्तवान् ॥३३॥

भगवन् सर्वधर्मज्ञः सर्वदर्शी सुरेश्वरः ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयानयकोविदम् ।
क्षमस्व भगवन् सर्वमपराधं कृतं मया ॥३४॥

॥ गौतम उवाच ॥

ऊर्जे मासे सिते पक्षे रामायणकथामृतम् ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं भक्तिभावेन सादरम् ।
नात्यन्तिकं भवेदेतद्द्वादशाब्दं भविष्यति ॥३५॥

॥ विप्र उवाच ॥

केन रामायणं प्रोक्तं चरितानि तु कस्य वै ।
एतत्सर्वं महाप्राज्ञ संक्षेपाद्वक्तुमर्हसि ।
मनसा प्रीतिमापन्नो ववन्दे चरणौ गुरोः ॥३६॥

॥ गौतम उवाच ॥

शृणु रामायणं विप्र वाल्मीकिमुनिना कृतम् ।
तच्छ्रुत्वा मुच्यते पापात् स्वं रूपं पुनरेति सः ॥३७॥

येन रामावतारेण राक्षसा रावणादयः ।
हतास्तु देवकार्यार्थं चरितं तस्य त्वं शृणु ॥३८॥
कार्तिके च सिते पक्षे कथा रामायणस्य तु ।
नवम्यहनि श्रोतव्या सर्वपापप्रणाशिनी ॥३९॥

इत्युक्त्वा सर्वसम्पन्नो गौतमः स्वाश्रमं ययौ ।
विप्रोऽपि दुःखमापन्नो राक्षसीं तनुमाश्रितः ॥४०॥

क्षुत्पिपासावशादार्तो नित्यं क्रोधपरायणः ।
कृष्णसर्पद्युतिर्भीमो बभ्राम विजने वने ॥४१॥

मृगांश्च विविधांस्तत्र मनुष्यांश्च सरीसृपान् ।
विहगान् प्लवगांश्चैव प्रशस्तांस्तानभक्षयत् ॥४२॥

अस्थिभिर्बहुभिर्विप्राः पीतरक्तकलेवरैः ।
रक्ताद्रप्रेतकैश्चैव तेनासीद्भूर्भयङ्करी ॥४३॥

ऋतुत्रये स पृथिवीं शतयोजनविस्तराम् ।
कृत्वातिदूषितां पश्चाद्वनान्तरमगात्पुनः ॥४४॥

तत्रापि कृतवान्नित्यं नरमांसाशनं तदा ।
जगाम नर्मदातीरे सर्वलोकभयङ्करः ॥४५॥

एतस्मिन्नन्तरे प्रातः कश्चिद्विप्रोऽतिधार्मिकः ।
कलिङ्गदेशसंभूतो नाम्ना गर्ग इति श्रुतः ॥४६॥

वहन्गङ्गाजलं स्कन्धे स्तुवन् विश्वेश्वरं प्रभुम् ।
गायन्नामानि रामस्य समायातोऽतिहर्षितः ॥४७॥

तमागतं मुनिं दृष्ट्वा सुदामा नाम राक्षसः ।
प्राप्ता नः पारणेत्युक्त्वा भुजावुद्यम्य तं ययौ ॥४८॥

तेन कीर्तितनामानि श्रुत्वा दूरे व्यवस्थितः ।
असक्तस्तं द्विजं हन्तुमिदमूचे स राक्षसः ॥४९॥

॥ राक्षस उवाच ॥

अहो भद्र महाभाग नमस्तुभ्यं महात्मने ।
नामस्मरणमाहात्म्याद्राक्षसा अपि दूरगाः ॥५०॥

मया प्रभक्षिता : पूर्वं विप्राः कोटिसहस्रशः ।
नामप्रग्रहणं विप्र रक्षति त्वां महाभयात् ॥५१॥

नामस्मरणमात्रेण राक्षसा अपि भो वयम् ।
परां शान्तिं समापन्ना महिमा चाच्युतस्य कः ॥५२॥

सर्वथा त्वं महाभाग रागादिरहितो द्विजः ।
रामकथाप्रभावेन पाह्यस्मात्पातकाधमात् ॥५३॥

गुर्ववज्ञा मया पूर्वं कृत्वा च मुनिसत्तम ।
कृतश्चानुग्रहः पश्चाद्गुरुणा प्रोक्तवानिदम् ॥५४॥

वाल्मीकिमुनिना पूर्वं कथा रामायणस्य च ।
ऊर्जे मासे सिते पक्षे श्रोतव्या च प्रयत्नतः ॥५५॥

गुरुणापि पुनः प्रोक्तं रम्यं तु शुभदं वचः ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥५६॥

तस्माद् ब्रह्मन् महाभाग सर्वशास्त्रार्थकोविद ।
कथाश्रवणमात्रेण पाह्यस्मात्पापकर्मणः ॥५७॥

॥ श्रीनारद उवाच ॥

इत्याख्यातं राक्षसेन राममाहात्म्यमुत्तमम् ।
निशम्य विस्मयाविष्टो बभूव द्विजसत्तमः ॥५८॥

ततो विप्रः कृपाविष्टो रामनामपरायणः ।
सुदामाराक्षसं नाम्ना इदं वाक्यमथाब्रवीत् ॥५९॥

॥ विप्र उवाच ॥

राक्षसेन्द्र महाभाग मतिस्ते विमलागता ।
अस्मिन्नूर्जे सिते पक्षे रामायणकथां शृणु ॥६०॥

शृणु त्वं राममाहात्म्यं रामभक्तिपरात्मना ।
रामध्यानपराणां च कः समर्थः प्रबाधितुम् ॥६१॥

रामभक्तिपरा यत्र ब्रह्मा विष्णुः सदाशिवः ।
अत्र देवाश्च सिद्धाश्च रामायणपरा नराः ॥६२॥

तस्मादूर्जे सिते पक्षे रामायणकथां शृणु ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं सावधानः सदा भव ॥६३॥

कथाश्रवणमात्रेण राक्षसत्वमपाकृतम् ।
विसृज्य राक्षसं भावमभवद्देवतोपमः ॥६४॥

कोटिसूर्यप्रतीकाशमापन्नो विबुधर्षभः ।

शङ्खचक्रगदापाणी रामभद्रः समागतः ।
स्तुवंस्तु ब्राह्मणं सम्यग्जगाम हरिमन्दिरम् ॥६५॥

॥ श्रीनारद उवाच ॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ।
नवम्यहनि श्रोतव्यमूर्जे मासि च कीर्त्यते ॥६६॥

यन्नामस्मरणादेव महापातककोटिभिः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो नरो याति परां गतिम् ॥६७॥

रामायणेति यन्नाम सकृदप्युच्यते यदा ।
तदैव पापनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥६८॥

ये पठन्तीदमाख्यानं भक्त्या शृण्वन्ति वा नराः ।
गङ्गास्नानफलं पुण्यं तेषां सञ्जायते ध्रुवम् ॥६९॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे श्रीनारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये राक्षसविमोचनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ श्रीसनत्कुमार उवाच ॥

अहो चित्रमिदं प्रोक्तं मुनिमानद नारद ।
रामायणस्य माहात्म्यं पुनस्त्वं वद विस्तरात् ॥१॥

अन्यमासस्य माहात्म्यं कथयस्व प्रसादतः ।
कथं नो जायते तुष्टिर्मुने त्वद्वचनामृतात् ॥२॥

॥ श्रीनारद उवाच ॥

सर्वे यूयं महाभागाः कृतार्था नात्र संशयः ।
यतः प्रभावं रामस्य भक्तितः श्रोतुमुद्यताः ॥३॥

माहात्म्यश्रवणं यस्य राघवस्य कृतात्मनाम् ।
दुर्लभं प्राहुरित्येतन् मुनयो ब्रह्मवादिनः ॥४॥

शृणुध्वमृषयश्चित्रमितिहासं पुरातनम् ।
सर्वपापप्रशमनं सर्वरोगविनाशनम् ॥५॥

आसीत्पुरा द्वापरे च सुमतिर्नाम भूपितः ।
सोमवंशोद्भवः श्रीमान्सप्तद्वीपैकनायकः ॥६॥

धर्मात्मा सत्यसंपन्नः सर्वसंपद्विभूषितः ।
सदा रामकथासेवी रामपूजापरायणः ॥७॥

रामपूजापराणां च शुश्रूषुर्निरहंकृतिः ।
पूज्येषु पूजानिरतः समदर्शी गुणान्वितः ॥८॥

सर्वभूतहितः शान्तः कृतज्ञः कीर्तिमान्नृपः
तस्य भार्या महाभागा सर्वलक्षणसंयुता ॥९॥

पतिव्रता पतिप्राणा नाम्ना सत्यवती शुभा ।
तावुभौ दंपती नित्यं रामायणपरायणौ ॥१०॥

अन्नदानरतौ नित्यं जलदानपरायणौ ।
तडागारामवाप्यादीनसंख्यातान् वितेनतुः ॥११॥

सोऽपि राजा महाभागो रामायणपरायणः ।
वाचयेच्छृणुयाद्वापि भक्तिभावेन भावितः ॥१२॥

एवं रामपरं नित्यं राजानं धर्मकोविदम् ।
तस्य प्रियां सत्यवतीं देवा अपि सदास्तुवन् ॥१३॥

त्रिलोके विश्रुतौ तौ च दम्पत्यत्यन्तधार्मिकौ ।
आययौ बहुभिः शिष्यैर्द्रष्टुकामो विभाण्डकः ॥१४॥

विभाण्डकं मुनिं दृष्ट्वा समाम्नातो जनेश्वरः ।
प्रत्युद्ययौ सपत्नीकः पूजाभिर्बहुविस्तरम् ॥१५॥

कृतातिथ्यक्रियं शान्तं कृतासनपरिग्रहम् ।
नीचासनगतो भूपः प्राञ्जलिर्मुनिमब्रवीत् ॥१६॥

॥ राजोवाच ॥

भगवन् कृतकृत्योस्मि तवात्रागमनेन भोः ।
सतामागमनं सन्तः प्रशंसन्ति सुखावहम् ॥१७॥

यत्र स्यान् महतां प्रेम तत्र स्युः सर्वसम्पदः ।
तेजः कीर्तिर्धनं पुत्रा इति प्राहुर्विपश्चितः ॥१८॥

तत्र वृद्धिं गमिष्यन्ति श्रेयांस्यनुदिनं मुने ।
तथा सन्तः प्रकुर्वन्ति महतीं करुणां प्रभो ॥१९॥

यो मूर्ध्नि धारयेद्ब्रह्मन् विप्रपादतलोदकम् ।
स स्नातः सर्वतीर्थेषु पुण्यवान्नात्र संशयः ॥२०॥

मम पुत्राश्च दाराश्च संपत्त्वयि समर्पिता ।
समाज्ञापय शान्तात्मन् ब्रह्मन् किं करवाणि ते ॥२१॥

विनयावनतं भूपं तं निरीक्ष्य मुनीश्वरः ।
स्पृशन् करेण राजानं प्रत्युवाचातिहर्षितः ॥२२॥

॥ ऋषिरुवाच ॥

राजन् यदुक्तं भवता तत्सर्वं त्वत्कुलोचितम् ।
विनयावनताः सर्वे परं श्रेयो भजन्ति हि ॥२३॥

प्रीतोस्मि तव भूपाल सन्मार्गे परिवर्तिनः ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाभाग यत्प्रक्ष्यामि तदुच्यताम् ॥२४॥

पुराणा बहवः सन्ति हरिसन्तुष्टिकारकाः।
माघे मास्यप्युद्यतोसि रामायणपरायणः ॥२५॥

तव भार्यापि साध्वीयं नित्यं रामपरायणा ।
किमर्थमेतद्वृत्तान्तं यथावद्वक्तुमर्हसि ॥२६॥

॥ राजोवाच ॥

शृणुष्व भगवन् सर्वं यत्पृच्छसि वदामि तत् ।
आश्चर्यभूतं लोकानामावयोश्चरितं मुने ॥२७॥

अहमासं पुरा शूद्रो मालिनिर्नाम सत्तम ।
कुमार्गनिरतो नित्यं सर्वलोकाहिते रतः ॥२८॥

पिशुनो धर्मविद्वेषी देवद्रव्यापहारकः ।
महापातकिसंसर्गी देवद्रव्योपजीविकः ॥२९॥

गोघ्नश्च ब्रह्महा चौरो नित्यं प्राणिवधे रतः ।
नित्यं निष्ठुरवक्ता च पापी वेश्यापरायणः ॥३०॥

किञ्चित् काले स्थितो ह्येवमनादृत्य महद्वचः ।
सर्वबन्धुपरित्यक्तो दुःखी वनमुपागमम् ॥३१॥

मृगमांसाशनो नित्यं तथा मार्गनिरोधकृत् ।
एकाकी दुःखबहुलो ह्यवसं निर्जने वने ॥३२॥

एकदा क्षुत्परिश्रान्तो निद्राघूर्णः पिपासितः ।
वसिष्ठस्याश्रमं दैवादपश्यं विजने वने ॥३३॥

हंसकारण्डवाकीर्णं तत्समीपे महत्सरः ।
पर्यन्ते वनपुष्पौघैश्छादितं तत् मुनीश्वरः ॥३४॥

अपिबं तत्र पानीयं तत्तटे विगतश्रमः ।
उन्मूल्य वृक्षमूलानि मया क्षुच्च निवारिता ॥३५॥

वसिष्ठस्याश्रमे तत्र निवासं कृतवानहम् ।
शीर्णस्फटिकसंधानं तत्र चाहमकारिषम् ।
पर्णैस्तृणैश्च काष्ठैश्च गृहं सम्यक्प्रकल्पितम् ॥३६॥

तत्राहं व्याधसत्वस्थो हत्वा बहुविधान् मृगान् ।
आजीवं वर्तनं कृत्वावताराणां च विंशतिम् ॥३७॥

अथेयमागता साध्वी विन्ध्यदेशसमुद्भवा ।
निषादकुलसम्भूता नाम्ना कालीति विश्रुता ॥३८॥

बन्धुवर्गैः परित्यक्ता दुःखिता जीर्णविग्रहा ।
ब्रह्मन् क्षुत्तृट्परिश्रान्ता शोचन्ती सुक्रियां क्रियाम् ॥३९॥

दैवयोगात्समायाता भ्रमन्ती विजने वने ।
मासि ग्रीष्मे च तापार्ता ह्यन्तस्तापप्रपीडिता ॥४०॥

इमां दुःखवतीं दृष्ट्वा जाता मे विपुला घृणा ।
मया दत्तं जलं चास्यै मांसं वन्यफलं तथा ॥४१॥

गतश्रमा च तुष्टा सा मया ब्रह्मन्यथातथम् ।
न्यवेदयत्स्वकर्माणि तानि शृणु महामुने ॥४२॥

इयं काली तु नाम्नैव निषादकुलसम्भवा ।
दाविकस्य सुता विद्वन् न्यवसद्विन्ध्यपर्वते ॥४३॥

परस्वहारिणी नित्यं सदा पैशुन्यवादिनी ।
बन्धुवर्गैः परित्यक्ता यतो हतवती पतिम् ॥४४॥

कान्तारे विजने ब्रह्मन् मत्समीपमुपागता ।
इत्येवं स्वकृतं कर्म सा च मह्यं न्यवेदयत् ॥४५॥

वसिष्ठस्याश्रमे पुण्ये अहं चेयं च वै मुने ।
दम्पतीभावमाश्रित्य स्थितौ मांसाशनौ सदा ॥४६॥

उच्छिष्टार्थं गतौ चैव वसिष्ठस्याश्रमे तदा ।
दृष्ट्वा तत्र समाजं वै देवर्षीणां च सत्रकम् ।
रामायणपरा विप्रा माघे दृष्टा दिने दिने ॥४७॥

निराहारौ च विश्रान्तौ क्षुत्पिपासाप्रपीडितौ ।
यदृच्छया गतौ तत्र वसिष्ठस्याश्रमं प्रति ॥४८॥

रामायणकथां श्रोतुं नवाह्ना चैव भक्तितः ।
तत्काल एव पञ्चत्वमावयोरभवन् मुने ॥४९॥

कर्मणा तेन हृष्टात्मा भगवान् मधुसूदनः ।
स्वदूतान् प्रेषयामास मदाहरणकारणात् ॥५०॥

आरोप्यावां विमाने तु ययुश्च परमं पदम् ।
आवां समीपमापन्नौ देवदेवस्य चक्रिणः ॥५१॥

भुक्तवन्तौ महाभोगान् यावत्कालं शृणुत्व मे ।
युगकोटिसहस्राणि युगकोटिशतानि च ॥५२॥

उषित्वा रामभवने ब्रह्मलोकमुपागतौ ।
तावत्कालं च तत्रापि स्थित्वेशपदमागतौ ॥५३॥

तत्रापि तावत्कालं च भुक्त्वा भोगाननुत्तमान् ।
ततः पृथ्वीशतां प्राप्तौ क्रमेण मुनिसत्तम ॥५४॥

अत्रापि सम्पदतुला रामायणप्रसादतः ।
अनिच्छया कृतेनापि प्राप्तमेवंविधं मुने ॥५५॥

नवाह्ना किल श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।
भक्तिभावेन धर्मात्मञ्जन्ममृत्युजरापहम् ॥५६॥

अवशेनापि यत्कर्म कृतं तु सुमहाफलम् ।
ददाति नृणां विप्रेन्द्र रामायणप्रसादतः ॥५७॥

॥ श्रीनारद उवाच ॥

एतत्सर्वं निशम्यासौ विभाण्डकमुनीश्वरः ।
अभिवन्द्य महीपालं प्रययौ स्वं तपोवनम् ॥५८॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा देवदेवस्य चक्रिणः ।
रामायणकथा चैषा कामधेनूपमा स्मृता ॥५९॥

माघे मासे सिते पक्षे रामाख्यानं प्रयत्नतः ।
नवाह्ना किल श्रोतव्यं सर्वधर्मफलप्रदम् ॥६०॥

य इदं पुण्यमाख्यानं सर्वपापप्रणाशनम् ।
वाचयेच्छृणुयाद्वापि रामे भक्तः स जायते ॥६१॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे
रामायणमाहात्म्ये तृतीयोऽध्यायः ।

॥ श्रीनारद उवाच ॥

अन्यमासे प्रवक्ष्यामि शृणुध्वं सुसमाहिताः ।
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिवारणम् ॥१॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां चैव योषिताम् ।
समस्त कामफलदं सर्वव्रतफलप्रदम् ॥२॥

दुःस्वप्ननाशनं धन्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
रामायणस्य माहात्म्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥३॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पठतां शृण्वतां चैव सर्वपापप्रणाशनम् ॥४॥

विन्ध्याटव्यामभूदेकः कलिको नाम लुब्धकः ।
परदारपरद्रव्याहरणे सततं रतः ॥५॥

परनिन्दापरो नित्यं जन्तुपीडाकरस्तथा ।
हतवान् ब्राह्मणान् गाश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥
देवस्वहरणे नित्यं परस्वहरणे तथा ॥६॥

तेन पापान्यनेकानि कृतानि सुमहान्ति च ।
न तेषां शक्यते वक्तुं संख्या वत्सरकोटिभिः ॥७॥

स कदाचिन् महापापो जन्तूनामन्तकोपमः ।
सौवीरनगरं प्राप्तः सर्वैश्वर्यसमन्वितम् ॥८॥

योषिद्भिर्भूषिताभिश्च सरोभिर्विमलोदकैः ।
अलंकृतं विपणिभिर्ययौ देवपुरोपमम् ॥९॥

तस्योपवनमध्यस्थं रम्यं केशवमन्दिरम् ।
छादितं हेमकलशैर्दृष्ट्वा व्याधो मुदं ययौ ॥१०॥

हीरमुक्तासुवर्णानि बहूनीति विनिश्चितः ।
जगाम रामभवनं वित्ताशश्चौर्यलोलुपः ॥११॥

तत्रापश्यद्द्विजवरं शान्तं तत्त्वार्थकोविदम् ।
परिचर्यापरं विष्णोरुत्तङ्कं तपसां निधिम् ॥१२॥

एकाकिनं दयालुं च निःस्पृहं ध्यानलोलुपम् ।
दृष्ट्वासौ लुब्धको मेने तं चौर्यस्यान्तरायिणम् ॥१३॥

देवस्य द्रव्यजातं तु समादातुमना निशि ।
उत्तङ्कं हन्तुमारेभे विधृतासिर्मदोद्धतः ॥१४॥

पादेनाक्रम्य तद्वक्षो जटाः संगृह्य पाणिना ।
हन्तुं कृतमतिं व्याधमुत्तङ्कः प्रेक्ष्य चाब्रवीत् ॥१५॥

॥ उत्तङ्क उवाच ॥

भो भोः साधो वृथा मां त्वं हनिष्यसि निरागसम् ।
मया किमपराद्धं ते तद्वद त्वं च लुब्धक ॥१६॥

कृतापराधिनो लोके हिंसां कुर्वन्ति यत्नतः ।
न हिंसन्ति वृथा सौम्य सज्जना अप्यपापिनम् ॥१७॥

विरोधिष्वपि मूर्खेषु निरीक्ष्यावस्थितान् गुणान् ।
विरोधं नाधिगच्छन्ति सज्जनाः शान्तचेतसः ॥१८॥

बहुधा वाच्यमानोऽपि यो नरः क्षमयान्वितः ।
[1]तमुत्तमं नरं प्राहुर्विष्णोः प्रियतरं तथा ॥१९॥

[2]अहो विधिर्वै बलवान् बाधते बहुधा जनान् ।
तत्रापि साधून् बाधन्ते लोके वै दुर्जना जनाः ॥२०॥

अहो बलवती माया मोहयत्यखिलं जगत् ।
पुत्रमित्रकलत्राद्यैः सर्वदुःखेन योज्यते ॥२१॥

परद्रव्यापहारेण कलत्रं पोषितं च तत् ।
अन्ते तत्सर्वमुत्सृज्य एक एव प्रयाति वै ॥२२॥

मम माता मम पिता मम भार्या ममात्मजाः ।
ममेदमिति जन्तूनां ममता बाधते वृथा ॥२३॥

यावदर्जयति द्रव्यं तावदेव हि बान्धवाः ।
धर्माधर्मौ सहैवास्तामिहामुत्र च नापरः ॥२४॥

---

१ सुजनो न याति वैरं परहितनिरतो विनाशकालेपि ।
छेदेपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥

२ मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ॥

अर्जितं तु धनं सर्वं भुञ्जते बान्धवाः सदा ।
सर्वेष्वेकतमो मूढस्तत्पापफलमश्नुते ॥२५॥

इति ब्रुवाणं तमृषिं विमृश्य भयविह्वलः ।
कलिकः प्राञ्जलिः प्राह क्षमस्वेति पुनः पुनः ॥२६॥

तत्सङ्गस्य प्रभावेन हरिसन्निधिमात्रतः ।
गतपापो लुब्धकश्च सानुतापोऽभवद् ध्रुवम् ॥२७॥

मया कृतानि कर्माणि महान्ति सुबहूनि च ।
तानि सर्वाणि नष्टानि विप्रेन्द्र तव दर्शनात् ॥२८॥

अहं वै पापकृन्नित्यं महापापं समाचरम् ।
कथं मे निष्कृतिर्भूयात्कं यामि शरणं विभो ॥२९॥

पूर्वजन्मार्जितैः पापैर्लुब्धकत्वमवाप्नवम् ।
अत्रापि पापजालानि कृत्वा कां गतिमाप्नुयाम् ॥३०॥

इति वाक्यं समाकर्ण्य कलिकस्य महात्मनः ।
उत्तङ्को नाम विप्रर्षिर्वाक्यं चेदमथाब्रवीत् ॥३१॥

॥ उत्तङ्क उवाच ॥

साधु साधु महाप्राज्ञ मतिस्ते विमलोज्ज्वला ।
यस्मात्संसारदुःखानां नाशोपायमभीप्सति ॥३२॥

चैत्रे मासे सिते पक्षे कथा रामायणस्य च ।
नवाह्ना किल श्रोतव्या भक्तिभावेन सादरम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३३॥

तस्मिन् क्षणे कलिकोसौ लुब्धको वीतकल्मषः ।
रामायणकथां श्रुत्वा सद्यः पञ्चत्वमागतः ॥३४॥

उत्तङ्कः प ततं वीक्ष्य लुब्धकं तं दयापरः ।
एतद् दृष्ट्वा विस्मितश्च अस्तौषीत्कमलापतिम् ॥३५॥

कथां रामायणस्यापि श्रुत्वासौ वीतकल्मषः ।
दिव्यं विमानमारुह्य मुनिमेतदथाब्रवीत् ॥३६॥

॥ कलिक उवाच ॥

उत्तङ्क मुनिशार्दूल गुरुस्त्वं मम सुव्रत ।
विमुक्तस्त्वत्प्रसादेन महापातकसङ्कटात् ॥३७॥

ज्ञानं त्वदुपदेशान्मे सञ्जातं मुनिसत्तम ।
तेन मे पापजालानि विनष्टान्यतिवेगतः ॥३८॥

रामायणकथां श्रुत्वा मम त्वं मुक्तवान्मुने ।
प्रापितोऽस्मि त्वया यस्मात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥३९॥

त्वयाहं कृतकृत्योऽस्मि गुरुणा करुणात्मना ।
तस्मान्नतोऽस्मि ते विद्वन् यत्कृतं तत्क्षमस्व मे ॥४०॥

इत्युक्त्वा देवकुसुमैर्मुनिश्रेष्ठमवाकिरत् ।
प्रदक्षिणात्रयं कृत्वा नमस्कारं चकार सः ॥४१॥

ततो विमानमारुह्य सर्वकामसमन्वितम् ।
अप्सरोगणसङ्कीर्णं प्रपेदे हरिमन्दिरम् ॥४२॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्राः कथां रामायणस्य च ।
चैत्रे मासे सिते पक्षे श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥४३॥

नवाह्ना किल रामस्य रामायणकथामृतम् ॥४४॥

तस्मादृतुषु सर्वेषु हितकृद्धरिपूजकः ।
ईप्सितं मनसा यद्यत्तत्तदाप्नोत्यसंशयम् ॥४५॥

सनत्कुमार यत्पृष्टं तत्सर्वं गदितं मया ।
रामायणस्य माहात्म्यं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥४६॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे
रामायणमाहात्म्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ सूत उवाच ॥

रामायणस्य माहात्म्यं श्रुत्वा प्रीतो मुनीश्वरः ।
सनत्कुमारः पप्रच्छ नारदं मुनिसत्तमम् ॥१॥

॥ सनत्कुमार उवाच ॥

रामायणस्य माहात्म्यं कथितं वो मुनीश्वराः ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि विधिं रामायणस्य च ॥२॥

एतदपि महाभाग मुने तत्वार्थकोविद ।
कृपया परयाविष्टो यथावद्वक्तुमर्हसि ॥३॥

॥ नारद उवाच ॥

रामायणविधिं चैव शृणुध्वं सुसमाहिताः ।
सर्वलोकेषु विख्यातिं स्वर्गमोक्षविवर्धनम् ॥४॥

विधानं तस्य वक्ष्यामि शृणुध्वं गदितं मया ।
रामायणकथां कुर्वे भक्तिभावेन भावितः ॥५॥

येन जीर्णेन पापानां कोटिकोटिः प्रणश्यति ।
चैत्रे माघे कार्तिके च पञ्चम्यामपि चारभेत् ॥६॥

संकल्पं तु ततः कुर्यात्स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ।
नवस्वहःसु श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥७॥

अद्यप्रभृत्यहं राम शृणोमि त्वत्कथामृतम् ।
प्रत्यहं पूर्णतामेतु तव राम प्रसादतः ॥८॥

प्रत्यहं दन्तसंशुद्धिं ह्यपामार्गस्य शाखया ।
कृत्वा स्नायीत विधिवद्रामभक्तिपरायणः ।
स्वयं च बन्धुभिः सार्धं शृणुयात्प्रयतेन्द्रियः ॥९॥

स्नानं कृत्वा यथाचारं दन्तधावनपूर्वकम् ।
शुक्लाम्बरधरः शुद्धो गृहमागत्य वाग्यतः ॥१०॥

प्रक्षाल्य पादावाचम्य स्मरन्नारायणं प्रभुम् ।
नित्यदेवार्चनं कृत्वा पश्चात्सङ्कल्पपूर्वकम् ॥११॥

रामायणपुस्तकं च अर्चयेद्भक्तिभावतः ।
आवाहनासनाद्यैश्च गन्धपुष्पादिभिर्व्रती ॥१२॥

नमो नारायणायेति पूजयेद्भक्तितत्परः ।
एकवारं द्विवारं च त्रिवारं वापि शक्तितः ।
होमं कुर्यात्प्रयत्नेन सर्वपापनिवृत्तये ॥१३॥

एवं यः प्रयतः कुर्याद्रामायणविधिं तथा ।
स याति विष्णुभवनं पुनरावृत्तिवर्जितम् ॥१४॥

रामायणव्रतधरो धर्मकारी च सत्तमः ।
चाण्डालान् पतितांश्चैव वाङ्मात्रेणापि नालपेत् ॥१५॥

नास्तिकान् भिन्नमर्यादान्निन्दकान् पिशुनांस्तथा ।
रामायणव्रतधरो वाङ्मात्रेणापि नालपेत् ॥१६॥

कुण्डाशिनं तापकं च तथा देवलकाशिनम् ।
भिषजं काव्यकर्तारं देवद्विजविरोधिनम् ॥१७॥

परान्नलोलुपं चैव परस्त्रीनिरतं तथा ।
रामायणव्रतधरो वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥१८॥

इत्येवमादिभिः शुद्धो वसन् सर्वहिते रतः ।
रामायणपरो भूत्वा परां सिद्धिं गमिष्यति ॥१९॥

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं नास्ति मातृसमो गुरुः ।
नास्ति विष्णुसमो देवो नास्ति रामायणात्परम् ॥२०॥

नास्ति देवसमं शास्त्रं नास्ति शान्तिसमं सुखम् ।
नास्ति सूर्यसमं ज्योतिर्नास्ति रामायणात्परम् ॥२१॥

नास्ति क्षमासमं सारं नास्ति कीर्तिसमं धनम् ।
नास्ति ज्ञानसमो लाभो नास्ति रामायणात्परम् ॥२२॥

तदन्ते वेदविदुषे दद्याच्च सह दक्षिणाम् ।
रामायणपुस्तकं च वस्त्राण्याभरणानि च ॥२३॥

रामायणपुस्तकं यो वाचकाय प्रदापयेत् ।
स याति विष्णुभवनं यत्र गत्वा न शोचते ॥२४॥

नवाहानि फलं कर्तुं शृणु धर्मविदांवर ॥२५॥

पञ्चम्यहनि चारभ्य रामायणकथामृतम् ।
कथाश्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२६॥

यदि द्वयं कृतं तस्य पुण्डरीकफलं लभेत् ।
व्रतधारी तु सततं यः कुर्यात्स जितेन्द्रियः ॥२७॥

अश्वमेधस्य यज्ञस्य द्विगुणं फलमश्नुते ।
चतुःकृत्वा कृतं येन पराकं मुनिसत्तमाः ।
स लभेत्परमं पुण्यमग्निष्टोमाष्टसंभवम् ॥२८॥

पञ्चकृत्वो व्रतमिदं कृतं येन महात्मना ।
अत्यग्निष्टोमजं पुण्यं द्विगुणं प्राप्नुयान्नरः ॥२९॥

एवं व्रतं च षट्कृत्वा कुर्याद्यस्तु समाहितः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलमष्टगुणं भवेत् ॥३०॥

व्रतधारी तु धर्मात्मा सप्तकृत्वस्तथा लभेत् ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलमष्टगुणं भवेत् ॥३१॥

नारी वा पुरुषः कुर्यादष्टकृत्वो मुनीश्वराः ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं पञ्चगुणं लभेत् ॥३२॥

नरो रामपरो वापि नवरात्रं समाचरेत् ।
गोमेधयज्ञजं पुण्यं स लभेत्त्रिगुणं नरः ॥३३॥

रामायणं तु यः कुर्याच्छान्तात्मा नियतेन्द्रियः ।
स याति परमानन्दं यत्र गत्वा न शोचति ॥३४॥

रामायणपरा नित्यं गङ्गास्नानपरायणाः ।
धर्ममार्गप्रवक्तारो मुक्ता एव न संशयः ॥३५॥

यतीनां ब्रह्मचारीणामचीरीणां च सत्तमाः ।
नवम्यहनि श्रोतव्या कथा रामायणस्य च ॥३६॥

श्रुत्वा नरो रामकथामतिदीप्तोऽतिभक्तितः ।
ब्रह्मणः पदमासाद्य तत्रैव परिमुच्यते ॥३७॥

श्राव्याणां परमं श्राव्यं पवित्राणामनुत्तमम् ।
दुःस्वप्ननाशनं धन्यं श्रोतव्यं यत्नतस्ततः ॥३८॥

नरोऽत्र श्रद्धया युक्तः श्लोकं श्लोकार्धमेव वा ।
पठते मुच्यते सद्यो ह्युपपातककोटिभिः ॥३९॥

सतामेव प्रयोक्तव्यं गुह्याद् गुह्यतमं यतः ।
वाचयेद्रामभावेन पुण्यक्षेत्रे च संसदि ॥४०॥

ब्रह्मद्वेषरतानां च दम्भाचाररतात्मनाम् ।
लोकानां बकवृत्तीनां न ब्रूयादिदमुत्तमम् ॥४१॥

त्यक्तकामादिदोषाणां रामभक्तिरतात्मनाम् ।
गुरुभक्तिरतानां च वक्तव्यं मोक्षसाधनम् ॥४२॥

सर्वदेवमयो रामः स्मृतश्चार्तिप्रणाशनः ।
सद्भक्तवत्सलो देवो भक्त्या तुष्यति नान्यथा ॥४३॥

अवशेनापि यन्नाम्ना कीर्तितो वा स्मृतोऽपि वा ।
विमुक्तपातकः सोऽपि परमं पदमश्नुते ॥४४॥

संसारघोरकान्तारदावाग्निर्मधुसूदनः ।
स्मर्तृणां सर्वपापानि नाशयत्याशु सत्तमः ॥४५॥

तदर्पकमिदं पुण्यं काव्यं तु श्राव्यमुत्तमम् ।
श्रवणात्पठनाद्वापि सर्वपापविनाशकृत् ॥४६॥

यस्यात्र सुरसे प्रीतिर्वर्तते भक्तिसंयुता ।
स एव कृतकृत्यश्च सर्वशास्त्रार्थकोविदः ॥४७॥

तदर्जितं तु तत्पुण्यं तत्सत्यं सफलं द्विजाः ।
यदर्थे श्रवणे प्रीतिरन्यथा नहि वर्तते ॥४८॥

रामायणपरा ये तु रामनामपरायणाः ।
त एव कृतकृत्याश्च घोरे कलियुगे द्विजाः ॥४९॥

नवम्यहनि शृण्वन्ति रामायणकथामृतम् ।
ते कृतार्था महात्मानस्तेषां नित्यं नमो नमः ॥५०॥

रामनामैव नामैव नामैव मम जीवनम् ।
संसारविषयान्धानां नराणां पापकर्मणाम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥५१॥

॥ सूत उवाच ॥

एवं सनत्कुमारस्तु नारदेन महात्मना ।
सम्यक्प्रबोधितः सद्यः परां निर्वृतिमाप ह ॥५२॥

तस्माच्छ्रुत्वा तु विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ।
प्रयाति परमं स्थानं पुनरावृत्तिवर्जितम् ॥५३॥

घोरे कलियुगे प्राप्ते रामायणपरायणाः ।
समस्तपापनिर्मुक्ता यास्यन्ति परमं पदम् ॥५४॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं सर्वपापप्रमोचकम् ॥५५॥

श्रुत्वा चैतन् महाकाव्यं वाचकं यस्तु पूजयेत् ।
तस्य विष्णुः प्रसन्नः स्याच्छ्रिया सह द्विजोत्तमाः ॥५६॥

वाचके प्रीतिमापन्ने ब्रह्मविष्णुमश्वराहेः
प्रीता भवन्ति विप्रेन्द्रा नात्र कार्या विचारणा ॥५७॥

रामायणवाचकस्य गावो वासांसि काञ्चनम् ।
रामायणपुस्तकं च दद्याद्वित्तानुसारतः ॥५८॥

तस्य पुण्यफलं वक्ष्ये शृणुध्वं सुसमाहिताः॥५९॥

न बाधन्ते ग्रहास्तस्य भूतवेतालकादयः ।
तस्यैव सर्वश्रेयांसि वर्धन्ते चरिते श्रुते ॥६०॥

न चाग्निर्बाधते तस्य चौरादिर्न भयं तथा ।
कोटिजन्मार्जितैः पापैः सद्य एव विमुच्यते ।
सप्तवंशसमेतस्तु देहान्ते मोक्षमाप्नुयाम् ॥६१॥

इत्येतद्वः समाख्यातं नारदेन प्रभाषितम् ।
सनत्कुमारमुनये पृच्छते भक्तितः पुरा ॥६२॥

रामायणमादिकाव्यं सर्ववेदार्थसंमतम् ।
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिबर्हणम् ।
समस्तपुण्यफलदं सर्वयज्ञफलप्रदम् ॥६३॥

ये पठन्त्यत्र विबुधाः श्लोकं श्लोकार्धमेव वा ।
न तेषां पापबन्धस्तु कदाचिदपि जायते ॥६४॥

रामार्पितमिदं पुण्यं काव्यं तु सर्वकामदम् ।
भक्त्या शृण्वन्ति गायन्ति तेषां पुण्यफलं शृणु ॥६५॥

शतजन्मार्जितैः पापैः सद्य एव विमोचिताः ।
सहस्रकुलसंयुक्ताः प्रयान्ति परमं पदम् ॥६६॥

किं तीर्थगोप्रदानैर्वा किं तपोभिः किमध्वरैः ।
अहन्यहनि रामस्य कीर्तनं परिशृण्वताम् ॥६७॥
चैत्रे माघे कार्तिके च रामायणकथामृतम् ।
नवम्यहनि श्रोतव्यं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥६८॥
रामप्रसादजननं रामभक्तिविवर्धनम् ।
सर्वपापक्षयकरं सर्वसंपद्विवर्धनम् ॥६९॥
यस्त्वेतच्छृणुयाद्वापि पठेद्वा सुसमाहितः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥७०॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्रामायणमाहात्म्ये
नारदसनत्कुमारसंवादे पंचमोऽध्यायः ॥५॥

॥इदं स्कंदोत्तरखंडस्थश्रीमद्वाल्मीकिरामायणमाहात्म्यं समाप्तम् ॥

अन्तिम निवेदन

वाचकवृन्द !

कहाँ तो हमारी अल्पबुद्धि एवं हमारा पल्लवग्राही विद्याज्ञान और कहाँ श्रीमद्रामायण जैसा गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण काव्य ! तिस पर भी श्रीमद्रामायण के भाषानुवाद का हमारा साहस ! यह केवल हमारी धृष्टता है और पण्डितों के निकट हमारा यह साहस हास्यास्पद है। किन्तु श्रीरामचन्द्र भगवान् के मनोमुग्धकारी चरित्र का रसास्वादन करने के लोभ को संवरण करना भी हमारे लिए सम्भव नहीं है। अतः भगवान् की निर्हेतुकी कृपा पर अवलम्बित हो, इस कार्य में हमने हाथ डाला है। जो कुछ बना सो अब श्रीरामचरितप्रेमियों के सामने है। इस कार्य को पूरा करने में हमें पूरा एक वर्ष लगा है। फिर छपाई के कार्य में डेढ़ वर्ष से अधिक व्यतीत हुआ है। यह हमारा और नेशनल प्रेस का प्रथम प्रयास है। अतः इसमें हर प्रकार की त्रुटियों का

रह जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इन अनिवार्य त्रुटियों के लिए हम क्षमा याचना करते हुए, श्रीमद्रामायणप्रेमियों से यह विनम्र निवेदन भी करते हैं कि, वे हमें उन त्रुटियों की यथा समय सूचना देने का कष्ट उठाये जो उन्हें इस ग्रंथ में देख पड़ें ; जिससे अगले संस्करण में वे त्रुटियाँ न रहने पावें।

अनुवाद के विषय में संक्षेप-रीत्या हमें यह कहना है कि इसमें यथासम्भव मूल श्लोकों का भाव भाषा में लाने का प्रयत्न किआ गया है। इस प्रयत्न में हमें जगह जगह ऊपर से भी शब्दयोजना करनी पड़ी हैं। मैंने शब्दयोजना कोष्टक के भीतर कर दी।

यद्यपि इस ग्रंथ में चित्र लगाए गए हैं, तथापि ये चित्र सिवाय रंग की चटक भड़क के, चित्रकला की दृष्टि से कुछ भी महत्व नहीं रखते। इसका मुख्य कारण वर्तमान समय में ऐसे चितेरों का प्रायः अभाव है, जो चित्रकला के ज्ञाता हों और अपने चित्रणों में ऐतिहासिक भावों की रक्षा कर सकें। इस समय हिन्दी की पुस्तकों में चित्र तो अवश्य ही दिए जाते हैं; किन्तु ये चित्रकला के विज्ञान से सर्वथा शून्य हैं। अतः इस त्रुटि की अवगति होने पर भी, इसको दूर करने में प्रकाशक महोदय सर्वथा असमर्थ रहे हैं और जब तक चित्रकला उन्नत-दशा को न पहुँचे; तब तक इस त्रुटि का दूर करना भी सामर्थ्य के बाहिर की बात है।

श्रीमद्रामायण की भूमिका की टिप्पणियाँ टीप ली गई हैं। हमारा विचार श्रीमद्रामायण की विशद एक भूमिका एक स्वतन्त्र खण्ड में निकालने का है। किन्तु इस विचार का कार्यरूप में परिणत होना भगवदधीन है।

भौमवार
दीपमालिका
वि० सं० १९८४

निवेदक
अनुवादक—